CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन गृहस्थ के सोलह संस्कारों का तुलनात्मक अध्ययन

सम्बोधिका

पूज्या प्रवर्त्तिनी श्री सज्जन श्रीजी म.सा.
परम विदुषी शशिप्रभा श्रीजी म.सा.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

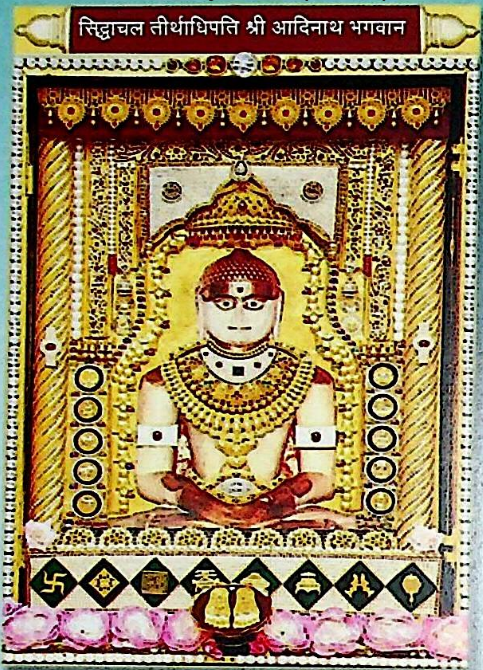

श्री जिनदत्तसूरि अजमेर दादाबाड़ी

श्री मणिधारी जिनचन्द्रसूरि दादाबाड़ी (दिल्ली)

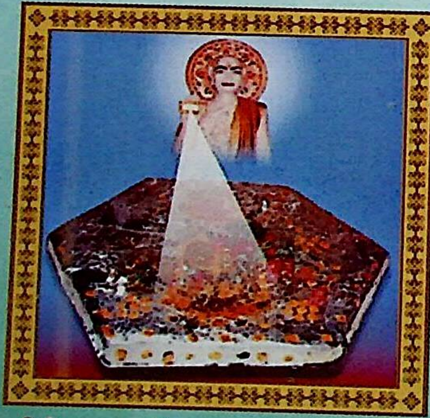

श्री जिनकुशलसूरि मालपुरा दादाबाड़ी (जयपुर)

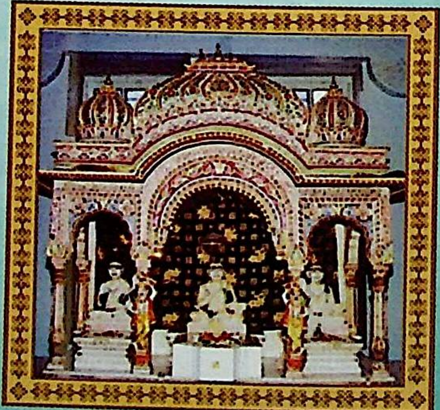

श्री जिनचन्द्रसूरि बिलाडा दादाबाड़ी (जोधपुर)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन गृहस्थ के सोलह संस्कारों का तुलनात्मक अध्ययन

जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन विषय पर

(डी. लिट् उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध)

खण्ड-2

2012-13

R.J. 241 / 2007

श्री ग० व० दि० जैन संस्थान नरिया वाराणसी
5601
पुस्तक क्र.........

णाणस्स सारमायारो

शोधार्थी
डॉ. साध्वी सौम्यगुणा श्री

निर्देशक
डॉ. सागरमल जैन

जैन विश्व भारती विश्वविद्यालय
लाडनूं-341306 (राज.)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन गृहस्थ के सोलह संस्कारों का तुलनात्मक अध्ययन

जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन विषय पर

(डी. लिट् उपाधि हेतु स्वीकृत शोध प्रबन्ध)

खण्ड-2

णाणस्स सारमायारो

स्वप्न शिल्पी

आगम मर्मज्ञा प्रवर्त्तिनी सज्जन श्रीजी म.सा.

संयम श्रेष्ठा पूज्या शशिप्रभा श्रीजी म.सा.

मूर्त्त शिल्पी

डॉ. साध्वी सौम्यगुणा श्री

(विधि प्रभा)

शोध शिल्पी

डॉ. सागरमल जैन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन गृहस्थ के सोलह संस्कारों का तुलनात्मक अध्ययन

कृपा वृष्टि : पूज्य आचार्य श्री मज्जिन कैलाशसागर सूरीश्वरजी म.सा.

मंगल वृष्टि : पूज्य उपाध्याय श्री मणिप्रभसागरजी म.सा.

आनन्द वृष्टि : आगमज्योति प्रवर्तिनी महोदया पूज्या सज्जन श्रीजी म.सा.

प्रेरणा वृष्टि : पूज्य गुरुवर्य्या शशिप्रभा श्रीजी म.सा.

वात्सल्य वृष्टि: गुर्वाज्ञा निमग्ना पूज्य प्रियदर्शना श्रीजी म.सा.

स्नेह वृष्टि : पूज्य दिव्यदर्शना श्रीजी म.सा., पूज्य तत्वदर्शना श्रीजी म.सा., पूज्य सम्यक्दर्शना श्रीजी म.सा., पूज्य शुभदर्शना श्रीजी म.सा., पूज्य मुदितप्रज्ञाश्रीजी म.सा., पूज्य शीलगुणाश्रीजी म.सा., सुयोग्या कनकप्रभाजी, सुयोग्या संयमप्रज्ञाजी आदि भगिनी मण्डल

शोधकर्त्री : साध्वी सौम्यगुणाश्री (विधिप्रभा)

ज्ञान वृष्टि : डॉ. सागरमल जैन

प्रकाशक :
- प्राच्य विद्यापीठ, दुपाडा रोड, शाजापुर-465001
  email : sagarmal.jain@gmail.com
- सज्जनमणि ग्रन्थमाला प्रकाशन
  बाबू माधवलाल धर्मशाला, तलेटी रोड, पालीताणा-364270

प्रथम संस्करण : सन् 2014

प्रतियाँ : 1000

सहयोग राशि : ₹ 100.00
(पुनः प्रकाशनार्थ)

कम्पोज : विमल चन्द्र मिश्र, वाराणसी

कॅवर सेटिंग : शम्भू भट्टाचार्य, कोलकाता

मुद्रक : Antartica Press, Kolkata

ISBN : 978-81-910801-6-2 (II)

© All rights reserved by Sajjan Mani Granthmala.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राप्ति स्थान

1. श्री सज्जनमणि ग्रन्थमाला प्रकाशन
बाबू माधवलाल धर्मशाला, तलेटी रोड,
पो. पालीताणा-364270 (सौराष्ट्र)
फोन : 02848-253701

2. श्री कान्तिलालजी मुकीम
श्री जिनरंगसूरि पौशाल, आड़ी बांस
तल्ला गली, 31/A, पो. कोलकाता-7
मो. 98300-14736

3. श्री भाईसा साहित्य प्रकाशन
M.V. Building, Ist Floor
Hanuman Road, PO : VAPI
Dist. : Valsad-396191 (Gujrat)
मो. 98255-09596

4. पार्श्वनाथ विद्यापीठ
I.T.I. रोड, करौंदी वाराणसी-5 (यू.पी.)
मो. 09450546617

5. डॉ. सागरमलजी जैन
प्राच्य विद्यापीठ, दुपाडा रोड
पो. शाजापुर-465001 (म.प्र.)
मो. 94248-76545
फोन : 07364-222218

6. श्री आदिनाथ जैन श्वेताम्बर
तीर्थ, कैवल्यधाम
पो. कुम्हारी-490042
जिला– दुर्ग (छ.ग.)
मो. 98271-44296
फोन : 07821-247225

7. श्री धर्मनाथ जैन मन्दिर
84, अमन कोविल स्ट्रीट
कोण्डी थोप, पो. चेन्नई-79 (T.N.)
फोन : 25207936,
044-25207875

8. श्री जिनकुशलसूरि जैन दादावाडी,
महावीर नगर, केम्प रोड
पो. मालेगाँव
जिला- नासिक (महा.)
मो. 9422270223

9. श्री सुनीलजी बोथरा
टूल्स एण्ड हार्डवेयर,
संजय गांधी चौक, स्टेशन रोड
पो. रायपुर (छ.ग.)
फोन : 94252-06183

10. श्री पदमचन्द चौधरी
शिवजीराम भवन, M.S.B. का रास्ता,
जौहरी बाजार
पो. जयपुर-302003
मो. 9414075821, 9887390000

11. श्री विजयराजजी डोसी
जिनकुशल सूरि दादाबाड़ी
89/90 गोविंदप्पा रोड
बसवनगुडी, पो. बैंगलोर (कर्ना.)
मो. 093437-31869

संपर्क सूत्र

श्री चन्द्रकुमारजी मुणोत
9331032777
श्री रिखबचन्दजी झाड़चूर
9820022641
श्री नवीनजी झाड़चूर
9323105863
श्रीमती प्रीतिजी अजितजी पारख
8719950000
श्री जिनेन्द्र बैद
9835564040
श्री पन्नाचन्दजी दूगड़
9831105908

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अमृतार्पण

जिनकी वाणी पथ भूलों को
नव प्रकाश दिखाती है।
जिनकी दृष्टि मेघ बनकर
समकित रस बरसाती है।
जिनकी करुणा पारस बनकर
अपराधी को भगवान बनाती है।
जिनकी गुण गरिमा वीर शासन को
शिखा स्थान पर बिठाती है।।

उन सभी आत्म साधकों की उच्च साधना को
सादर समर्पित।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सज्जन परिमल

वर्तमान में Structure पूरा बदल चुका है
संघ, समाज और देश का
Life Style पर चढ़ चुका है
नशा विदेशी उन्मेष का
प्राच्य संस्कारों को धूमिल कर रहा
धुँआ Modern परिवेश का ।।
अब जरूरी हो गया है कि
भावी पीढ़ी को मिले सही संस्कार
प्रगति शिखर पर भी न आए मानवता में विकार
रहे स्वयं पर स्वयं का अधिकार
इसीलिए शास्त्रों में प्रणीत है
षोडश संस्कारों का विधान
जिससे जीवन में प्रकटते नव निधान
जन्म ही नहीं मृत्यु का भी होता सुंदर आह्वान
अखिल जगत को उन्हीं षोडश संस्कारों से
पुनः परिचित एवं अनुप्राणित करने के लिए
एक पथ प्रदीप...

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हार्दिक अनुमोदन

आगरा हॉल कोलकाता निवासी

पिता श्री फतेहसिंहजी एवं मातुश्री पद्माकुमारीजी

की अन्तरंग भावना को साकार करते हुए

सुपुत्र

श्री राजेन्द्रजी-कामिनी, विजयेन्द्रजी-निर्मला

सुपौत्र

श्रेयांस

सुपौत्री

स्वीटी

समस्त सकलेचा परिवार।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञान यात्रा के अविस्मरणीय सहयोगी श्री विजयेन्द्रजी सकलेचा

विश्व रूपी देवी के भाल पर हमारा भारतवर्ष मुकुट के समान शोभायमान है। इस मुकुट पर एक दिव्य रत्न के रूप में सुशोभित है कलाकृति का उद्‌गम स्थल– पश्चिम बंगाल। संगीत, कला, नृत्य, चित्रकारी आदि विविध कलाएँ इस कला भूमि का हृदय बनकर स्पन्दित होती है। इसी कला भूमि के एक दिव्यरत्न हैं सरलमना, सेवाभावी श्रावकवर्य्य श्री विजयेन्द्रजी सकलेचा।

मूलत: आगरा निवासी श्री विजयेन्द्रजी का पालन-पोषण कोलकाता के धर्मानुकूल वातावरण में हुआ। धर्मनिष्ठा मातुश्री पदमकुमारीजी गृहस्थ आश्रम में रहते हुए भी संन्यास आश्रम की भाँति अपना जीवन निर्वाह करती थी। ऐसे धर्म वृक्ष की छत्र छाया में राजेन्द्रजी, विजयेन्द्रजी आदि 7 भाई-बहनों का पल्लवन भी धर्म सुमन के रूप में हुआ। पिताश्री फतेहसिंहजी समाज के आगेवान समाज सेवकों में थे। उन्होंने अपने पुत्रों को व्यापार एवं व्यवहार जगत ही नहीं अपितु धर्म जगत में निपुणता प्राप्त करने के गुर भी सिखाए। आज सकलेचा परिवार अध्यात्म के जिस धरातल पर खड़ा है उस नींव का निर्माण आप ही के श्रेष्ठ संस्कारों के द्वारा हुआ है।

विजयेन्द्रजी की Graduation तक की शिक्षा कोलकाता के College में हुई। अध्ययन पूर्ण कर यौवन के जोश के साथ होश रखते हुए आपने व्यापारिक गतिविधियाँ प्रारंभ की। प्रथम सोपान में प्रारंभ हुआ ट्रेडिंग मिल का कार्य आज के Manufacturing के चरम शिखर पर पहुँच चुका है। व्यवसाय के क्षेत्र में आप जिस उत्तुंगता पर हैं। अध्यात्म के क्षेत्र में भी आप उसी चरमोत्कर्ष पर हैं।

परमात्म-भक्ति, साधु-साध्वी वैयावच्च, साधर्मिक उत्थान आदि में आप सदा ही तत्पर रहते हैं। श्रुत साहित्य वाचन एवं संग्रह की रुचि तो आपको अपनी मातु श्री द्वारा विरासत से ही प्राप्त है। चाहे धार्मिक कार्य हो या सामाजिक, आपका योगदान हर क्षेत्र में सर्वोपरि रहता है। नाम और यश कीर्ति की चाह से परे आपका जीवन एक श्वेत कमल की भाँति दुर्गापुर एवं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कोलकाता संघ को शोभायमान कर रहा है।

आपकी अनुभव श्रेष्ठता, ज्ञान गांभीर्य, दीर्घ दृष्टि आदि विशेषताओं के कारण भारतवर्ष की विभिन्न संस्थाएँ आपको अपना कार्यकर्त्ता बनाकर गौरवान्वित अनुभव करती हैं। आप अनेक धार्मिक, सामाजिक, व्यापारिक, व्यवसायिक एवं शैक्षणिक संस्थाओं से जुड़े हुए हैं। आपका वर्चस्व मात्र कोलकाता या दुर्गापुर अथवा किसी एक परम्परा तक सीमित नहीं है अपितु समस्त क्षेत्रों में आपका प्रभुत्व देखा जाता है।

आपका जीवन हजारों श्रेष्ठ गुण रूपी दीपों के प्रकाश से शोभायमान है परन्तु उन गुणों का लेश मात्र भी अभिमान आप में दृष्टिगत नहीं होता है। आपके जीवन में अनुशासन बद्धता के साथ स्नेह, सुविधा के साथ नियंत्रण, पुण्य के साथ व्यवस्था, वात्सल्य के साथ दिशा निर्देशन आदि का अनुपम संगम है।

आपकी जीवन संगिनी श्रीमती निर्मलाजी नाम के अनुसार ही स्वभाव एवं गुणों से भी निर्दोष हैं। उनका सरल स्वभाव, मिलनसारिता एवं स्नेह वृत्ति आगंतुक को मातृ वात्सल्य का एहसास करवाती है। आप दोनों ने मिलकर अपने पुत्र श्रेयांस और दोनों पुत्रियों को बहुत अच्छे संस्कारों से नवाजा है। तीनों ही धर्म में दृढ़ एवं आज्ञा संपन्न हैं तथा आज की युग पीढ़ी के लिए आदर्श हैं।

पूज्या संघरत्ना शशिप्रभाश्रीजी म.सा. के मण्डल से आपका जुड़ाव गत 30-40 वर्षों से रहा है। स्वाध्याय एवं ज्ञानार्जन के क्षेत्र में आपकी विशेष रुचि होने से साध्वी सौम्यगुणाजी के अध्ययन काल में आपका विशेष योगदान रहा है। आप ही के अथक प्रयासों के कारण साध्वीजी का कार्य संपूर्णता को प्राप्त कर सका।

सज्जनमणि ग्रंथमाला आपके इस सहयोग एवं उत्साहवर्धन के लिए आपका आभारी रहेगा। आप देव-गुरु-धर्म की भक्ति में इसी प्रकार सदैव संलग्न रहें और मुक्ति मंजिल को प्राप्त करें यही मंगल कामना।

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्पादकीय

किसी भी क्रिया को सम्यक् रूप से संपन्न करना संस्कार कहलाता है। संस्कारों के आधार पर संस्कृतियों का जन्म होता है। वस्तुत: एक संस्कारित समाज ही किसी संस्कृति को जन्म दे सकता है। संस्कृति समाज पर और समाज व्यक्ति पर आधारित है दूसरे शब्दों में व्यक्ति से समाज और समाज से संस्कृति बनती है। अत: संस्कारों का व्यक्ति और समाज दोनों के दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण स्थान है। व्यक्ति को सुयोग्य एवं सुसंस्कृत बनाने की क्रिया ही संस्कार कही जाती है। सामान्यतया मानव में मानवीय गुणों का विकास करना ही संस्कार है, किन्तु वर्तमान काल में संस्कार का तात्त्पर्य कुछ विशिष्ट विधि-विधानों से जोड़ा जाता है। इसी आधार पर भारतीय परम्परा में व्यक्ति के गर्भाधान से लेकर उसकी अन्त:क्रिया तक के विधि-विधानों को संस्कार नाम दिया गया है। यद्यपि वर्तमान में उपलब्ध संस्कार सम्बन्धी विधि-विधानों के ग्रंथ परवर्तीकालीन है, किन्तु विविध संस्कारों का उल्लेख हमें ब्राह्मणों और आरण्यकों के काल से ही मिलने लगता है। ऐतिहासिक दृष्टि से संस्कार सम्बन्धी यह विवेचन प्रथमत: तो वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में ही मिलता है, तदनन्तर कालान्तर में जैन ग्रन्थों में भी इसका उल्लेख मिल जाता है।

वैदिक परम्परा में गृहस्थ के जिन षोडश संस्कारों का उल्लेख हुआ है, उनमें से कुछ के उल्लेख प्राचीन जैन आगमों में मिल जाते हैं। जैन वांगमय में जहाँ तीर्थकरों के या किसी विशिष्ट महापुरूष के जीवन का वर्णन है, वहाँ कुछ संस्कारों का नामोल्लेख हमें अवश्य प्राप्त हो जाता है। कल्पसूत्र में भगवान महावीर के गर्भाधान संस्कार की तो कोई चर्चा नहीं है, किन्तु उनके देवलोक से च्यवन, माता को स्वप्न दर्शन, गर्भ संहरण तथा त्रिशला के गर्भ में पुन: स्थापना आदि घटनाओं के उल्लेख है, किन्तु तत्सम्बन्धी संस्कार का कोई उल्लेख नहीं है। इसी प्रकार उसमें महावीर के जन्म के पश्चात् जन्मोत्सव, जन्म के तीसरे दिन चन्द्र और सूर्य के दर्शन, छठवें दिन रात्रि में धर्म जागरण, ग्यारहवें दिन अशुचि निवारण, बारहवें दिन स्वजनों के भोजन तथा नामकरण संस्कार के उल्लेख मिलते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैनागमों में ऐसे ही उल्लेख अन्य महापुरूषों के जन्म के सम्बन्ध में भी मिलते हैं। पुनः उपनयन संस्कार का कोई उल्लेख नहीं है मात्र पाठशाला में अध्ययन हेतु भेजे जाने के उल्लेख हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि जैन परम्परा में षोडश संस्कारों का विकास परवर्तीकाल में हुआ है। आगमों में इन संस्कारों के विधि-विधानों का कोई उल्लेख नहीं है। मात्र कुछ संस्कारों के नामोल्लेख रूप संकेत ही मिलते हैं।

श्वेताम्बर परम्परा की अपेक्षा भी दिगम्बर परम्परा के महापुराण जिसके दो भाग हैं-आदिपुराण और उत्तरपुराण। इनमें जिन दिक्षान्वय नामक क्रियाओं का उल्लेख है उनमें प्रायः अनेक संस्कारों के उल्लेख मिल जाते हैं, किन्तु महापुराण में भी उनके विधि-विधान का विशेष उल्लेख नहीं है। श्वेताम्बर परम्परा में षोड़श संस्कारों और उनके विधि-विधानों का सर्वप्रथम उल्लेख हमें वर्धमानसूरि के आचार दिनकर नामक ग्रंथ में मिलता है। यद्यपि इसके पूर्व जैन परम्परा के विधि-विधानों से सम्बन्धित विधिमार्गप्रपा आदि कुछ ग्रन्थ लिखे गए थे, किन्तु उनमें गृहस्थ के षोड़श संस्कारों में से कुछ संस्कारों का नामोल्लेख होना यह तो अवश्य सूचित करता है कि व्यवस्था के रूप में निर्ग्रन्थ परम्परा में संस्कारों को करने की परम्परा तो थी, किन्तु उन्हें धर्म या साधना का अंग नहीं समझा जाता था वे मात्र लोकोपचार के रूप में सम्पादित किए जाते थे। सर्वप्रथम हमें आचार दिनकर में ही इन षोड़श संस्कारों को धार्मिक रूप में सम्पादित किया जाना परिलक्षित होता है। यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि जैन परम्परा में संस्कार संबंधी विधि-विधान हिन्दू परम्परा से ही अवतरित किए गए हैं। जैन परम्परा में उन संस्कारों संबंधी विधि-विधानों को यथावत् रूप में ग्रहण कर लिया था।

सत्य तो यह कि जैन आचार्यों ने उन्हें ग्रहण करने में अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है और उन्हें जैन धर्म के अनुकूल बनाने का प्रयत्न भी किया है। यही कारण था कि जहाँ वैदिक और दिगम्बर जैन परम्परा में गर्भाधान संस्कार में यौन-क्रिया को स्थान दिया गया, वहाँ आचार्य वर्धमानसूरि ने उसे स्थान न देकर गर्भाधान क्रिया को गर्भ की सुरक्षा का हेतु बताकर गर्भाधान के पाँच माह पश्चात् गभार्धान संस्कार करने का निर्देश किया है।

इन संस्कारों में षष्ठी पूजन और उपनयन संस्कार वस्तुतः जैन परम्परा में वैदिक परम्परा से ही ग्रहीत हुए हैं। जैन आगमों में षष्ठी पूजन के स्थान पर मात्र

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रात्रि जागरण का ही उल्लेख है। जब हम इन संस्कारों के सम्बन्ध में विशेष रूप से चिन्तन करते हैं तो ऐसा लगता है कि गर्भाधान से लेकर चूड़ाकरण तक के सभी संस्कार व्यक्ति के बाल्यकाल से ही सम्बन्धित है। किसी सीमा तक उपनयन और विद्यारंभ भी बाल्यकाल अथवा किशोरावस्था से संबंधित माने जा सकते हैं। शेष संस्कारों में विवाह संस्कार यौवनावस्था से और व्रतारोपण संस्कार प्रौढ़ अवस्था से तथा अन्त्य संस्कार वृद्धावस्था से सम्बन्धित प्रतीत होते हैं। हम देखते हैं कि इन संस्कारों में अधिकांश संस्कार बाल्यावस्था से सम्बन्धित माने गए हैं। उसका मुख्य कारण यह है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व को विकसित एवं संस्कारित करने के लिए बाल्यकाल में ही संस्कारों की महत्ती आवश्यकता होती है। फिर भी यह ध्यान रखना आवश्यक है कि भारतीय समाज में संस्कारों का जिस रूप में प्रचलन है उससे यही फलित होता है कि हमने संस्कारों को मात्र कर्मकांड ही मान लिया है। उसके पीछे निहित व्यक्तित्व के विकास का मूल सिद्धान्त कहीं गौण हो चुके हैं।

आज हम विज्ञान के युग में जी रहे हैं अत: संस्कार सम्बन्धी विधि-विधानों का वैज्ञानिक आधार पर मूल्यांकन करना अपेक्षित है। इन कर्मकाण्डों का वैज्ञानिक दृष्टि से समीक्षण करना इसलिए आवश्यक है कि उनकी उपयोगिता को सिद्ध किया जा सके। यद्यपि प्रस्तुत कृति में संस्कारों की वैज्ञानिकता को अन्य ग्रन्थों के आधार पर रेखांकित करने का प्रयत्न किया गया है, किन्तु यह पर्याप्त नहीं है, हमें प्रत्येक संस्कार को और उसके विधि-विधान को वैज्ञानिक कसौटी पर कसना होगा तथा उसी आधार पर उनके हानि-लाभ का मूल्यांकन और प्रस्तुतीकरण भी करना होगा। यह सत्य है कि प्राचीनकाल में इन संस्कारों के कुछ वैज्ञानिक आधार रहे हों, किन्तु उस युग की अपेक्षा आज विज्ञान का क्षेत्र अति व्यापक हो चुका है और वह किसी भी तथ्य की गहराई में जाकर उसके औचित्य-अनौचित्य का विश्लेषण प्रस्तुत कर सकता है। यद्यपि संस्कारों की वैज्ञानिकता से सम्बन्धित कुछ संकेत श्री रामशर्मा आदि कुछ विद्वानों ने किए हैं लेकिन उनका वैज्ञानिक परीक्षण अभी भी अपेक्षित है।

यह संतोष का विषय है कि साध्वी सौम्यगुणाश्रीजी ने जैन गृहस्थ के संस्कारों को लेकर प्रस्तुत कृति में आचार दिनकर एवं अन्य कुछ ग्रन्थों के आधार पर विस्तृत विवेचनाएँ प्रस्तुत की है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि प्रस्तुत कृति में व्रतारोपण संस्कार का मात्र संक्षेप में उल्लेख है। इसका विस्तृत वर्णन उन्होंने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्रतारोपण नाम की अन्य कृति में किया है। प्रस्तुत विवेचन में साध्वीजी ने आचारदिनकर को आधारभूत मानकर यह चर्चा की है। यद्यपि ग्रन्थ प्रणयन में दिगम्बर परम्परा और हिन्दू परम्परा के अन्य ग्रन्थों को भी आधार बनाया गया है। इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि जैन परम्परा में संस्कारों के विवेचन की दृष्टि से यह एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ होगा। प्रस्तुत कृति की यह विशेषता है कि इसमें प्रत्येक संस्कार की आवश्यकता एवं उसकी अर्थवत्ता पर विचार किया गया है। उसमें संस्कार सम्बन्धी विधि-विधानों के मूल्यांकन और तुलनात्मक विवेचन को अधिक स्थान प्राप्त है, जो इस कृति की मूल्यवत्ता को स्थापित करता है।

प्रस्तुत कृति का महत्त्व इसलिए भी बढ़ जाता है कि श्वेताम्बर जैन परम्परा में आज इनमें से अधिकांश संस्कार किए तो जाते हैं, किन्तु उन सबका आधार ब्राह्मण परम्परा ही होती है, क्योंकि इन संस्कारों का कर्त्ता ब्राह्मण ही होता है और वह अपनी परम्परा के आधार पर ही इन्हें संपन्न करवाता है। श्वेताम्बर परम्परा में इन संस्कारों से सम्बन्धित एक मात्र ग्रन्थ आचार दिनकर ही है, किन्तु वह ग्रन्थ प्रचलन में नहीं रहने से गृहस्थ के संस्कारों के सम्बन्ध में आज ब्राह्मण परम्परा का ही वर्चस्व हो गया है यद्यपि दिगम्बर परम्परा में विवाह आदि संस्कार जैन पंडितों के द्वारा करवाए जाते हैं, लेकिन श्वेताम्बर परम्परा में यह प्रचलन नहीं है।

संभवतः यह कृति श्वेताम्बर परम्परा में एक नवजागरण प्रस्तुत करेगी और वे भी अपनी परम्परा के अनुसार इन संस्कारों को संपन्न कर पायेंगे। अन्त में यही अपेक्षा है कि साध्वी सौम्यगुणा श्रीजी भविष्य में भी इसी प्रकार की मूल्यवान कृतियों का लेखन करते हुए जिनशासन की सेवा करती रहें।

प्रो.सागरमल जैन
प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर(म.प्र.)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आशीर्वचन

भारतीय वांगमय ऋषि-महर्षियों द्वारा रचित लक्षाधिक ग्रन्थों से शोभायमान है। प्रत्येक ग्रन्थ अपने आप में अनेक नवीन विषय एवं नव्य उन्मेष लिए हुए हैं। हर ग्रन्थ अनेकशः प्राकृतिक, आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक रहस्यों से परिपूर्ण है। इन शास्त्रीय विषयों में एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है विधि-विधान। हमारे आचार-पक्ष को सुदृढ़ बनाने एवं उसे एक सम्यक दिशा देने का कार्य विधि-विधान ही करते हैं। विधि-विधान सांसारिक क्रिया-अनुष्ठानों को सम्पन्न करने का मार्ग दिग्दर्शित करते हैं।

जैन धर्म यद्यपि निवृत्तिमार्गी है जबकि विधि-विधान या क्रिया-अनुष्ठान प्रवृत्ति के सूचक हैं परंतु यथार्थतः जैन धर्म में विधि-विधानों का गुंफन निवृत्ति मार्ग पर अग्रसर होने के लिए ही हुआ है। आगम युग से ही इस विषयक चर्चा अनेक ग्रन्थों में प्राप्त होती है। जिनप्रभसूरि रचित विधिमार्गप्रपा वर्तमान विधि-विधानों का पृष्ठाधार है। साध्वी सौम्यगुणाजी ने इस ग्रंथ के अनेक रहस्यों को उद्घाटित किया है।

साध्वी सौम्याजी जैन संघ का जाज्वल्यमान सितारा है। उनकी ज्ञान आभा से मात्र जिनशासन ही नहीं अपितु समस्त आर्य परम्पराएँ शोभित हो रही हैं। सम्पूर्ण विश्व उनके द्वारा प्रकट किए गए ज्ञान दीप से प्रकाशित हो रहा है। इन्हें देखकर प्रवर्त्तिनी श्री सज्जन श्रीजी म.सा. की सहज स्मृति आ जाती है। सौम्याजी उन्हीं के नक्शे कदम पर चलकर अनेक नए आयाम श्रुत संवर्धन हेतु प्रस्तुत कर रही है।

साध्वीजी ने विधि-विधानों पर बहुपक्षीय शोध करके उसके विविध आयामों को प्रस्तुत किया है। इस शोध कार्य को 23 पुस्तकों के रूप में प्रस्तुत कर उन्होंने जैन विधि-विधानों के समग्र पक्षों को जन सामान्य के लिए सहज ज्ञातव्य बनाया है।

जिज्ञासु वर्ग इसके माध्यम से मन में उद्वेलित विविध शंकाओं का समाधान कर पाएगा।

साध्वीजी इसी प्रकार श्रुत रत्नाकर के अमूल्य मोतियों की खोज

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर ज्ञान राशि को समृद्ध करती रहे एवं अपने ज्ञानालोक से सकल संघ को रोशन करें यही शुभाशंसा...

आचार्य कैलास सागर सूरि, नाकोडा तीर्थ

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई है कि विदुषी साध्वी डॉ. सौम्यगुणा श्रीजी ने डॉ. श्री सागरमलजी जैन के निर्देशन में 'जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन' इस विषय पर 23 खण्डों में बृहदस्तरीय शोध कार्य (डी.लिट्) किया है। इस शोध प्रबन्ध में परंपरागत आचार आदि अनेक विषयों का प्रामाणिक परिचय देने का सुंदर प्रयास किया गया है।

जैन परम्परा में क्रिया-विधि आदि धार्मिक अनुष्ठान कर्म क्षय के हेतु से मोक्ष को लक्ष्य में रखकर किए जाते हैं।

साध्वीश्री ने योग मुद्राओं का मानसिक, शारीरिक, मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से क्या लाभ होता है? इसका उल्लेख भी बहुत अच्छी तरह से किया है।

साध्वी सौम्यगुणाजी ने निःसंदेह चिंतन की गहराई में जाकर इस शोध प्रबन्ध की रचना की है, जो अभिनंदन के योग्य है।

मुझे आशा है कि विद्वद गण इस शोध प्रबन्ध का सुंदर लाभ उठायेंगे।

मेरी साध्वीजी के प्रति शुभकामना है कि श्रुत साधना में और अभिवृद्धि प्राप्त करें।

आचार्य पद्मसागर सूरि

हर क्रिया की अपनी एक विधि होती है। विधि की उपस्थिति व्यक्ति को मर्यादा भी देती है और उस क्रिया के प्रति संकल्प-बद्ध रहते हुए पुरुषार्थ करने की प्रेरणा भी। यही कारण है कि जिन शासन में हर क्रिया की अपनी एक स्वतंत्र विधि है।

प्राचीन ग्रन्थों में वर्णन उपलब्ध होता है कि भरत महाराजा ने हर श्रावक के गले में सम्यक दर्शन,सम्यक ज्ञान और सम्यक चारित्र रूप त्रिरत्नों की जनोई धारण करवाई थी। कालान्तर में जैन श्रावकों में यह परम्परा विलुप्त हो गई। दिगम्बर श्रावकों में आज भी यह परम्परा गतिमान है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिस प्रकार ब्राह्मणों में सोलह संस्कारों की विधि प्रचलित है। ठीक उसी प्रकार जैन ग्रन्थों में भी सोलह संस्कारों की विधि का उल्लेख है। आचार्य श्री वर्धमानसूरि खरतरगच्छ की रुद्रपल्लीय शाखा में हुए पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी के विद्वान आचार्य थे। आचारदिनकर नामक ग्रन्थ में इन सोलह संस्कारों का विस्तृत निरूपण किया गया है। हालांकि गहन अध्ययन करने पर मालूम होता है कि आचार्य श्री वर्धमानसूरि पर तत्कालीन ब्राह्मण विधियों का पर्याप्त प्रभाव था, किन्तु स्वतंत्र विधि-ग्रन्थ के हिसाब से उनका यह ग्रन्थ अद्भुत एवं मौलिक है।

साध्वी सौम्यगुणा श्रीजी ने जैन गृहस्थ के व्रत ग्रहण संबंधी विधि विधानों पर तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन करके प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की है। यह बहुत ही उपयोगी ग्रन्थ साबित होगा, इसमें कोई शंका नहीं है। साध्वी सौम्यगुणाजी सामाजिक दायित्वों में व्यस्त होने पर भी चिंतनशील एवं पुरुषार्थशील हैं। कुछ वर्ष पूर्व में विधिमार्गप्रपा नामक ग्रन्थ पर शोध प्रबन्ध प्रस्तुत कर अपनी विद्वत्ता की अनूठी छाप समाज पर छोड़ चुकी हैं।

मैं हार्दिक भावना करता हूँ कि साध्वीजी की अध्ययनशीलता लगातार बढ़ती रहे और वे शासन एवं गच्छ की सेवा में ऐसे रत्न उपस्थित करती रहें।

उपाध्याय श्री मणिप्रभसागर

विनयाद्यनेक गुणगण गरीमायमाना विदुषी साध्वी श्री शशिप्रभा श्रीजी एवं सौम्यगुणा श्रीजी आदि सपरिवार सादर अनुवन्दना सुखशाता के साथ।

आप शाता में होंगे। आपकी संयम यात्रा के साथ ज्ञान यात्रा अविरत चल रही होगी।

आप जैन विधि विधानों के विषय में शोध प्रबंध लिख रहे हैं यह जानकर प्रसन्नता हुई।

ज्ञान का मार्ग अनंत है। इसमें ज्ञानियों के तात्पर्यार्थ के साथ प्रामाणिकता पूर्ण व्यवहार होना आवश्यक रहेगा।

आप इस कार्य में सुंदर कार्य करके ज्ञानोपासना द्वारा स्वश्रेय प्राप्त करें ऐसी शासन देव से प्रार्थना है।

आचार्य राजशेखर सूरि, भद्रावती तीर्थ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महत्तरा श्रमणीवर्या श्री शशिप्रभाश्री जी

योग अनुवंदना!

आपके द्वारा प्रेषित पत्र प्राप्त हुआ। इसी के साथ 'शोध प्रबन्ध सार' को देखकर ज्ञात हुआ कि आपकी शिष्या साध्वी सौम्यगुणा श्री द्वारा किया गया बृहदस्तरीय शोध कार्य जैन समाज एवं श्रमण-श्रमणी वर्ग हेतु उपयोगी जानकारी का कारण बनेगा।

आपका प्रयास सराहनीय है।

श्रुत भक्ति एवं ज्ञानाराधना स्वपर के आत्म कल्याण का कारण बने यही शुभाशीर्वाद।

आचार्य रत्नाकरसूरि

विदुषी आर्या साध्वीजी भगवंत श्री सौम्यगुणा श्रीजी सादर अनुवंदना सुखशाता !

आप सुखशाता में होंगे।

ज्ञान साधना की खूब अनुमोदना!

वर्तमान संदर्भ में जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन का शोध प्रबन्ध पढ़ा।

आनंद प्रस्तुति एवं संकलन अद्भुत है।

जिनशासन की सभी मंगलकारी विधि एवं विधानों का संकलन यह प्रबन्ध की विशेषता है।

विज्ञान-मनोविज्ञान एवं परा विज्ञान तक पहुँचने का यह शोध ग्रंथ पथ प्रदर्शक अवश्य बनेगा।

जिनवाणी के मूल तक पहुँचने हेतु विधि-विधान परम आलंबन है। यह शोध प्रबन्ध अनेक जीवों के लिए मार्गदर्शक बनेगा। सही मेहनत की अनुमोदना।

नयपद्म सागर

'जैन विधि विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन' शोध प्रबन्ध के सार का पल्लवग्राही निरीक्षण किया।

शक्ति की प्राप्ति और शक्ति की प्रसिद्धि जैसे आज के वातावरण में श्रुत सिंचन के लिए दीर्घ वर्षों तक किया गया अध्ययन स्तुत्य और अभिनंदनीय है।

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा प्रवर्त्तित परम्परा विरोधी आधुनिकता के प्रवाह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में बहे बिना श्री जिनेश्वर परमात्मा द्वारा प्ररूपित मोक्ष मार्ग के अनुरूप होने वाली किसी भी प्रकार की श्रुत भक्ति स्व-पर कल्याणकारी होती है।

शोध प्रबन्ध का व्यवस्थित निरीक्षण कर पाना सम्भव नहीं हो पाया है परन्तु उपरोक्त सिद्धान्त का पालन हुआ हो उस तरह की तमाम श्रुत भक्ति की हार्दिक अनुमोदना होती ही है।

आपके द्वारा की जा रही श्रुत सेवा सदा-सदा के लिए मार्गस्थ या मार्गानुसारी ही बनी रहे ऐसी एक मात्र अंतर की शुभाभिलाषा।

संयम बोधि विजय

विदुषी आर्या रत्ना सौम्यगुणा श्रीजी ने जैन विधि विधानों पर विविध पक्षीय बृहद शोध कार्य संपन्न किया है। चार भागों में विभाजित एवं 23 खण्डों में वर्गीकृत यह विशाल कार्य निःसंदेह अनुमोदनीय, प्रशंसनीय एवं अभिनंदनीय है।

शासन देव से प्रार्थना है कि उनकी बौद्धिक क्षमता में दिन दूगुनी रात चौगुनी वृद्धि हो। ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम ज्ञान गुण की वृद्धि के साथ आत्म ज्ञान प्राप्ति में सहायक बनें।

यह शोध ग्रन्थ ज्ञान पिपासुओं की पिपासा को शान्त करे, यही मनोहर अभिलाषा।

महत्तरा मनोहर श्री चरणरज
प्रवर्त्तिनी कीर्तिप्रभा श्रीजी

दूध को दही में परिवर्तित
करना सरल है। जामन डालिए
और दही तैयार हो जाता है।
किन्तु, दही से मक्खन निकालना
कठिन है। इसके लिए दही को
मथना पड़ता है। तब कहीं
जाकर मक्खन प्राप्त होता है।
इसी प्रकार अध्ययन एक
अपेक्षा से सरल है, किन्तु
तुलनात्मक अध्ययन कठिन है।
इसके लिए कई शास्त्रों को
मथना पड़ता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साध्वी सौम्यगुणा श्री ने जैन
विधि-विधानों पर रचित साहित्य
का मंथन करके एक सुंदर चिंतन
प्रस्तुत करने का जो प्रयास किया है
वह अत्यंत अनुमोदनीय एवं
प्रशंसनीय है।

शुभकामना व्यक्त
करती हूँ कि यह
शास्त्रमंथन अनेक साधकों
के कर्मबंधन तोड़ने में
सहायक बने।

साध्वी संवेगनिधि

सुश्रावक श्री कान्तिलालजी मुकीम द्वारा शोध प्रबंध सार संप्राप्त हुआ। विदुषी साध्वी श्री सौम्यगुणाजी के शोधसार ग्रन्थ को देखकर ही कल्पना होने लगी कि शोध ग्रन्थ कितना विराट्काय होगा। वर्षों के अथक परिश्रम एवं सतत रुचि पूर्वक किए गए कार्य का यह सुफल है।

वैदुष्य सह विशालता इस शोध ग्रन्थ की विशेषता है।

हमारी हार्दिक शुभकामना है कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उनका बहुमुखी विकास हो! जिनशासन के गगन में उनकी प्रतिभा, पवित्रता एवं पुण्य का दिव्यनाद हो। किं बहुना!

साध्वी मणिप्रभा श्री
भद्रावती तीर्थ

जो कर रहे स्व-पर उपकार
अन्तर्हृदय से उनको अमृत उद्गार

मानव जीवन का प्रासाद विविधता की बहुविध पृष्ठ भूमियों पर आधृत है। यह न तो सरल सीधा राजमार्ग (Straight like highway) है न पर्वत का सीधा चढ़ाव (ascent) न घाटी का उतार (descent) है अपितु यह सागर की लहर (sea-wave) के समान गतिशील और उतार-चढ़ाव से युक्त है। उसके जीवन की गति सदैव एक जैसी नहीं रहती। कभी चढ़ाव (Ups) आते हैं तो कभी उतार (Downs) और कभी कोई

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अवरोध (Speed Breaker) आ जाता है तो कभी कोई (trun) भी आ जाता है। कुछ अवरोध और मेड़ तो इतने खतरनाक (sharp) और प्रबल होते हैं कि मानव की गति-प्रगति और सन्मति लड़खड़ा जाती है, रुक जाती है इन बदलती हुई परिस्थितियों के साथ अनुकूल समायोजन स्थापित करने के लिए जैन दर्शन के आप्त मनीषियों ने प्रमुखतः दो प्रकार के विधि-विधानों का उल्लेख किया है– 1. बाह्य विधि-विधान 2. आन्तरिक विधि-विधान।

बाह्य विधि-विधान के मुख्यतः चार भेद हैं– 1. जातीय विधि-विधान 2. सामाजिक विधि-विधान 3. वैधानिक विधि-विधान 4. धार्मिक विधि-विधान।

1. जातीय विधि-विधान– जाति की समुत्कर्षता के लिए अपनी-अपनी जाति में एक मुखिया या प्रमुख होता है जिसके आदेश को स्वीकार करना प्रत्येक सदस्य के लिए अनिवार्य है। मुखिया नैतिक जीवन के विकास हेतु उचित-अनुचित विधि-विधान निर्धारित करता है। उन विधि-विधानों का पालन करना ही नैतिक चेतना का मानदण्ड माना जाता है।

2. सामाजिक विधि-विधान– नैतिक जीवन को जीवंत बनाए रखने के लिए समाज अनेकानेक आचार-संहिता का निर्धारण करता है। समाज द्वारा निर्धारित कर्त्तव्यों की आचार-संहिता को ज्यों का त्यों चुपचाप स्वीकार कर लेना ही नैतिक प्रतिमान है। समाज में पीढ़ियों से चले आने वाले सज्जन पुरुषों का अच्छा आचरण या व्यवहार समाज का विधि-विधान कहलाता है। जो इन विधि-विधानों का आचरण करता है, वह पुरुष सत्पुरुष बनने की पात्रता का विकास करता है।

3. वैधानिक विधि-विधान– अनैतिकता-अनाचार जैसी हीन प्रवृत्तियों से मुक्त करवाने हेतु राज सत्ता के द्वारा अनेकविध विधि-विधान बनाए जाते हैं। इन विधि-विधानों के अन्तर्गत 'यह करना उचित है' अथवा 'यह करना चाहिए' आदि तथ्यों का निरूपण रहता है। राज सत्ता द्वारा आदेशित विधि-विधान का पालन आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। इन नियमों का पालन करने से चेतना अशुभ प्रवृत्तियों से अलग रहती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

4. धार्मिक विधि-विधान– इसमें आप्त पुरुषों के आदेश-निर्देश, विधि-निषेध, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य निर्धारित रहते हैं। जैन दर्शन में "आणाए धम्मो" कहकर इसे स्पष्ट किया गया है। जैनागमों में साधक के लिए जो विधि-विधान या आचार निश्चित किए गये हैं, यदि उनका पालन नहीं किया जाता है तो आप्त के अनुसार यह कर्म अनैतिकता की कोटि में आता है। धार्मिक विधि-विधान जो अर्हत् आदेशानुसार है उसका धर्माचरण करता हुआ वीर साधक अकुतोभय हो जाता है अर्थात वह किसी भी प्राणी को भय उत्पन्न हो, वैसा व्यवहार नहीं करता। यही सद्व्यवहार धर्म है तथा यही हमारे कर्मों के नैतिक मूल्यांकन की कसौटी है। तीर्थंकरोपदिष्ट विधि-निषेध मूलक विधानों की नैतिकता एवं अनैतिकता का मानदण्ड माना गया है।

लौकिक एषणाओं से विमुक्त, अरहन्त प्रवाह में विलीन, अप्रमत्त स्वाध्याय रसिका साध्वी रत्ना सौम्यगुणा श्रीजी ने जैन वाङ्मय की अनमोल कृति खरतरगच्छाचार्य श्री जिनप्रभसूरि द्वारा विरचित **विधिमार्गप्रपा** में गुम्फित जाज्वल्यमान विषयों पर अपनी तीक्ष्ण प्रज्ञा से जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन को मुख्यतः चार भाग (23 खण्डों) में वर्गीकृत करने का अतुलनीय कार्य किया है। शोध ग्रन्थ के अनुशीलन से यह स्पष्टतः हो जाता है कि साध्वी सौम्यगुणा श्रीजी ने चेतना के ऊर्ध्वीकरण हेतु प्रस्तुत शोध ग्रन्थ में जिन आज्ञा का निरूपण किसी परम्परा के दायरे से नहीं प्रज्ञा की कसौटी पर कस कर किया है। प्रस्तुत कृति की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि हर पंक्ति प्रज्ञा के आलोक से जगमगा रही है। बुद्धिवाद के इस युग में विधि-विधान को एक नव्य-भव्य स्वरूप प्रदान करने का सुन्दर, समीचीन, समुचित प्रयास किया गया है। आत्म पिपासुओं के लिए एवं अनुसन्धित्सुओं के लिए यह श्रुत निधि आत्म सम्मानार्जन, भाव परिष्कार और आन्तरिक औज्ज्वल्य की निष्पत्ति में सहायक सिद्ध होगी।

अल्प समयावधि में साध्वी सौम्यगुणाश्रीजी ने जिस प्रमाणिकता एवं दार्शनिकता से जिन वचनों की परम्परा के आग्रह से रिक्त तथा साम्प्रदायिक मान्यताओं के दुराग्रह से मुक्त रखकर सर्वग्राही श्रुत का निष्पादन जैन वाङ्मय के क्षितिज पर नव्य नक्षत्र के रूप में किया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। आप श्रुत साभिरुचि में निरन्तर प्रवहमान बनकर अपने निर्णय, विशुद्ध विचार एवं निर्मल प्रज्ञा के द्वारा सदैव सरल, सरस और सुगम अभिनव ज्ञान रश्मियों को प्रकाशित करती रहें। यही अन्तःकरण आशीर्वाद सह अनेकशः अनुमोदना... अभिनंदन।

जिनमहोदय सागर सूरि चरणरज
मुनि पीयूष सागर

जैन विधि की अनमोल निधि

यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता है कि साध्वी डॉ. सौम्यगुणा श्रीजी म.सा. द्वारा ''जैन-विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन'' इस विषय पर सुविस्तृत शोध प्रबन्ध सम्पादित किया गया है। वस्तुतः किसी भी कार्य या व्यवस्था के सफल निष्पादन में विधि (Procedure) का अप्रतिम महत्त्व है। प्राचीन कालीन संस्कृतियाँ चाहे वह वैदिक हो या श्रमण, इससे अछूती नहीं रही। श्रमण संस्कृति में अग्रगण्य है– जैन संस्कृति। इसमें विहित विविध विधि-विधान वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं अध्यात्मिक जीवन के विकास में अपनी महती भूमिका अदा करते हैं। इसी तथ्य को प्रतिपादित करता है प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध।

इस शोध प्रबन्ध की प्रकाशन वेला में हम साध्वीश्री के कठिन प्रयत्न की आत्मिक अनुमोदना करते हैं। निःसंदेह, जैन विधि की इस अनमोल निधि से श्रावक-श्राविका, श्रमण-श्रमणी, विद्वान-विचारक सभी लाभान्वित होंगे। यह विश्वास करते हैं कि वर्तमान युवा पीढ़ी के लिए भी यह कृति अति प्रासंगिक होगी, क्योंकि इसके माध्यम से उन्हें आचार-पद्धति यानि विधि-विधानों का वैज्ञानिक पक्ष भी ज्ञात होगा और वह अधिक आचार निष्ठ बन सकेगी।

साध्वीश्री इसी प्रकार जिनशासन की सेवा में समर्पित रहकर स्व-पर विकास में उपयोगी बनें, यही मंगलकामना।

मुनि महेन्द्रसागर
1.2.13 भद्रावती

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्नेह नाद

भारतीय संस्कृति आचार प्रधान संस्कृति रही है। आचार की सात्त्विकता ही विचारों को सात्त्विक बनाती है, सदाचार ही सर्वांगीण विकास का मूल सूत्र है। अनाचार या दुराचार द्वारा आंशिक या शीघ्र सफलता प्राप्त भी हो जाए तो वह Temporary होती है।

जिस प्रकार व्यवहार जगत में Doctor, Engineer, Advocate आदि बनने के लिए प्रारम्भ से ही उसी क्षेत्र से सम्बन्धित अध्ययन करवाया जाता है तभी वह उस क्षेत्र में सफलता के शिखर को प्राप्त करता है। यह सब तो भौतिक उपलब्धियाँ है। आध्यात्मिक जगत की अपेक्षा विचार करें तो माता-पिता का प्रमुख दायित्व अपने बच्चों को सुसंस्कारी बनाना है। प्रदत्त संस्कारों के आधार पर ही उसके कुल, गौत्र, परिवार, राष्ट्र, नगर आदि की कल्पना की जाती है।

संस्कार किसी पर थोपे नहीं जा सकते या उनका आरोपण कहीं बाहर से नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार बीज को प्रारम्भ से ही खाद, पानी, रोशनी आदि दी जाती है तब वह विराट वृक्ष का रूप धारण करता है उसी प्रकार जन्म से पूर्व ही बालक में सत्संस्कारों का सिंचन करने पर वह मानवीयता आदि गुणों से ओत-प्रोत होता है।

माता-पिता का कर्त्तव्य मात्र बालक को जन्म देना ही नहीं अपितु उसे मानवोचित गुणों से सत्संस्कारित करना भी है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर भारतीय परम्परा में षोडश संस्कारों का विधान किया गया है जो एक मानव को मानव रूप में जीवंत रखने हेतु जन्म से मृत्यु तक सूर्य प्रकाश सम सहयोगी बनते हैं।

यदि महापुरुषों की जीवन यात्रा का अवलोकन किया जाए तो एक Common Factor सभी में नजर आता है कि उन्हें जन्म से ही माता-पिता ने उसी सांचे में ढाला। आज हमारे समाज की जो दशा हो रही है उसे देखकर संस्कार आरोपण की कमी स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। साध्वी सौम्यगुणाजी ने जैन समाज में लुप्त हो रही संस्कार आरोपण की क्रिया के पुनर्जागरण का अतुलनीय प्रयास किया है। इसके द्वारा सर्वप्रथम वैदिक रीति रिवाजों से हो रहे संस्कार विधानों को कम किया जा सकता है और इसी के साथ विदेशी संस्कारों के चढ़ते उफान को भी नियंत्रित किया जा सकता है। आज जिस स्वस्थ सामाजिक संरचना की आवश्यकता है उसमें संस्कार विधान प्रमुख सहयोगी हो सकता है।

सौम्याजी ने अपने अध्ययन, चिंतन एवं शोध परक दृष्टि के द्वारा इसे सप्रमाण ग्राह्य बनाया है। साध्वीजी इसी प्रकार श्रुत सागर के अमूल्य रत्नों की गवेषणा कर उन्हें जन-जन के लिए उपयोगी बनाए तथा जिनशासन के नभांगण को अपनी कृतियों से प्रकाशित एवं शोभित करें, यही मंगल कामना।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दीक्षा गुरु प्रवर्त्तिनी सज्जन श्रीजी म.सा.
एक परिचय

रजताभ रजकणों से रंजित राजस्थान असंख्य कीर्ति गाथाओं का वह रश्मि पुंज है जिसने अपनी आभा के द्वारा संपूर्ण धरा को देदीप्यमान किया है। इतिहास के पन्नों में जिसकी पावन पाण्डुलिपियाँ अंकित है ऐसे रंगीले राजस्थान का विश्रुत नगर है जयपुर। इस जौहरियों की नगरी ने अनेक दिव्य रत्न इस वसुधा को अर्पित किए। उन्हीं में से कोहिनूर बनकर जैन संघ की आभा को दीप्त करने वाला नाम है– पूज्या प्रवर्त्तिनी सज्जन श्रीजी म.सा.।

आपश्री इस कलियुग में सतयुग का बोध कराने वाली सहज साधिका थी। चतुर्थ आरे का दिव्य अवतार थी। जयपुर की पुण्य धरा से आपका विशेष सम्बन्ध रहा है। आपके जीवन की अधिकांश महत्त्वपूर्ण घटनाएँ जैसे– जन्म, विवाह, दीक्षा, देह विलय आदि इसी वसुधा की साक्षी में घटित हुए।

आपका जीवन प्राकृतिक संयोगों का अनुपम उदाहरण था। जैन परम्परा के तेरापंथी आम्नाय में आपका जन्म, स्थानकवासी परम्परा में विवाह एवं मन्दिरमार्गी खरतर परम्परा में प्रव्रज्या सम्पन्न हुई। आपके जीवन का यही त्रिवेणी संगम रत्नत्रय की साधना के रूप में जीवन्त हुआ।

आपका जन्म वैशाखी बुद्ध पूर्णिमा के पर्व दिवस के दिन हुआ। आप उन्हीं के समान तत्त्ववेत्ता, अध्यात्म योगी, प्रज्ञाशील साधक थी। सज्जनता, मधुरता, सरलता, सहजता, संवेदनशीलता, परदुःखकातरता आदि गुण तो आप में जन्मतः परिलक्षित होते थे। इसी कारण आपका नाम सज्जन रखा गया और यही नाम दीक्षा के बाद भी प्रवर्त्तित रहा।

संयम ग्रहण हेतु दीर्घ संघर्ष करने के बावजूद भी आपने विनय, मृदुता, साहस एवं मनोबल डिगने नहीं दिया। अन्ततः 35 वर्ष की आयु में पूज्या प्रवर्त्तिनी ज्ञान श्रीजी म.सा. के चरणों में भागवती दीक्षा अंगीकार की।

दीवान परिवार के राजशाही ठाठ में रहने के बाद भी संयमी जीवन का हर छोटा-बड़ा कार्य आप अत्यंत सहजता पूर्वक करती थी। छोटे-बड़े सभी की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सेवा हेतु सदैव तत्पर रहती थी। आपका जीवन सद्गुणों से युक्त विद्वत्ता की दिव्य माला था। आप में विद्यमान गुण शास्त्र की निम्न पंक्तियों को चरितार्थ करते थे–

शीलं परहितासक्ति, रनुत्सेकः क्षमा धृतिः।
अलोभश्चेति विद्यायाः, परिपाकोज्ज्वलं फलः ।।

अर्थात शील, परोपकार, विनय, क्षमा, धैर्य, निर्लोभता आदि विद्या की पूर्णता के उज्ज्वल फल हैं।

अहिंसा, तप साधना, सत्यनिष्ठा, गम्भीरता, विनम्रता एवं विद्वानों के प्रति असीम श्रद्धा उनकी विद्वत्ता की परिधि में शामिल थे। वे केवल पुस्तकें पढ़कर नहीं अपितु उन्हें आचरण में उतार कर महान बनी थी। आपको शब्द और स्वर की साधना का गुण भी सहज उपलब्ध था।

दीक्षा अंगीकार करने के पश्चात आप 20 वर्षों तक गुरु एवं गुरु भगिनियों की सेवा में जयपुर रही। तदनन्तर कल्याणक भूमियों की स्पर्शना हेतु पूर्वी एवं उत्तरी भारत की पदयात्रा की। आपश्री ने 65 वर्ष की आयु और उसमें भी ज्येष्ठ महीने की भयंकर गर्मी में सिद्धाचल तीर्थ की नव्वाणु यात्रा कर एक नया कीर्तिमान स्थापित किया।

राजस्थान, गुजरात, उत्तर प्रदेश, बंगाल, बिहार आदि क्षेत्रों में धर्म की सरिता प्रवाहित करते हुए भी आप सदैव ज्ञानदान एवं ज्ञानपान में संलग्न रहती थी। इसी कारण लोक परिचय, लोकैषणा, लोकाशंसा आदि से अत्यंत दूर रही।

आपश्री प्रखर वक्ता, श्रेष्ठ साहित्य सर्जिका, तत्त्व चिंतिका, आशु कवयित्री एवं बहुभाषाविद थी। विद्वदवर्ग में आप सर्वोत्तम स्थान रखती थी। हिन्दी, गुजराती, मारवाड़ी, संस्कृत, प्राकृत, अंग्रेजी, उर्दू, पंजाबी आदि अनेक भाषाओं पर आपका सर्वाधिकार था। जैन दर्शन के प्रत्येक विषय का आपको मर्मस्पर्शी ज्ञान था। आप ज्योतिष, व्याकरण, अलंकार, साहित्य, इतिहास, शकुन शास्त्र, योग आदि विषयों की भी परम वेत्ता थी।

उपलब्ध सहस्र रचनाएँ तथा अनुवादित सम्पादित एवं लिखित साहित्य आपकी कवित्व शक्ति और विलक्षण प्रज्ञा को प्रकट करते हैं।

प्रभु दर्शन में तन्मयता, प्रतिपल आत्म रमणता, स्वाध्याय मग्नता, अध्यात्म लीनता, निस्पृहता, अप्रमत्तता, पूज्यों के प्रति लघुता एवं छोटों के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रति मृदुता आदि गुण आपश्री में बेजोड़ थे। हठवाद, आग्रह, तर्क-वितर्क, अहंकार, स्वार्थ भावना का आप में लवलेश भी नहीं था। सभी के प्रति समान स्नेह एवं मृदु व्यवहार, निरपेक्षता एवं अंतरंग विरक्तता के कारण आप सर्वज़न प्रिय और आदरणीय थी।

आपकी गुण गरिमा से प्रभावित होकर गुरुजनों एवं विद्वानों द्वारा आपको आगम ज्योति, शास्त्र मर्मज्ञा, आशु कवयित्री, अध्यात्म योगिनी आदि सार्थक पदों से अलंकृत किया गया। वहीं सकल श्री संघ द्वारा आपको साध्वी समुदाय में सर्वोच्च प्रवर्त्तिनी पद से भी विभूषित किया गया।

आपश्री के उदात्त व्यक्तित्व एवं कर्मशील कर्तृत्व से प्रभावित हजारों श्रद्धालुओं की आस्था को 'श्रमणी' अभिनन्दन ग्रन्थ के रूप में लोकार्पित किया गया। खरतरगच्छ परम्परा में अब तक आप ही एक मात्र ऐसी साध्वी हैं जिन पर अभिनन्दन ग्रन्थ लिखा गया है।

आप में समस्त गुण चरम सीमा पर परिलक्षित होते थे। कोई सद्गुण ऐसा नहीं था जिसके दर्शन आप में नहीं होते हो। जिसने आपको देखा वह आपका ही होकर रह गया।

आपके निरपेक्ष, निस्पृह एवं निरासक्त जीवन की पूर्णता जैन एवं जैनेतर दोनों परम्पराओं में मान्य, शाश्वत आराधना तिथि **'मौन एकादशी'** पर्व के दिन हुई। इस पावन तिथि के दिन आपने देह का त्याग कर सदा के लिए मौन धारण कर लिया। आपके इस समाधिमरण को श्रेष्ठ मरण के रूप में सिद्ध करते हुए उपाध्याय मणिप्रभ सागरजी म.सा. ने लिखा है–

महिमा तेरी क्या गाये हम, दिन कैसा स्वीकार किया।
मौन ग्यारस माला जपते, मौन सर्वथा धार लिया
गुरुवर्य्या तुम अमर रहोगी, साधक कभी न मरते हैं।।

आज परम पूज्या संघरत्ना शशिप्रभा श्रीजी म.सा. आपके मंडल का सम्यक संचालन कर रही हैं। यद्यपि आपका विचरण क्षेत्र अल्प रहा परंतु आज आपका नाम दिग्दिगन्त व्याप्त है। आपके नाम स्मरण मात्र से ही हर प्रकार की Tension एवं विपदाएँ दूर हो जाती है।

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शिक्षा गुरु पूज्या शशिप्रभा श्रीजी म.सा.
एक परिचय

'धोरों की धरती' के नाम से विख्यात राजस्थान अगणित यशोगाथाओं का उद्भव स्थल है। इस बहुरत्ना वसुंधरा पर अनेकशः वीर योद्धाओं, परमात्म भक्तों एवं ऋषि-महर्षियों का जन्म हुआ है। इसी रंग-रंगीले राजस्थान की परम पुण्यवंती साधना भूमि है श्री फलौदी। नयन रम्य जिनालय, दादाबाड़ियों एवं स्वाध्याय गुंज से शोभायमान उपाश्रय इसकी ऐतिहासिक धर्म समृद्धि एवं शासन समर्पण के प्रबल प्रतीक हैं। इस मातृभूमि ने अपने उर्वरा से कई अमूल्य रत्न जिनशासन की सेवा में अर्पित किए हैं। चाहे फिर वह साधु-साध्वी के रूप में हो या श्रावक-श्राविका के रूप में। वि.सं. 2001 की भाद्रकृष्णा अमावस्या को धर्मनिष्ठ दानवीर ताराचंदजी एवं सरल स्वभावी बालादेवी गोलेछा के गृहांगण में एक बालिका की किलकारियां गूंज रही थी। अमावस्या के दिन उदित हुई यह किरण भविष्य में जिनशासन की अनुपम किरण बनकर चमकेगी यह कौन जानता था? कहते हैं सज्जनों के सम्पर्क में आने से दुर्जन भी सज्जन बन जाते हैं तब सम्यकदृष्टि जीव तो निःसन्देह सज्जन का संग मिलने पर स्वयमेव ही महानता को प्राप्त कर लेते हैं।

किरण में तप त्याग और वैराग्य के भाव जन्मजात थे। इधर पारिवारिक संस्कारों ने उसे अधिक उफान दिया। पूर्वोपार्जित सत्संस्कारों का जागरण हुआ और वह भुआ महाराज उपयोग श्रीजी के पथ पर अग्रसर हुई। अपने बाल मन एवं कोमल तन को गुरु चरणों में समर्पित कर 14 वर्ष की अल्पायु में ही किरण एक तेजस्वी सूर्य रश्मि से शीतल शशि के रूप में प्रवर्त्तित हो गई। आचार्य श्री कवीन्द्र सागर सूरीश्वरजी म.सा. की निश्रा में मरूधर ज्योति मणिप्रभा श्रीजी एवं आपकी बड़ी दीक्षा एक साथ सम्पन्न हुई।

इसे पुण्य संयोग कहें या गुरु कृपा की फलश्रुति? आपने 32 वर्ष के गुरु सान्निध्य काल में मात्र एक चातुर्मास गुरुवर्य्याश्री से अलग किया और वह भी पूज्या प्रवर्त्तिनी विचक्षण श्रीजी म.सा. की आज्ञा से। 32 वर्ष की सान्निध्यता में आप कुल 32 महीने भी गुरु सेवा से वंचित नहीं रही। आपके जीवन की यह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विशेषता पूज्यवरों के प्रति सर्वात्मना समर्पण, अगाध सेवा भाव एवं गुरुकुल वास के महत्त्व को इंगित करती है।

आपश्री सरलता, सहजता, सहनशीलता, सहृदयता, विनम्रता, सहिष्णुता, दीर्घदर्शिता आदि अनेक दिव्य गुणों की पुंज हैं। संयम पालन के प्रति आपकी निष्ठा एवं मनोबल की दृढ़ता यह आपके जिन शासन समर्पण की सूचक है। आपका निश्छल, निष्कपट, निर्दम्भ व्यक्तित्व जनमानस में आपकी छवि को चिरस्थापित करता है। आपश्री का बाह्य आचार जितना अनुमोदनीय है, आंतरिक भावों की निर्मलता भी उतनी ही अनुशंसनीय है। आपकी इसी गुणवत्ता ने कई पथ भ्रष्टों को भी धर्माभिमुख किया है। आपका व्यवहार हर वर्ग के एवं हर उम्र के व्यक्तियों के साथ एक समान रहता है। इसी कारण आप आबाल वृद्ध सभी में समादृत हैं। हर कोई बिना किसी संकोच या हिचक के आपके समक्ष अपने मनोभाव अभिव्यक्त कर सकता है।

शास्त्रों में कहा गया है 'सन्त हृदय नवनीत समाना'– आपका हृदय दूसरों के लिए मक्खन के समान कोमल और सहिष्णु है। वहीं इसके विपरीत आप स्वयं के लिए वज्र से भी अधिक कठोर हैं। आपश्री अपने नियमों के प्रति अत्यन्त दृढ़ एवं अतुल मनोबली हैं। आज जीवन के लगभग सत्तर बसंत पार करने के बाद भी आप युवाओं के समान अप्रमत्त, स्फुर्तिमान एवं उत्साही रहती हैं। विहार में आपश्री की गति समस्त साध्वी मंडल से अधिक होती है।

आहार आदि शारीरिक आवश्यकताओं को आपने अल्पायु से ही सीमित एवं नियंत्रित कर रखा है। नित्य एकाशना, पुरिमड्ढ प्रत्याख्यान आदि के प्रति आप अत्यंत चुस्त हैं। जिस प्रकार सिंह अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने हेतु पूर्णतः सचेत एवं तत्पर रहता है वैसे ही आपश्री विषय-कषाय रूपी शत्रुओं का दमन करने में सतत जागरूक रहती हैं। विषय वर्धक अधिकांश विगय जैसे– मिठाई, कढ़ाई, दही आदि का आपके सर्वथा त्याग है।

आपश्री आगम, धर्म दर्शन, संस्कृत, प्राकृत, गुजराती आदि विविध विषयों की ज्ञाता एवं उनकी अधिकारिणी है। व्यावहारिक स्तर पर भी आपने एम.ए. के समकक्ष दर्शनाचार्य की परीक्षा उत्तीर्ण की है। अध्ययन के संस्कार आपको गुरु परम्परा से वंशानुगत रूप में प्राप्त हुए हैं। आपकी निश्रागत गुरु भगिनियों एवं शिष्याओं के अध्ययन, संयम पालन तथा आत्मोकर्ष के प्रति आप सदैव सचेष्ट

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रहती हैं। आपश्री एक सफल अनुशास्ता हैं यही वजह है कि आपकी देखरेख में सज्जन मण्डल की फुलवारी उन्नति एवं उत्कर्ष को प्राप्त कर रही हैं।

तप और जप आपके जीवन का अभिन्न अंग है। 'ॐ ह्रीं अर्हं' पद की रटना प्रतिपल आपके रोम-रोम में गुंजायमान रहती है। जीवन की कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी आप तदनुकूल मनःस्थिति बना लेती हैं। आप हमेशा कहती हैं कि

जो-जो देखा वीतराग ने, सो सो होसी वीरा रे।
अनहोनी ना होत जगत में, फिर क्यों होत अधीरा रे ।।

आपकी परमात्म भक्ति एवं गुरुदेव के प्रति प्रवर्धमान श्रद्धा दर्शनीय है। आपका आगमानुरूप वर्तन आपको निसन्देह महान पुरुषों की कोटी में उपस्थित करता है। आपश्री एक जन प्रभावी वक्ता एवं सफल शासन सेविका हैं।

आपश्री की प्रेरणा से जिनशासन की शाश्वत परम्परा को अक्षुण्ण रखने में सहयोगी अनेकशः जिनमंदिरों का निर्माण एवं जीर्णोद्धार हुआ है। श्रुत साहित्य के संवर्धन में आपश्री के साथ आपकी निश्रारत साध्वी मंडल का भी विशिष्ट योगदान रहा है। अब तक 25-30 पुस्तकों का लेखन-संपादन आपकी प्रेरणा से साध्वी मंडल द्वारा हो चुका है एवं अनेक विषयों पर कार्य अभी भी गतिमान है।

भारत के विविध क्षेत्रों का पद भ्रमण करते हुए आपने अनेक क्षेत्रों में धर्म एवं ज्ञान की ज्योति जागृत की है। राजस्थान, गुजरात, मध्यप्रदेश, छ.ग., यू.पी., बिहार, बंगाल, तमिलनाडु, कर्नाटक, महाराष्ट्र, झारखंड, आन्ध्रप्रदेश आदि अनेक प्रान्तों की यात्रा कर आपने उन्हें अपनी पदरज से पवित्र किया है। इन क्षेत्रों में हुए आपके ऐतिहासिक चातुर्मासों की चिरस्मृति सभी के मानस पटल पर सदैव अंकित रहेगी। अन्त में यही कहूँगी-

चिन्तन में जिसके हो क्षमता, वाणी में सहज मधुरता हो ।
आचरण में संयम झलके, वह श्रद्धास्पद बन जाता है।
जो अन्तर में ही रमण करें, वह सन्त पुरुष कहलाता है।
जो भीतर में ही भ्रमण करें, वह सन्त पुरुष कहलाता है।।

ऐसी विरल साधिका आर्यारत्न पूज्याश्री के चरण सरोजों में मेरा जीवन सदा भ्रमरवत् गुंजन करता रहे, यही अन्तरकामना।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कैसे पाई सौम्याजी ने अपनी मंजिल

साध्वी प्रियदर्शनाश्री

आज सौम्यगुणाजी को सफलता के इस उत्तुंग शिखर पर देखकर ऐसा लग रहा है मानो चिर रात्रि के बाद अब यह मनभावन अरुणिम वेला उदित हुई हो। आज इस सफलता के पीछे रहा उनका अथक परिश्रम, अनेकशः बाधाएँ, विषय की दुरूहता एवं दीर्घ प्रयास के विषय में सोचकर ही मन अभिभूत हो जाता है। जिस प्रकार किसान बीज बोने से लेकर फल प्राप्ति तक अनेक प्रकार से स्वयं को तपाता एवं खपाता है और तब जाकर उसे फल की प्राप्ति होती है या फिर जब कोई माता नौ महीने तक गर्भ में बालक को धारण करती है तब उसे मातृत्व सुख की प्राप्ति होती है ठीक उसी प्रकार सौम्यगुणाजी ने भी इस कार्य की सिद्धि हेतु मात्र एक या दो वर्ष नहीं अपितु सत्रह वर्ष तक निरन्तर कठिन साधना की है। इसी साधना की आँच में तपकर आज 23 Volumes के बृहद् रूप में इनका स्वर्णिम कार्य जन ग्राह्य बन रहा है।

आज भी एक-एक घटना मेरे मानस पटल पर फिल्म के रूप में उभर रही है। ऐसा लगता है मानो अभी की ही बात हो, सौम्याजी को हमारे साथ रहते हुए 28 वर्ष होने जा रहे हैं और इन वर्षों में इन्हें एक सुन्दर सलोनी गुड़िया से एक विदुषी शासन प्रभाविका, गूढ़ान्वेषी साधिका बनते देखा है। एक पाँचवीं पढ़ी हुई लड़की आज D.LIt की पदवी से विभूषित होने वाली है। वह भी कोई सामान्य D.Lit. नहीं, 22-23 भागों में किया गया एक बृहद् कार्य और जिसका एक-एक भाग एक शोध प्रबन्ध (Thesis) के समान है। अब तक शायद ही किसी भी शोधार्थी ने डी.लिट् कार्य इतने अधिक Volumes में सम्पन्न किया होगा। लाडनूं विश्वविद्यालय की प्रथम डी.लिट्. शोधार्थी सौम्याजी के इस कार्य ने विश्वविद्यालय के ऐतिहासिक कार्यों में स्वर्णिम पृष्ठ जोड़ते हुए श्रेष्ठतम उदाहरण प्रस्तुत किया है।

सत्रह वर्ष पहले हम लोग पूज्या गुरुवर्य्याश्री के साथ पूर्वी क्षेत्र की स्पर्शना कर रहे थे। बनारस में डॉ. सागरमलजी द्वारा आगम ग्रन्थों के गूढ़ रहस्यों को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जानने का यह एक स्वर्णिम अवसर था अतः सन् 1995 में गुर्वाज्ञा से– मैं, सौम्याजी एवं नूतन दीक्षित साध्वीजी ने भगवान पार्श्वनाथ की जन्मभूमि वाराणसी की ओर अपने कदम बढ़ाए। शिखरजी आदि तीर्थों की यात्रा करते हुए हम लोग धर्म नगरी काशी पहुँचे।

वाराणसी स्थित पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वहाँ के मन्दिरों एवं पंडितों के मंत्रनाद से दूर नीरव वातावरण में अद्भुत शांति का अनुभव करवा रहा था। अध्ययन हेतु मनोज्ञ एवं अनुकूल स्थान था। संयोगवश मरूधर ज्योति पूज्या मणिप्रभा श्रीजी म.सा. की निश्रावर्ती, मेरी बचपन की सखी पूज्या विद्युतप्रभा श्रीजी आदि भी अध्ययनार्थ वहाँ पधारी थी।

डॉ. सागरमलजी से विचार विमर्श करने के पश्चात आचार्य जिनप्रभसूरि रचित विधिमार्गप्रपा पर शोध करने का निर्णय लिया गया। सन् 1973 में पूज्य गुरुवर्य्या श्री सज्जन श्रीजी म.सा. बंगाल की भूमि पर पधारी थी। स्वाध्याय रसिक आगमज्ञ श्री अगरचन्दजी नाहटा, श्री भँवलालजी नाहटा से पूज्याश्री की पारस्परिक स्वाध्याय चर्चा चलती रहती थी। एकदा पूज्याश्री ने कहा कि मेरी हार्दिक इच्छा है जिनप्रभसूरिकृत विधिमार्गप्रपा आदि ग्रन्थों का अनुवाद हो। पूज्याश्री योग-संयोग वश उसका अनुवाद नहीं कर पाई। विषय का चयन करते समय मुझे गुरुवर्य्या श्री की वही इच्छा याद आई या फिर यह कहूं तो अतिशयोक्ति नहीं होगी कि सौम्याजी की योग्यता देखते हुए शायद पूज्याश्री ने ही मुझे इसकी अन्तस् प्रेरणा दी।

यद्यपि यह ग्रंथ विधि-विधान के क्षेत्र में बहु उपयोगी था परन्तु प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में आबद्ध होने के कारण उसका हिन्दी अनुवाद करना आवश्यक हो गया। सौम्याजी के शोध की कठिन परीक्षाएँ यहीं से प्रारम्भ हो गई। उन्होंने सर्वप्रथम प्राकृत व्याकरण का ज्ञान किया। तत्पश्चात दिन-रात एक कर पाँच महीनों में ही इस कठिन ग्रंथ का अनुवाद अपनी क्षमता अनुसार कर डाला। लेकिन यहीं पर समस्याएँ समाप्त नहीं हुई। सौम्यगुणाजी जो कि राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर से दर्शनाचार्य (एम.ए.) थीं, बनारस में पी-एच.डी. हेतु आवेदन नहीं कर सकती थी। जिस लक्ष्य को लेकर आए थे वह कार्य पूर्ण नहीं होने से मन थोड़ा विचलित हुआ परन्तु विश्वविद्यालय के नियमों के कारण हम कुछ भी करने में असमर्थ थे अतः पूज्य गुरुवर्य्याश्री के चरणों में पहुँचने हेतु पुनः कलकत्ता की ओर प्रयाण किया। हमारा वह चातुर्मास संघ आग्रह के कारण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुनः कलकत्ता नगरी में हुआ। वहाँ से चातुर्मास पूर्णकर धर्मानुरागी जनों को शीघ्र आने का आश्वासन देते हुए पूज्याश्री के साथ जयपुर की ओर विहार किया। जयपुर में आगम ज्योति, पूज्या गुरुवर्य्या श्री सज्जन श्रीजी म.सा. की समाधि स्थली मोहनबाड़ी में मूर्ति प्रतिष्ठा का आयोजन था अतः उग्र विहार कर हम लोग जयपुर पहुँचें। बहुत ही सुन्दर और भव्य रूप में कार्यक्रम सम्पन्न हुआ। जयपुर संघ के अति आग्रह से पूज्याश्री एवं सौम्यगुणाजी का चातुर्मास जयपुर ही हुआ। जयपुर का स्वाध्यायी श्रावक वर्ग सौम्याजी से काफी प्रभावित था। यद्यपि बनारस में पी-एच.डी. नहीं हो पाई थी किन्तु सौम्याजी का अध्ययन आंशिक रूप में चालू था। उसी बीच डॉ. सागरमलजी के निर्देशानुसार जयपुर संस्कृत विश्वविद्यालय के प्रो. डॉ. शीतलप्रसाद जैन के मार्गदर्शन में धर्मानुरागी श्री नवरतनमलजी श्रीमाल के डेढ़ वर्ष के अथक प्रयास से उनका रजिस्ट्रेशन हुआ। सामाजिक जिम्मेदारियों को संभालते हुए उन्होंने अपने कार्य को गति दी।

पी-एच.डी. का कार्य प्रारम्भ तो कर लिया परन्तु साधु जीवन की मर्यादा, विषय की दुरूहता एवं शोध आदि के विषय में अनुभवहीनता से कई बाधाएँ उत्पन्न होती रही। निर्देशक महोदय दिगम्बर परम्परा के होने से श्वेताम्बर विधि-विधानों के विषय में उनसे भी विशेष सहयोग मिलना मुश्किल था अतः सौम्याजी को जो करना था अपने बलबूते पर ही करना था। यह सौम्याजी ही थी जिन्होंने इतनी बाधाओं और रूकावटों को पार कर इस शोध कार्य को अंजाम दिया।

जयपुर के पश्चात कुशल गुरुदेव की प्रत्यक्ष स्थली मालपुरा में चातुर्मास हुआ। वहाँ पर लाइब्रेरी आदि की असुविधाओं के बीच भी उन्होंने अपने कार्य को पूर्ण करने का प्रयास किया। तदनन्तर जयपुर में एक महीना रहकर महोपाध्याय विनयसागरजी से इसका करेक्शन करवाया तथा कुछ सामग्री संशोधन हेतु डॉ. सागरमलजी को भेजी। यहाँ तक तो उनकी कार्य गति अच्छी रही किन्तु इसके बाद लम्बे विहार होने से उनका कार्य प्रायः अवरूद्ध हो गया। फिर अगला चातुर्मास पालीताणा हुआ। वहाँ पर आने वाले यात्रीगणों की भीड़ और तप साधना-आराधना में अध्ययन नहींवत ही हो पाया। पुनः साधु जीवन के नियमानुसार एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर कदम बढ़ाए। रायपुर (छ.ग.) जाने हेतु लम्बे विहारों के चलते वे अपने कार्य को किंचित भी संपादित नहीं कर पा रही थी। रायपुर पहुँचते-पहुँचते Registration की अवधि अन्तिम चरण तक पहुँच चुकी थी अतः चातुर्मास के पश्चात मुदितप्रज्ञा श्रीजी और इन्हें रायपुर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

छोड़कर शेष लोगों ने अन्य आसपास के क्षेत्रों की स्पर्शना की। रायपुर निवासी सुनीलजी बोथरा के सहयोग से दो-तीन मास में पूरे काम को शोध प्रबन्ध का रूप देकर उसे सन् 2001 में राजस्थान विश्वविद्यालय में प्रस्तुत किया गया। येन केन प्रकारेण इस शोध कार्य को इन्होंने स्वयं की हिम्मत से पूर्ण कर ही दिया।

तदनन्तर 2002 का बैंगलोर चातुर्मास सम्पन्न कर मालेगाँव पहुँचे। वहाँ पर संघ के प्रयासों से चातुर्मास के अन्तिम दिन उनका शोध वायवा संपन्न हुआ और उन्हें कुछ ही समय में पी-एच.डी. की पदवी विश्वविद्यालय द्वारा प्रदान की गई। सन् 1995 बनारस में प्रारम्भ हुआ कार्य सन् 2003 मालेगाँव में पूर्ण हुआ। इस कालावधि के दौरान समस्त संघों को उनकी पी-एच.डी. के विषय में ज्ञात हो चुका था और विषय भी रुचिकर था अतः उसे प्रकाशित करने हेतु विविध संघों से आग्रह होने लगा। इसी आग्रह ने उनके शोध को एक नया मोड़ दिया। सौम्याजी कहती 'मेरे पास बताने को बहुत कुछ है, परन्तु वह प्रकाशन योग्य नहीं है' और सही मायने में शोध प्रबन्ध सामान्य जनता के लिए उतना सुगम नहीं होता अतः गुरुवर्य्या श्री के पालीताना चातुर्मास के दौरान विधिमार्गप्रपा के अर्थ का संशोधन एवं अवान्तर विधियों पर ठोस कार्य करने हेतु वे अहमदाबाद पहुँची। इसी दौरान पूज्य उपाध्याय श्री मणिप्रभसागरजी म.सा. ने भी इस कार्य का पूर्ण सर्वेक्षण कर उसमें अपेक्षित सुधार करवाए। तदनन्तर L.D. Institute के प्रोफेसर जितेन्द्र भाई, फिर कोबा लाइब्रेरी से मनोज भाई सभी के सहयोग से विधिमार्गप्रपा के अर्थ में रही त्रुटियों को सुधारते हुए उसे नवीन रूप दिया।

इसी अध्ययन काल के दौरान जब वे कोबा में विधि ग्रन्थों का आलोडन कर रही थी तब डॉ. सागरमलजी का बायपास सर्जरी हेतु वहाँ पदार्पण हुआ। सौम्याजी को वहाँ अध्ययनरत देखकर बोले– "आप तो हमारी विद्यार्थी हो, यहाँ क्या कर रही हो? शाजापुर पधारिए मैं यथासंभव हर सहयोग देने का प्रयास करूँगा।" यद्यपि विधि विधान डॉ. सागरमलजी का विषय नहीं था परन्तु उनकी ज्ञान प्रौढ़ता एवं अनुभव शीलता सौम्याजी को सही दिशा देने हेतु पर्याप्त थी। वहाँ से विधिमार्गप्रपा का नवीनीकरण कर वे गुरुवर्य्याश्री के साथ मुम्बई चातुर्मासार्थ गईं। महावीर स्वामी देरासर पायधुनी से विधिप्रपा का प्रकाशन बहुत ही सुन्दर रूप में हुआ।

किसी भी कार्य में बार-बार बाधाएँ आए तो उत्साह एवं प्रवाह स्वतः मन्द हो जाता है, परन्तु सौम्याजी का उत्साह विपरीत परिस्थितियों में भी वृद्धिंगत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रहा। मुम्बई का चातुर्मास पूर्णकर वे शाजापुर गईं। वहाँ जाकर डॉ. साहब ने डी.लिट करने का सुझाव दिया और लाडनूं विश्वविद्यालय के अन्तर्गत उन्हीं के निर्देशन में रजिस्ट्रेशन भी हो गया। यह लाडनूं विश्व भारती का प्रथम डी.लिट. रजिस्ट्रेशन था। सौम्याजी से सब कुछ ज्ञात होने के बाद मैंने उनसे कहा– प्रत्येक विधि पर अलग-अलग कार्य हो तो अच्छा है और उन्होंने वैसा ही किया। परन्तु जब कार्य प्रारम्भ किया था तब वह इतना विराट रूप ले लेगा यह अनुमान भी नहीं था। शाजापुर में रहते हुए इन्होंने छ:सात विधियों पर अपना कार्य पूर्ण किया। फिर गुर्वाज्ञा से कार्य को बीच में छोड़ पुनः गुरुवर्य्या श्री के पास पहुँची। जयपुर एवं टाटा चातुर्मास के सम्पूर्ण सामाजिक दायित्वों को संभालते हुए पूज्याश्री के साथ रही।

शोध कार्य पूर्ण रूप से रूका हुआ था। डॉ.साहब ने सचेत किया कि समयावधि पूर्णता की ओर है अत: कार्य शीघ्र पूर्ण करें तो अच्छा रहेगा वरना रजिस्ट्रेशन रद्द भी हो सकता है। अब एक बार फिर से उन्हें अध्ययन कार्य को गति देनी थी। उन्होंने लघु भगिनी मण्डल के साथ लाइब्रेरी युक्त शान्त-नीरव स्थान हेतु वाराणसी की ओर प्रस्थान किया। इस बार लक्ष्य था कि कार्य को किसी भी प्रकार से पूर्ण करना है। उनकी योग्यता देखते हुए श्री संघ एवं गुरुवर्य्या श्री उन्हें अब समाज के कार्यों से जोड़े रखना चाहते थे परंतु कठोर परिश्रम युक्त उनके विशाल शोध कार्य को भी सम्पन्न करवाना आवश्यक था। बनारस पहुँचकर इन्होंने मुद्रा विधि को छोटा कार्य जानकर उसे पहले करने के विचार से उससे ही कार्य को प्रारम्भ किया। देखते ही देखते उस कार्य ने भी एक विराट रूप ले लिया। उनका यह मुद्रा कार्य विश्वस्तरीय कार्य था जिसमें उन्होंने जैन, हिन्दू, बौद्ध, योग एवं नाट्य परम्परा की सहस्राधिक हस्त मुद्राओं पर विशेष शोध किया। यद्यपि उन्होंने दिन-रात परिश्रम कर इस कार्य को 6-7 महीने में एक बार पूर्ण कर लिया, किन्तु उसके विभिन्न कार्य तो अन्त तक चलते रहे। तत्पश्चात उन्होंने अन्य कुछ विषयों पर और भी कार्य किया। उनकी कार्यनिष्ठा देख वहाँ के लोग हतप्रभ रह जाते थे। संघ-समाज के बीच स्वयं बड़े होने के कारण नहीं चाहते हुए भी सामाजिक दायित्व निभाने ही पड़ते थे।

सिर्फ बनारस में ही नहीं रायपुर के बाद जब भी वे अध्ययन हेतु कहीं गई तो उन्हें ही बड़े होकर जाना पड़ा। सभी गुरु बहिनों का विचरण शासन कार्यों हेतु भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में होने से इस समस्या का सामना भी उन्हें करना ही था।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साधु जीवन में बड़े होकर रहना अर्थात संघ-समाज-समुदाय की समस्त गतिविधियों पर ध्यान रखना, जो कि अध्ययन करने वालों के लिए संभव नहीं होता परंतु साधु जीवन यानी विपरीत परिस्थितियों का स्वीकार और जो इन्हें पार कर आगे बढ़ जाता है वह जीवन जीने की कला का मास्टर बन जाता है। इस शोधकार्य ने सौम्याजी को विधि-विधान के साथ जीवन के क्षेत्र में भी मात्र मास्टर नहीं अपितु विशेषज्ञ बना दिया।

पूज्य बड़े म.सा. बंगाल के क्षेत्र में विचरण कर रहे थे। कोलकाता वालों की हार्दिक इच्छा सौम्याजी को बुलाने की थी। वैसे जौहरी संघ के पदाधिकारी श्री प्रेमचन्दजी मोघा एवं मंत्री मणिलालजी दुसाज शाजापुर से ही उनके चातुर्मास हेतु आग्रह कर रहे थे। अत: न चाहते हुए भी कार्य को अर्ध विराम दे उन्हें कलकत्ता आना पड़ा। शाजापुर एवं बनारस प्रवास के दौरान किए गए शोध कार्य का कम्पोज करवाना बाकी था और एक-दो विषयों पर शोध भी। परंतु ''जिसकी खाओ बाजरी उसकी बजाओ हाजरी'' अत: एक और अवरोध शोध कार्य में आ चुका था। गुरुवर्य्या श्री ने सोचा था कि चातुर्मास के प्रारम्भिक दो महीने के पश्चात इन्हें प्रवचन आदि दायित्वों से निवृत्त कर देंगे परंतु समाज में रहकर यह सब संभव नहीं होता।

चातुर्मास के बाद गुरुवर्य्या श्री तो शेष क्षेत्रों की स्पर्शना हेतु निकल पड़ी किन्तु उन्हें शेष कार्य को पूर्णकर अन्तिम स्वरूप देने हेतु कोलकाता ही रखा। कोलकाता जैसी महानगरी एवं चिर-परिचित समुदाय के बीच तीव्र गति से अध्ययन असंभव था अत: उन्होंने मौन धारण कर लिया और सप्ताह में मात्र एक घंटा लोगों से धर्म चर्चा हेतु खुला रखा। फिर भी सामाजिक दायित्वों से पूर्ण मुक्ति संभव नहीं थी। इसी बीच कोलकाता संघ के आग्रह से एवं अध्ययन हेतु अन्य सुविधाओं को देखते हुए पूज्याश्री ने इनका चातुर्मास कलकत्ता घोषित कर दिया। पूज्याश्री से अलग हुए सौम्याजी को करीब सात महीने हो चुके थे। चातुर्मास सम्मुख था और वे अपनी जिम्मेदारी पर प्रथम बार स्वतंत्र चातुर्मास करने वाली थी।

जेठ महीने की भीषण गर्मी में उन्होंने गुरुवर्य्याश्री के दर्शनार्थ जाने का मानस बनाया और ऊपर से मानसून सिना ताने खड़ा था। अध्ययन कार्य पूर्ण करने हेतु समयावधि की तलवार तो उनके ऊपर लटक ही रही थी। इन परिस्थितियों में उन्होंने 35-40 कि.मी. प्रतिदिन की रफ्तार से दुर्गापुर की तरफ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कदम बढ़ाए। कलकत्ता से दुर्गापुर और फिर पुन: कोलकाता की यात्रा में लगभग एक महीना पढ़ाई नहींवत हुई। यद्यपि गुरुवर्य्याश्री के साथ चातुर्मासिक कार्यक्रमों की जिम्मेदारियाँ इन्हीं की होती है फिर भी अध्ययन आदि के कारण इनकी मानसिकता चातुर्मास संभालने की नहीं थी और किसी दृष्टि से उचित भी था। क्योंकि सबसे बड़े होने के कारण प्रत्येक कार्यभार का वहन इन्हीं को करना था अत: दो माह तक अध्ययन की गति पर पुन: ब्रेक लग गया। पूज्या श्री हमेशा फरमाती है कि–

जो जो देखा वीतराग ने, सो-सो होसी वीरा रे।
अनहोनी ना होत जगत में, फिर क्यों होत अधीरा रे।।

सौम्याजी ने भी गुरु आज्ञा को शिरोधार्य कर संघ-समाज को समय ही नहीं अपितु भौतिकता में भटकते हुए मानव को धर्म की सही दिशा भी दिखाई। वर्तमान परिस्थितियों पर उनकी आम चर्चा से लोगों में धर्म को देखने का एक नया नजरिया विकसित हुआ। गुरुवर्य्याश्री एवं हम सभी को आन्तरिक आनंद की अनुभूति हो रही थी किन्तु सौम्याजी को वापस दुगुनी गति से अध्ययन में जुड़ना था। इधर कोलकाता संघ ने पूर्ण प्रयास किए फिर भी हिन्दी भाषा का कोई अच्छा कम्पोजर न मिलने से कम्पोजिंग कार्य बनारस में करवाया गया। दूरस्थ रहकर यह सब कार्य करवाना उनके लिए एक विषम समस्या थी। परंतु अब शायद वे इन सबके लिए सध गई थी, क्योंकि उनका यह कार्य ऐसी ही अनेक बाधाओं का सामना कर चुका था।

उधर सैंथिया चातुर्मास में पूज्याश्री का स्वास्थ्य अचानक दो-तीन बार बिगड़ गया। अत: वर्षावास पूर्णकर पूज्य गुरूवर्य्या श्री पुन: कोलकाता की ओर पधारी। सौम्याजी प्रसन्न थी क्योंकि गुरूवर्य्या श्री स्वयं उनके पास पधार रही थी। गुरुजनों की निश्रा प्राप्त करना हर विनीत शिष्य का मनेच्छित होता है। पूज्या श्री के आगमन से वे सामाजिक दायित्वों से मुक्त हो गई थी। अध्ययन के अन्तिम पड़ाव में गुरूवर्य्या श्री का साथ उनके लिए सुवर्ण संयोग था क्योंकि प्राय: शोध कार्य के दौरान पूज्याश्री उनसे दूर रही थी।

शोध समय पूर्णाहुति पर था। परंतु इस बृहद कार्य को इतनी विषमताओं के भंवर में फँसकर पूर्णता तक पहुँचाना एक कठिन कार्य था। कार्य अपनी गति से चल रहा था और समय अपनी धुरी पर। सबमिशन डेट आने वाली थी किन्तु कम्पोजिंग एवं प्रूफ रीडिंग आदि का काफी कार्य शेष था।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूज्याश्री के प्रति अनन्य समर्पित श्री विजयेन्द्रजी संखलेचा को जब इस स्थिति के बारे में ज्ञात हुआ तो उन्होंने युनिवर्सिटी द्वारा समयावधि बढ़ाने हेतु अर्जी पत्र देने का सुझाव दिया। उनके हार्दिक प्रयासों से 6 महीने का एक्सटेंशन प्राप्त हुआ। इधर पूज्या श्री तो शंखेश्वर दादा की प्रतिष्ठा सम्पन्न कर अन्य क्षेत्रों की ओर बढ़ने की इच्छुक थी। परंतु भविष्य के गर्भ में क्या छुपा है यह कोई नहीं जानता। कुछ विशिष्ट कारणों के चलते कोलकाता भवानीपुर स्थित शंखेश्वर मन्दिर की प्रतिष्ठा चातुर्मास के बाद होना निश्चित हुआ। अत: अब आठ-दस महीने तक बंगाल विचरण निश्चित था। सौम्याजी को अप्रतिम संयोग मिला था कार्य पूर्णता के लिए।

शासन देव उनकी कठिन से कठिन परीक्षा ले रहा था। शायद विषमताओं की अग्नि में तपकर वे सौम्याजी को खरा सोना बना रहे थे। कार्य अपनी पूर्णता की ओर पहुँचता इसी से पूर्व उनके द्वारा लिखित 23 खण्डों में से एक खण्ड की मूल कॉपी गुम हो गई। पुन: एक खण्ड का लेखन और समयावधि की अल्पता ने समस्याओं का चक्रव्यूह सा बना दिया। कुछ भी समझ में नहीं आ रहा था। जिनपूजा क्रिया विधानों का एक मुख्य अंग है अत: उसे गौण करना या छोड़ देना भी संभव नहीं था। चांस लेते हुए एक बार पुन: Extension हेतु निवेदन पत्र भेजा गया। मुनि जीवन की कठिनता एवं शोध कार्य की विशालता के मद्देनजर एक बार पुन: चार महीने की अवधि युनिवर्सिटी के द्वारा प्राप्त हुई।

शंखेश्वर दादा की प्रतिष्ठा निमित्त सम्पूर्ण साध्वी मंडल का चातुर्मास बकुल बगान स्थित लीलीजी मणिलालजी सुखानी के नूतन बंगले में होना निश्चित हुआ।

पूज्याश्री ने खडगपुर, टाटानगर आदि क्षेत्रों की ओर विहार किया। पाँच-छह साध्वीजी अध्ययन हेतु पौशाल में ही रूके थे। श्री जिनरंगसूरि पौशाल कोलकाता बड़ा बाजार में स्थित है। साधु-साध्वियों के लिए यह अत्यंत शाताकारी स्थान है। सौम्याजी को बनारस से कोलकाता लाने एवं अध्ययन पूर्ण करवाने में पौशाल के ट्रस्टियों की विशेष भूमिका रही है। सौम्याजी ने अपना अधिकांश अध्ययन काल वहाँ व्यतीत किया।

ट्रस्टीगण श्री कान्तिलालजी, कमलचंदजी, विमलचंदजी, मणिलालजी आदि ने भी हर प्रकार की सुविधाएँ प्रदान की। संघ-समाज के सामान्य दायित्वों से बचाए रखा। इसी अध्ययन काल में बीकानेर हाल कोलकाता निवासी श्री

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

खेमचंदजी बांठिया ने आत्मीयता पूर्वक सेवाएँ प्रदान कर इन लोगों को निश्चिन्त रखा। इसी तरह अनन्य सेवाभावी श्री चन्द्रकुमारजी मुणोत (लालाबाबू) जो सौम्याजी को बहनवत मानते हैं उन्होंने एक भाई के समान उनकी हर आवश्यकता का ध्यान रखा। कलकत्ता संघ सौम्याजी के लिए परिवारवत ही हो गया था। सम्पूर्ण संघ की एक ही भावना थी कि उनका अध्ययन कोलकाता में ही पूर्ण हो।

पूज्याश्री टाटानगर से कोलकाता की ओर पधार रही थी। सुयोग्या साध्वी सम्यग्दर्शनाजी उग्र विहार कर गुरुवर्य्याश्री के पास पहुँची थी। सौम्याजी निश्चिंत थी कि इस बार चातुर्मासिक दायित्व सुयोग्या सम्यग दर्शनाजी महाराज संभालेंगे। वे अपना अध्ययन उचित समयावधि में पूर्ण कर लेंगे। परंतु परिस्थिति विशेष से सम्यगजी महाराज का चातुर्मास खडगपुर ही हो गया।

सौम्याजी की शोधयात्रा में संघर्षों की समाप्ति ही नहीं हो रही थी। पुस्तक लेखन, चातुर्मासिक जिम्मेदारियाँ और प्रतिष्ठा की तैयारियाँ कोई समाधान दूर-दूर तक नजर नहीं आ रहा था। अध्ययन की महत्ता को समझते हुए पूज्याश्री एवं अमिताजी सुखानी ने उन्हें चातुर्मासिक दायित्वों से निवृत्त रहने का अनुनय किया किन्तु गुरु की शासन सेवा में सहयोगी बनने के लिए इन्होंने दो महीने गुरुवर्य्या श्री के साथ चातुर्मासिक दायित्वों का निर्वाह किया। फिर वह अपने अध्ययन में जुट गई।

कई बार मन में प्रश्न उठता कि हमारी प्यारी सौम्या इतना साहस कहाँ से लाती है। किसी कवि की पंक्तियाँ याद आ रही है–

सूरज से कह दो बेशक वह, अपने घर आराम करें ।
चाँद सितारे जी भर सोएं, नहीं किसी का काम करें ।
अगर अमावस से लड़ने की जिद कोई कर लेता है ।
तो सौम्य गुणा सा जुगनु सारा, अंधकार हर लेता है ।।

जिन पूजा एक विस्तृत विषय है। इसका पुनर्लेखन तो नियत अवधि में हो गया परंतु कम्पोजिंग आदि नहीं होने से शोध प्रबंध के तीसरे एवं चौथे भाग को तैयार करने के लिए समय की आवश्यकता थी। अब तीसरी बार लाडनूं विश्वविद्यालय से Extension मिलना असंभवं प्रतीत हो रहा था।

श्री विजयेन्द्रजी संखलेचा समस्त परिस्थितियों से अवगत थे। उन्होंने पूज्य गुरूवर्य्या श्री से निवेदन किया कि सौम्याजी को पूर्णतः निवृत्ति देकर कार्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शीघ्रातिशीघ्र करवाया जाए। विश्वविद्यालय के तत्सम्बन्धी नियमों के बारे में पता करके डेढ़ महीने की अन्तिम एवं विशिष्ट मौहलत दिलवाई। अब देरी होने का मतलब था Rejection of Work by University अत: त्वरा गति से कार्य चला।

सौम्याजी पर गुरुजनों की कृपा अनवरत रही है। पूज्य गुरूवर्य्या सज्जन श्रीजी म.सा. के प्रति वह विशेष श्रद्धा प्रणत हैं। अपने हर शुभ कर्म का निमित्त एवं उपादान उन्हें ही मानती हैं। इसे साक्षात गुरु कृपा की अनुश्रुति ही कहना होगा कि उनके समस्त कार्य स्वत: ग्यारस के दिन सम्पन्न होते गए। सौम्याजी की आन्तरिक इच्छा थी कि पूज्याश्री को समर्पित उनकी कृति पूज्याश्री की पुण्यतिथि के दिन विश्वविद्यालय में Submit की जाए और निमित्त भी ऐसे ही बने कि Extension लेते-लेते संयोगवशात पुन: वही तिथि और महीना आ गया।

23 दिसम्बर 2012 मौन ग्यारस के दिन लाडनूं विश्वविद्यालय में 4 भागों में वर्गीकृत 23 खण्डीय Thesis जमा की गई। इतने विराट शोध कार्य को देखकर सभी हतप्रभ थे। 5556 पृष्ठों में गुम्फित यह शोध कार्य यदि शोध नियम के अनुसार तैयार किया होता तो 11000 पृष्ठों से अधिक हो जाते। यह सब गुरूवर्य्या श्री की ही असीम कृपा थी।

पूज्या शशिप्रभा श्रीजी म.सा. की हार्दिक इच्छा थी कि सौम्याजी के इस ज्ञानयज्ञ का सम्मान किया जाए जिससे जिन शासन की प्रभावना हो और जैन संघ गौरवान्वित बने।

भवानीपुर–शंखेश्वर दादा की प्रतिष्ठा का पावन सुयोग था। श्रुतज्ञान के बहुमान रूप 23 ग्रन्थों का भी जुलूस निकाला गया। सम्पूर्ण कोलकाता संघ द्वारा उनकी वधामणी की गई। यह एक अनुमोदनीय एवं अविस्मरणीय प्रसंग था।

बस मन में एक ही कसक रह गई कि मैं इस पूर्णाहुति का हिस्सा नहीं बन पाई।

आज सौम्याजी की दीर्घ शोध यात्रा को पूर्णता के शिखर पर देखकर नि:सन्देह कहा जा सकता है कि पूज्या प्रवर्त्तिनी म.सा. जहाँ भी आत्म साधना में लीन है वहाँ से उनकी अनवरत कृपा दृष्टि बरस रही है। शोध कार्य पूर्ण होने के बाद भी सौम्याजी को विराम कहाँ था? उनके शोध विषय की त्रैकालिक प्रासंगिकता को ध्यान में रखते हुए उन्हें पुस्तक रूप में प्रकाशित करने का निर्णय लिया गया। पुस्तक प्रकाशन सम्बन्धी सभी कार्य शेष थे तथा पुस्तकों का प्रकाशन कोलकाता से ही हो रहा था। अत: कलकत्ता संघ के प्रमुख श्री कान्तिलालजी मुकीम, विमलचंदजी महमवाल, श्राविका श्रेष्ठा प्रमिलाजी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महमवाल, विजयेन्द्रजी संखलेचा आदि ने पूज्याश्री के सम्मुख सौम्याजी को रोकने का निवेदन किया। श्री चन्द्रकुमारजी मुणोत, श्री मणिलालजी दूसाज आदि भी निवेदन कर चुके थे। यद्यपि अजीमगंज दादाबाड़ी प्रतिष्ठा के कारण रोकना असंभव था परंतु मुकिम जी के अत्याग्रह के कारण पूज्याश्री ने उन्हें कुछ समय के लिए वहाँ रहने की आज्ञा प्रदान की।

गुरूवर्य्या श्री के साथ विहार करते हुए सौम्यागुणाजी को तीन Stop जाने के बाद वापस आना पड़ा। दादाबाड़ी के समीपस्थ शीतलनाथ भवन में रहकर उन्होंने अपना कार्य पूर्ण किया। इस तरह इनकी सम्पूर्ण शोध यात्रा में कलकत्ता एक अविस्मरणीय स्थान बनकर रहा।

क्षणै: क्षणै: बढ़ रहे उनके कदम अब मंजिल पर पहुँच चुके हैं। आज जो सफलता की बहुमंजिला इमारत इस पुस्तक श्रृंखला के रूप में देख रहे हैं वह मजबूत नींव इन्होंने अपने उत्साह, मेहनत और लगन के आधार पर रखी है। सौम्यगुणाजी का यह विशद् कार्य युग-युगों तक एक कीर्तिस्तम्भ के रूप में स्मरणीय रहेगा। श्रुत की अमूल्य निधि में विधि-विधान के रहस्यों को उजागर करते हुए उन्होंने जो कार्य किया है वह आने वाली भावी पीढ़ी के लिए आदर्श रूप रहेगा। लोक परिचय एवं लोकप्रसिद्धि से दूर रहने के कारण ही आज वे इस बृहद् कार्य को सम्पन्न कर पाई हैं। मैं परमात्मा से यही प्रार्थना करती हूँ कि वे सदा इसी तरह श्रुत संवर्धन के कल्याण पथ पर गतिशील रहे। अंततः उनके अडिग मनोबल की अनुमोदना करते हुए यही कहूँगी–

प्रगति शिला पर चढ़ने वाले बहुत मिलेंगे,
कीर्तिमान करने वाला तो विरला होता है।
आंदोलन करने वाले तो बहुत मिलेंगे,
दिशा बदलने वाला कोई निराला होता है।
तारों की तरह टिम-टिमाने वाले अनेक होते हैं,
पर सूरज बन रोशन करने वाला कोई एक ही होता है।
समय गंवाने वालों से यह दुनिया भरी है,
पर इतिहास बनाने वाला कोई सौम्य सा ही होता है।
प्रशंसा पाने वाले जग में अनेक मिलेंगे,
प्रिय बने सभी का ऐसा कोई सज्जन ही होता है।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हार्दिक प्रसन्नता

किसी कवि ने बहुत ही सुन्दर कहा है–

धीरे-धीरे रे मना, धीरे सब कुछ होय।
माली सींचे सो घड़ा, ऋतु आवत फल होय।।

हर कार्य में सफलता समय आने पर ही प्राप्त होती है। एक किसान बीज बोकर साल भर तक मेहनत करता है तब जाकर उसे फसल प्राप्त होती है। चार साल तक College में मेहनत करने के बाद विद्यार्थी Doctor, Engineer या MBA होता है।

साध्वी सौम्यगुणाजी आज सफलता के जिस शिखर पर पहुँची है उसके पीछे उनकी वर्षों की मेहनत एवं धैर्य नींव रूप में रहे हुए हैं। लगभग 30 वर्ष पूर्व सौम्याजी का आगमन हमारे मण्डल में एक छोटी सी गुड़िया के रूप में हुआ था। व्यवहार में लघुता, विचारों में सरलता एवं बुद्धि की श्रेष्ठता उनके प्रत्येक कार्य में तभी से परिलक्षित होती थी। ग्यारह वर्ष की निशा जब पहली बार पूज्याश्री के पास वैराग्यवासित अवस्था में आई तब मात्र चार माह की अवधि में प्रतिक्रमण, प्रकरण, भाष्य,कर्मग्रन्थ, प्रातःकालीन पाठ आदि कंठस्थ कर लिए थे। उनकी तीव्र बुद्धि एवं स्मरण शक्ति की प्रखरता के कारण पूज्य छोटे म.सा. (पूज्य शशिप्रभा श्रीजी म.सा.) उन्हें अधिक से अधिक चीजें सिखाने की इच्छा रखते थे।

निशा का बाल मन जब अध्ययन से उक्ता जाता और बाल सुलभ चेष्टाओं के लिए मन उत्कंठित होने लगता, तो कई बार वह घंटों उपाश्रय की छत पर तो कभी सीढ़ियों में जाकर छुप जाती ताकि उसे अध्ययन न करना पड़े। परंतु यह उसकी बाल क्रीड़ाएँ थी। 15-20 गाथाएँ याद करना उसके लिए एक सहज बात थी। उनके अध्ययन की लगन एवं सीखने की कला आदि के अनुकरण की प्रेरणा आज भी छोटे म.सा. आने वाली नई मंडली को देते हैं। सूत्रागम अध्ययन, ज्ञानार्जन, लेखन, शोध आदि के कार्य में उन्होंने जो श्रृंखला प्रारम्भ की है आज सज्जनमंडल में उसमें कई कड़ियाँ जुड़ गई हैं परन्तु मुख्य कड़ी तो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मुख्य ही होती है। ये सभी के लिए प्रेरणा बन रही हैं किन्तु इनके भीतर जो प्रेरणा आई वह कहीं न कहीं पूज्य गुरुवर्य्या श्री की असीम कृपा है।

उच्च उड़ान नहीं भर सकते
तुच्छ बाहरी चमकीले पर
महत कर्म के लिए चाहिए
महत प्रेरणा बल भी भीतर

यह महत प्रेरणा गुरु कृपा से ही प्राप्त हो सकती है। विनय, सरलता, शालीनता, ऋजुता आदि गुण गुरुकृपा की प्राप्ति के लिए आवश्यक है।

सौम्याजी का मन शुरू से सीधा एवं सरल रहा है। सांसारिक कपट-माया या व्यवहारिक औपचारिकता निभाना इनके स्वभाव में नहीं है। पूज्य प्रवर्तिनीजी म.सा. को कई बार ये सहज में कहती **'महाराज श्री!' मैं तो आपकी कोई सेवा नहीं करती, न ही मुझमें विनय है, फिर मेरा उद्धार कैसे होगा, मुझे गुरु कृपा कैसे प्राप्त होगी?' तब पूज्याश्री फरमाती– 'सौम्या! तेरे ऊपर तो मेरी अनायास कृपा है, तूं चिंता क्यों करती है? तूं तो महान साध्वी बनेगी।'** आज पूज्याश्री की ही अन्तस शक्ति एवं आशीर्वाद का प्रस्फोटन है कि लोकैषणा, लोक प्रशंसा एवं लोक प्रसिद्धि के मोह से दूर वे श्रुत सेवा में सर्वात्मना समर्पित हैं। जितनी समर्पित वे पूज्या श्री के प्रति थी उतनी ही विनम्र अन्य गुरुजनों के प्रति भी। गुरु भगिनी मंडल के कार्यों के लिए भी वे सदा तत्पर रहती हैं। चाहे बड़ों का कार्य हो, चाहे छोटों का उन्होंने कभी किसी को टालने की कोशिश नहीं की। चाहे प्रियदर्शना श्रीजी हो, चाहे दिव्यदर्शना श्रीजी, चाहे शुभदर्शनाश्रीजी हो, चाहे शीलगुणा जी आज तक सभी के साथ इन्होंने लघु बनकर ही व्यवहार किया है। कनकप्रभाजी, संयमप्रज्ञाजी आदि लघु भगिनी मंडल के साथ भी इनका व्यवहार सदैव सम्मान, माधुर्य एवं अपनेपन से युक्त रहा है। ये जिनके भी साथ चातुर्मास करने गई हैं उन्हें गुरुवत सम्मान दिया तथा उनकी विशिष्ट आन्तरिक मंगल कामनाओं को प्राप्त किया है। पूज्या विनीता श्रीजी म.सा., पूज्या मणिप्रभाश्रीजी म.सा., पूज्या हेमप्रभा श्रीजी म.सा., पूज्या सुलोचना श्रीजी म.सा., पूज्या विद्युतप्रभाश्रीजी म.सा. आदि की इन पर विशेष कृपा रही है। पूज्य उपाध्याय श्री मणिप्रभसागरजी म.सा., आचार्य श्री पद्मसागरसूरिजी म.सा., आचार्य श्री कीर्तियशसूरिजी आदि ने इन्हें अपना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्नेहाशीष एवं मार्गदर्शन दिया है। आचार्य श्री राजयशसूरिजी म.सा., पूज्य भ्राता श्री विमलसागरजी म.सा. एवं पूज्य वाचंयमा श्रीजी (बहन) म.सा. इनका Ph.D. एवं D.Litt. का विषय विधि-विधानों से सम्बन्धित होने के कारण इन्हें 'विधिप्रभा' नाम से ही बुलाते हैं।

पूज्या शशिप्रभाजी म.सा. ने अध्ययन काल के अतिरिक्त इन्हें कभी भी अपने से अलग नहीं किया और आज भी हम सभी गुरु बहनों की अपेक्षा गुरु निश्रा प्राप्ति का लाभ इन्हें ही सर्वाधिक मिलता है। पूज्याश्री के चातुर्मास में अपने विविध प्रयासों के द्वारा चार चाँद लगाकर ये उन्हें और भी अधिक जानदार बना देती हैं।

तप-त्याग के क्षेत्र में तो बचपन से ही इनकी विशेष रुचि थी। नवपद की ओली का प्रारम्भ इन्होंने गृहस्थ अवस्था में ही कर दिया था। इनकी छोटी उम्र को देखकर छोटे म.सा. ने कहा– देखो! तुम्हें तपस्या के साथ उतनी ही पढ़ाई करनी होगी तब तो ओलीजी करना अन्यथा नहीं। ये बोली– मैं रोज पन्द्रह नहीं बीस गाथा करूंगी आप मुझे ओलीजी करने दीजिए और उस समय ओलीजी करके सम्पूर्ण प्रातःकालीन पाठ कंठाग्र किये। बीसस्थानक, वर्धमान, नवपद, मासक्षमण, श्रेणी तप, चत्तारि अट्ठ दस दोय, पैंतालीस आगम, ग्यारह गणधर, चौदह पूर्व, अट्ठाईस लब्धि, धर्मचक्र, पखवासा आदि कई छोटे-बड़े तप करते हुए इन्होंने अध्ययन एवं तपस्या दोनों में ही अपने आपको सदा अग्रसर रखा।

आज उनके वर्षों की मेहनत की फलश्रुति हुई है। जिस शोध कार्य के लिए वे गत 18 वर्षों से जुटी हुई थी उस संकल्पना को आज एक मूर्त्त स्वरूप प्राप्त हुआ है। अब तक सौम्याजी ने जिस धैर्य, लगन, एकाग्रता, श्रुत समर्पण एवं दृढ़निष्ठा के साथ कार्य किया है वे उनमें सदा वृद्धिंगत रहे। पूज्य गुरुवर्य्या श्री के नक्षे कदम पर आगे बढ़ते हुए वे उनके कार्यों को और नया आयाम दें तथा श्रुत के क्षेत्र में एक नया अवदान प्रस्तुत करें। इन्हीं शुभ भावों के साथ–

गुरु भगिनी मण्डल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुभूति के शब्द

जीवन एक छोटा सा शब्द है। इस छोटे से शब्द में सम्पूर्ण जगत समाहित हो जाता है। दुनिया के जितने विषय हैं, जितनी वस्तुएँ हैं सभी का मूल्य शब्द की उपस्थिति में ही है। इन सभी का लाभ एवं आनन्द वही ले सकता है जिसे जीवन जीने की कला का ज्ञान हो, जिन्हें मानव जीवन की दुर्लभता का भान हो और उसके प्रति सम्मान हो। इसी दुर्लभता को ध्यान में रखकर अनेक धर्माचार्यों एवं तत्त्व चिन्तकों ने जीवन जीने हेतु कई नियम-उपनियम बताए हैं।

संस्कार एक प्रचलित शब्द है। सामान्यतया किसी भी वस्तु, पदार्थ या व्यक्ति आदि को विशिष्ट सुंदरता प्रदान करने हेतु जो क्रिया की जाती है उसे संस्कार कहा जाता है। मानव को महामानव बनाने एवं उसे मोक्ष लक्ष्य तक पहुँचाने हेतु शास्त्रों में सोलह संस्कारों का विधान किया गया है। भारतीय सभ्यता में सदाकाल से ही सत्संस्कारों की प्रधानता रही है। इसी कारण ऋषि-मुनियों ने जीव के गर्भ में आने से पूर्व ही उसे सुसंस्कारित करने हेतु कई विधान बतलाए हैं। उन्हीं का संयुक्त रूप है षोडश संस्कार। जीव के गर्भ में आने अर्थात संसार में प्रवेश करने से लेकर उसकी मृत्यु (संस्कार छोड़ने की स्थिति) तक के विधानों का उपक्रम इसके अन्तर्गत किया जाता है। यद्यपि वर्तमान में सोलह संस्कारों को वैदिक परम्परा से सम्बन्धित माना जाता है परंतु जैनाचार्यों ने कहीं पर संक्षिप्त रूप में, कहीं पर आंशिक रूप में तो कहीं-कहीं विस्तृत वर्णन भी किया है। आगम ग्रन्थों में किंच संस्कारों का उल्लेख संप्राप्त होता है। वर्तमान में नामकरण, अन्नप्राशन, विवाह, चूड़ाकरण आदि कुछ संस्कारों का ही अस्तित्व देखा जाता है।

यदि गहन विचार किया जाए तो इन संस्कारों की वैज्ञानिक, सांस्कृतिक, सामाजिक आदि अनेक दृष्टियों से महत्ता एवं प्रासंगिकता प्रतिभासित होती है। धर्माचार्यों ने इसके द्वारा मात्र आध्यात्मिक विकास को ही लक्षित नहीं किया अपितु शारीरिक स्वस्थता, बौद्धिक प्रौढ़ता, पारिवारिक समरसता आदि को भी प्रमुखता दी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आज के युग में हमारी संस्कृति एवं संस्कार धूमिल होते जा रहे हैं। नैतिकता, प्रामाणिकता, आपसी सौहार्द्र, निश्छल प्रेमभाव, निःस्वार्थ वृत्ति आदि गुणों का लोप होता जा रहा है। इन सभी का मुख्य कारण उचित रूप से संस्कारों की परिपालना न करना ही है।

आज दाम्पत्य जीवन प्रारम्भ होने से पहले ही तलाक की स्थिति तक पहुँच जाते हैं। बच्चे का जन्म होने के साथ ही अध्ययन आदि हेतु Admission हो जाते हैं इस तरह विकास की इतनी अति हो गई है कि मानव मात्र यंत्रवत बनकर रह गया है। मनुष्य को मानव जीवन की महत्ता समझाने एवं आत्मिक आनंद से पूरित करने हेतु संस्कार एक आवश्यक चरण है।

इस कृति के माध्यम से जैन समाज में जैन पद्धति पूर्वक जन्म, विवाह आदि संस्कार करने हेतु शास्त्रोक्त दिशा प्राप्त हो, संस्कारों की मूल्यवत्ता पुनः समाज में अनुप्राणित हो तथा सर्वत्र सत्संस्कारों की सुरभि प्रसरित हो, इन्हीं भावों के साथ षोडश संस्कारों के पुनर्जागरण का एक लघु प्रयास किया है।

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कृतज्ञता ज्ञापन

जगनाथ जगदानंद जगगुरू, अरिहंत प्रभु जग हितकरं
दिया दिव्य अनुभव ज्ञान सुखकर, मारग अहिंसा श्रेष्ठतम्
तुम नाम सुमिरण शान्तिदायक, विघ्न सर्व विनाशकम्
हो वंदना नित वन्दना, कृपा सिन्धु कार्य सिद्धिकरम् ।।1।।

संताप हर्ता शान्ति कर्ता, सिद्धचक्र वन्दन सुखकरं
लब्धिवंत गौतम ध्यान से, विनय हो वृद्धिकरं
दत्त-कुशल मणि-चन्द्र गुरुवर, सर्व वांछित पूरकम्
हो वंदना नित वन्दना, कृपा सिन्धु कार्य सिद्धिकरम् ।।2।।

जन जागृति दिव्य दूत है, सूरिपद वलि शोभितम्
सद्ज्ञान मार्ग प्रशस्त कर, दिया शास्त्र चिन्तन हितकरं
कैलाश सूरिवर गच्छनायक, सद्बोधबुद्धि दायकम्
हो वंदना नित वंदना, कृपा सिन्धु कार्य सिद्धिकरम् ।।3।।

श्रुत साधना की सफलता में, जो कुछ किया निस्वार्थतम्
आशीष वृष्टि स्नेह दृष्टि, दी प्रेरणा नित भव्यतम्
सूरि 'पद्म' 'कीर्ति' 'राजयश' का, उपकार मुझ पर अगणितम् ।
हो वंदना नित वंदना, कृपा सिन्धु कार्य सिद्धिकरम् ।।4।।

ज्योतिष विशारद युग प्रभाकर, उपाध्याय मणिप्रभ गुरुवरं
समाधान दे संशय हरे, मुझ शोध मार्ग दिवाकरम्
सद्भाव जल से मुनि पीयूष ने, किया उत्साह वर्धनम्
हो वंदना नित वंदना, कृपा सिन्धु कार्य सिद्धिकरम् ।।5।।

उल्लास ऊर्जा नित बढ़ाते, आत्मीय 'प्रशांत' गणिवरं
दे प्रबोध मुझको दूर से, भ्राता 'विमल' मंगलकरं
विधि ग्रन्थों से अवगत किया, यशधारी 'रत्न' मुनिवरं
हो वंदना नित वंदना, कृपा सिन्धु कार्य सिद्धिकरम् ।।6।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हाथ जिनका थामकर, किया संयम मार्ग आरोहणम्
अनुसरण कर पाऊं उनका, है यही मन वांछितम्
सज्जन कृपा से होत है, दुःसाध्य कार्य शीघ्रतम्
हो वंदना नित वंदना, कृपा सिन्धु कार्य सिद्धिकरम्।।7।।

कल्पतरू सा सुख मिले, शरणागति सौख्यकरम्
तप-ज्ञान रूचि के जागरण में, आधार हैं जिनका परम्
मुझ जीवन शिल्पी-दृढ़ संकल्पी, गुरू 'शशि' शीतल गुणकरम्
हो वंदना नित वंदना, कृपा सिन्धु कार्य सिद्धिकरम्।।8।।

'प्रियदर्शना' सत्प्रेरणा से, किया शोध कार्य शतगुणम्
गुरु भगिनी मंडल सहाय से, कार्य सिद्धि शीघ्रतम्
उपकार सुमिरण उन सभी का, धरी भावना वृद्धिकरं
हो वंदना नित वंदना, कृपा सिन्धु कार्य सिद्धिकरम्।।9।।

जिन स्थानों से प्रणयन किया, यह शोध कार्य मुख्यतम्
पार्श्वनाथ विद्यापीठ (शाजापुर, बनारस) की, मिली छत्रछाया सुखकरम्
जिनरंगसूरि पौशाल (कोलकाता) है, पूर्णाहुति साक्ष्य जयकरं
हो वन्दना नित वन्दना, है नगर कार्य सिद्धिकरम् ।।10।।

साधु नहीं पर साधकों के, आदर्श मूर्ति उच्चतम्
श्रुत ज्ञानसागर संशय निवारक, आचरण सम्प्रेरकम्
इस कृति के उद्धार में, निर्देश जिनका मुख्यतम्
शासन प्रभावक सागरमलजी, किं करुं गुण गौरवम्।।11।।

अबोध हूँ, अल्पज्ञ हूँ, छद्मस्थ हूँ कर्म आवृतम्
अनुमोदना करुं उन सभी की, त्रिविध योगे अर्पितम्
जिन वाणी विपरीत हो लिखा, तो क्षमा हो मुझ दुष्कृतम्
श्रुत सिन्धु में अर्पित करुं, शोध मन्थन नवनीतम्।।12।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मिच्छामि दुक्कडं

आगम मर्मज्ञा, आशु कवयित्री, जैन जगत की अनुपम साधिका, प्रवर्त्तिनी पद सुशोभिता, खरतरगच्छ दीपिका पू. गुरुवर्य्या श्री सज्जन श्रीजी म.सा. की अन्तरंग कृपा से आज छोटे से लक्ष्य को पूर्ण कर पाई हूँ।

यहाँ शोध कार्य के प्रणयन के दौरान उपस्थित हुए कुछ संशय युक्त तथ्यों का समाधान करना चाहूँगी–

सर्वप्रथम तो मुनि जीवन की औत्सर्गिक मर्यादाओं के कारण जानते-अजानते कई विषय अनछुए रह गए हैं। उपलब्ध सामग्री के अनुसार ही विषय का स्पष्टीकरण हो पाया है अतः कहीं-कहीं सन्दर्भित विषय में अपूर्णता भी प्रतीत हो सकती है।

दूसरा जैन संप्रदाय में साध्वी वर्ग के लिए कुछ नियत मर्यादाएँ हैं जैसे प्रतिष्ठा, अंजनशलाका, उपस्थापना, पदस्थापना आदि करवाने एवं आगम शास्त्रों को पढ़ाने का अधिकार साध्वी समुदाय को नहीं है। योगोद्वहन, उपधान आदि क्रियाओं का अधिकार मात्र पदस्थापना योग्य मुनि भगवंतों को ही है। इन परिस्थितियों में प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि क्या एक साध्वी अनधिकृत एवं अननुभूत विषयों पर अपना चिन्तन प्रस्तुत कर सकती है?

इसके जवाब में यही कहा जा सकता है कि 'जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन' यह शोध का विषय होने से यत्किंचित लिखना आवश्यक था अतः गुरु आज्ञा पूर्वक विद्वद्वर आचार्य भगवंतों से दिशा निर्देश एवं सम्यक जानकारी प्राप्तकर प्रामाणिक उल्लेख करने का प्रयास किया है।

तीसरा प्रायश्चित्त देने का अधिकार यद्यपि गीतार्थ मुनि भगवंतों को है किन्तु प्रायश्चित्त विधि अधिकार में जीत (प्रचलित) व्यवहार के अनुसार प्रायश्चित्त योग्य तप का वर्णन किया है। इसका उद्देश्य मात्र यही है कि भव्य जीव पाप भीरू बनें एवं दोषकारी क्रियाओं से परिचित होवें। कोई भी आत्मार्थी इसे देखकर स्वयं प्रायश्चित्त ग्रहण न करें।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस शोध के अन्तर्गत कई विषय ऐसे हैं जिनके लिए क्षेत्र की दूरी के कारण यथोचित जानकारी एवं समाधान प्राप्त नहीं हो पाए, अतः तद्विषयक पूर्ण स्पष्टीकरण नहीं कर पाई हूँ।

कुछ लोगों के मन में यह शंका भी उत्पन्न हो सकती है कि मुद्रा विधि के अधिकार में हिन्दू, बौद्ध, नाट्य आदि मुद्राओं पर इतना गूढ़ अध्ययन क्यों?

मुद्रा एक यौगिक प्रयोग है। इसका सामान्य हेतु जो भी हो परंतु इसकी अनुश्रुति आध्यात्मिक एवं शारीरिक स्वस्थता के रूप में ही होती है।

प्रायः मुद्राएँ मानव के दैनिक चर्या से सम्बन्धित है। इतर परम्पराओं का जैन परम्परा के साथ पारस्परिक साम्य-वैषम्य भी रहा है अतः इनके सद्पक्षों को उजागर करने हेतु अन्य मुद्राओं पर भी गूढ़ अन्वेषण किया है।

यहाँ यह भी कहना चाहूँगी कि शोध विषय की विराटता, समय की प्रतिबद्धता, समुचित साधनों की अल्पता, साधु जीवन की मर्यादा, अनुभव की न्यूनता, व्यावहारिक एवं सामान्य ज्ञान की कमी के कारण सभी विषयों का यथायोग्य विश्लेषण नहीं भी हो पाया है। हाँ, विधि-विधानों के अब तक अस्पृष्ट पन्नों को खोलने का प्रयत्न अवश्य किया है। प्रज्ञा सम्पन्न मुनि वर्ग इसके अनेक रहस्य पटलों को उद्घाटित कर सकेंगे। यह एक प्रारंभ मात्र है।

अन्ततः जिनवाणी का विस्तार करते हुए एवं शोध विषय का अन्वेषण करते हुए अल्पमति के कारण शास्त्र विरुद्ध प्ररूपणा की हो, आचार्यों के गूढ़ार्थ को यथारूप न समझा हो, अपने मत को रखते हुए जाने-अनजाने अर्हतवाणी का कटाक्ष किया हो, जिनवाणी का अपलाप किया हो, भाषा रूप में उसे सम्यक अभिव्यक्ति न दी हो, अन्य किसी के मत को लिखते हुए उसका संदर्भ न दिया हो अथवा अन्य कुछ भी जिनाज्ञा विरुद्ध किया हो या लिखा हो तो उसके लिए त्रिकरण-त्रियोगपूर्कक श्रुत रूप जिन धर्म से मिच्छामि दुक्कड़म् करती हूँ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषयानुक्रमणिका

अध्याय-1 : संस्कारों का मूल्य और उनकी अर्थवत्ता 1-45

• संस्कार शब्द की आर्थिक मौलिकता • संस्कार का पारिभाषिक स्वरूप • संस्कार और संस्कृति का तात्विक सम्बन्ध • संस्कारों के मुख्य प्रकार • सुसंस्कारों की उपयोगिता • वर्तमान परिप्रेक्ष्य में संस्कारों की प्रासंगिकता • संस्कारों की पृष्ठभूमि में रहे वैज्ञानिक तथ्य • मानसिक चिकित्सा दृष्टि से संस्कारों का मूल्य • संस्कारों के मूलभूत प्रयोजन • विभिन्न क्षेत्रों में संस्कारों का महत्त्व • संस्कार आरोपण के मार्मिक उद्देश्य • संस्कार-आरोपण की आवश्यकता क्यों • संस्कारों के नाम एवं संख्या क्रम विषयक पारस्परिक मतभेद • जैनागमों में संस्कारों की विकास यात्रा • संदर्भ-सूची।

अध्याय-2 : गर्भाधान संस्कार विधि का मौलिक स्वरूप 46-60

• गर्भाधान संस्कार का शाब्दिक अर्थ • विविध परिप्रेक्ष्यों में गर्भाधान संस्कार की आवश्यकता • संस्कारों का प्रारम्भ गर्भाधान से क्यों? • गर्भाधान संस्कार करवाने का अधिकारी • गर्भाधान संस्कार हेतु शुभ मुहूर्त्त विचार • गर्भाधान हेतु काल विचार • गर्भाधान संस्कार में प्रयुक्त सामग्री • गर्भाधान संस्कार विधि • गर्भाधान संस्कार सम्बन्धी विधि-विधानों के प्रयोजन • गर्भाधान संस्कार का तुलनात्मक विवेचन • उपसंहार • संदर्भ-सूची।

अध्याय-3 : पुंसवन संस्कार विधि का सामान्य स्वरूप 61-72

• भारतीय वांगमय में पुंसवन संस्कार का अर्थ • पुंसवन संस्कार की आवश्यकता वैधानिक संदर्भों में • शास्त्रीय दृष्टि से पुंसवन संस्कार करवाने का अधिकारी • पुंसवन संस्कार सम्बन्धी मुहूर्त्त विचार • पुंसवन संस्कार हेतु काल विचार • पुंसवन संस्कार में उपयोगी सामग्री • पुंसवन संस्कार में अपेक्षित सावधानियाँ • पुंसवन संस्कार की उपदिष्ट विधि • पुंसवन संस्कार संबंधी विधि-विधानों के रहस्यात्मक प्रयोजन • पुंसवन संस्कार का तुलनात्मक विश्लेषण • उपसंहार • संदर्भ-सूची।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अध्याय-4 : जातकर्म संस्कार विधि का पारम्परिक स्वरूप **73-82**

• जातकर्म संस्कार का अर्थ • जातकर्म संस्कार की आवश्यकता क्यों? • जातकर्म संस्कार करने योग्य अधिकारी • जातकर्म संस्कार के लिए मुहूर्त्त-विचार • जन्म संस्कार का काल विचार • भारतीय साहित्य में वर्णित जन्म संस्कार विधि • विविध परम्पराओं में प्रचलित तुलनात्मक विवेचन • उपसंहार • संदर्भ सूची।

अध्याय-5 : सूर्य-चन्द्र दर्शन संस्कार विधि का प्राचीन स्वरूप **83-96**

• सूर्य-चन्द्र दर्शन संस्कार के विभिन्न पर्याय • सूर्य-चन्द्र दर्शन संस्कार की मौलिक आवश्यकता • निष्क्रमण एवं सूर्य-चन्द्र दर्शन संस्कार का उद्भव एवं विकास • सूर्य-चन्द्र दर्शन संस्कार करवाने का अधिकारी • सूर्य-चन्द्र दर्शन संस्कार के लिए मुहूर्त्त विचार • सूर्य-चन्द्र दर्शन संस्कार का काल निर्णय • सूर्य-चन्द्र दर्शन संस्कार में उपयोगी मुख्य सामग्री • सूर्य-चन्द्र दर्शन संस्कार विधि का साहित्यिक स्वरूप • सूर्य-चन्द्र दर्शन संस्कार सम्बन्धी विधि-विधानों के प्रयोजन • बहिर्यान या निष्क्रमण संस्कार से होने वाले लाभ • सूर्य-चन्द्र दर्शन का संस्कार का तुलनात्मक चिन्तन • उपसंहार • संदर्भ सूची।

अध्याय-6 : क्षीराशन(दुग्धपान) संस्कार विधि का क्रियात्मक स्वरूप **97-103**

• क्षीराशन संस्कार का शाब्दिक अर्थ • क्षीराशन संस्कार की नैतिक आवश्यकता • क्षीराशन संस्कार करवाने के शास्त्र सम्मत अधिकारी • क्षीराशन संस्कार के लिए शुभ मुहूर्त्त विचार • क्षीराशन संस्कार हेतु उपयुक्त काल • क्षीराशन संस्कार में प्रयुक्त सामग्री • क्षीराशन संस्कार की शास्त्रोक्त विधि • क्षीराशन संस्कार का तुलनात्मक विवेचन • उपसंहार • संदर्भ-सूची।

अध्याय-7 : षष्ठी संस्कार विधि का व्यावहारिक स्वरूप **104-111**

• षष्ठी संस्कार का अर्थ • षष्ठी संस्कार की आवश्यकता क्यों और कब से? • जन्म के छठवें दिन ही षष्ठी संस्कार क्यों? • षष्ठी संस्कार करवाने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का अधिकारी • षष्ठी संस्कार के लिए मुहूर्त्त विचार • षष्ठी संस्कार हेतु श्रेष्ठ काल • षष्ठी संस्कार के लिए आवश्यक सामग्री • विभिन्न ग्रन्थों में षष्ठी संस्कार विधि • षष्ठी संस्कार विधि का तुलनात्मक विश्लेषण • उपसंहार • सन्दर्भ-सूची।

अध्याय-8 : शुचिकर्म संस्कार विधि का ऐतिहासिक स्वरूप 112-120

• शुचिकर्म संस्कार का अर्थपरक विश्लेषण • शुचिकर्म संस्कार की लौकिक आवश्यकता • शुचिकर्म संस्कार करने के शास्त्र निर्दिष्ट अधिकारी • शुचिकर्म संस्कार योग्य मुहूर्त्त-विचार • शुचिकर्म संस्कार विषयक काल विमर्श • शुचिकर्म संस्कार संपादन में उपयोगी सामग्री • भारतीय साहित्य में वर्णित शुचिकर्म संस्कार विधि • तुलनात्मक दृष्टि से शुचिकर्म संस्कार की महत्ता • उपसंहार संदर्भ-सूची।

अध्याय-9 : नामकरण संस्कार विधि का प्रचलित स्वरूप 121-134

• नामकरण संस्कार का व्यापक पारिभाषिक निरूपण • नामकरण संस्कार की त्रैकालिक आवश्यकता • नामकरण संस्कार का प्रयोजन • नामकरण संस्कार करने का अधिकारी • नामकरण संस्कार के लिए मुहूर्त्तादि का विचार • नामकरण संस्कार हेतु वर्णित सुयोग्य काल • नामकरण संस्कार के लिए आवश्यक सामग्री • नामकरण संस्कार विधि का शास्त्रीय स्वरूप • तुलनात्मक दृष्टि से नामकरण संस्कार के विविध पक्ष • उपसंहार • सन्दर्भ-सूची।

अध्याय-10 : अन्नप्राशन संस्कार विधि का प्रायोगिक स्वरूप 135-148

• अन्नप्राशन संस्कार का शाब्दिक अर्थ • अन्नप्राशन संस्कार की मौलिक आवश्यकता • अन्नप्राशन संस्कार करने का प्राथमिक अधिकारी • अन्नप्राशन संस्कार सम्बन्धी शुभमुहूर्त्त विषयक उल्लेख • अन्नप्राशन संस्कार हेतु उपयुक्त काल • अन्नप्राशन संस्कार के लिए आवश्यक सामग्री • भारतीय साहित्य में अन्नप्राशन संस्कार विधि • अन्नप्राशन संस्कार के सारगर्भित प्रयोजन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

• अन्नप्राशन संस्कार का तुलनात्मक विवेचन • उपसंहार • सन्दर्भ-सूची।

अध्याय-11 : कर्णवेध संस्कार विधि का तात्त्विक स्वरूप **149-158**

• कर्णवेध संस्कार की अर्थ यात्रा • कर्णवेध संस्कार की व्यावहारिक जगत में आवश्यकता • कर्णवेध संस्कार करने का मुख्य अधिकारी • कर्णवेध संस्कार के लिए शुभ मुहूर्त्त का विचार • कर्णवेध संस्कार हेतु समुचित काल निर्णय • कर्णवेध संस्कार हेतु निर्दिष्ट आवश्यक सामग्री • कर्णवेध संस्कार विधि शास्त्रकारों के मत में • कर्णवेध संस्कार विधि का तुलनापरक अध्ययन • उपसंहार • सन्दर्भ- सूची।

अध्याय-12 : चूड़ाकरण संस्कार विधि का उपयोगी स्वरूप **159-175**

• चूड़कारण शब्द का अर्थ विश्लेषण • चूड़ाकरण संस्कार की वैधानिक आवश्यकता • शिखा या चोटी का अनुभूतिपरक महत्त्व • चूड़ाकरण संस्कार के पारम्परिक अधिकारी • चूड़ाकरण संस्कार के लिए शुभदिन का विचार • चूड़ाकरण संस्कार का समय • चूड़ाकरण संस्कार के लिए उपयोगी सामग्री • चूड़ाकरण संस्कार विधि शास्त्रों के आलोक में • चूड़ाकरण संस्कार सम्बन्धी विधि-विधानों के सांस्कृतिक प्रयोजन • चूड़ाकरण संस्कार का तुलनात्मक विवेचन विधि संदर्भों में • उपसंहार • सन्दर्भ-सूची।

अध्याय-13 : उपनयन संस्कार विधि का आध्यात्मिक स्वरूप **176-231**

• उपनयन संस्कार का अर्थपरक स्वरूप विश्लेषण • उपनयन संस्कार की मौलिक आवश्यकता • उपनयन संस्कार के प्रयोजन का इतिहास • उपनयन संस्कार के उद्देश्यों एवं तत्सम्बन्धी मतभेद • भारतीय संस्कृति और उपनयन संस्कार की प्राचीनता • उपवीत का स्वरूप विश्लेषण 1. श्वेताम्बर परम्परा में जिनोपवीत का स्वरूप 2. दिगम्बर परम्परा में उपवीत का स्वरूप 3. वैदिक परम्परा में यज्ञोपवीत का स्वरूप • उपवीत धारण करने के कुछ विधि नियम • जिनोपवीतधारी के लिए आचरणीय कृत्य • किस स्थिति में नवीन उपवीत धारण करें? • उपवीत धारण का सार्वकालिक माहात्म्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

• यज्ञोपवीत धारण के बाद के नियम • जिनोपवीतधारी(विद्यार्थी) के प्रकार • जिनोपवीत के शास्त्रोक्त अधिकारी • जिनोपवीत धारण के अयोग्य • उपनयन संस्कार का कर्त्ता कौन? • उपनयन संस्कार हेतु शुभदिन का विचार • उपनयन संस्कार हेतु शास्त्रवर्णित काल • उपनयन संस्कार में प्रयुक्त आवश्यक सामग्री • विविध परम्पराओं में उपनयन संस्कार विधि • उपनयन संस्कार सम्बन्धी विधि-विधानों के सारभूत प्रयोजन • उपनयन की अनिवार्यता • उपनयन संस्कार विधि का तुलनात्मक अध्ययन • उपसंहार • सन्दर्भ-सूची।

अध्याय-14 : विद्यारम्भ संस्कार विधि का रहस्यात्मक स्वरूप **232-247**

• विद्यारम्भ संस्कार का अभिप्रायार्थ • विद्यारम्भ संस्कार की लौकिक आवश्यकता • विद्यारम्भ संस्कार का कर्त्ता कौन? • विद्यारंभ संस्कार के लिए ग्राह्य और वर्जित नक्षत्र आदि का विचार • विद्यारम्भ संस्कार हेतु उपयुक्त काल • विद्यारम्भ संस्कार के लिए आवश्यक सामग्री • विद्यारंभ संस्कार की प्राच्यकालीन विधि • विद्यारम्भ संस्कार सम्बन्धी क्रियाकलापों के बहुपक्षीय प्रयोजन • विद्यारम्भ संस्कार का तुलनात्मक विवेचन • उपसंहार • सन्दर्भ-सूची।

अध्याय-15 : विवाह संस्कार विधि का त्रैकालिक स्वरूप **248-302**

• विवाह शब्द का पारिभाषिक अर्थ • विविध संस्कृतियों में विवाह? • विवाह संस्कार की आवश्यकता विभिन्न संदर्भों में • विवाह संस्कार की प्राचीनता • विवाह संस्कार का मूलभूत उद्देश्य • विभिन्न अपेक्षाओं से विवाह संस्कार का महत्त्व • विवाह किसके साथ हो? • विवाह की योग्यता को जानने के मापदंड • विवाह के मुख्य प्रकार • विवाह के अन्य प्रकार • विवाह संस्कार करने का अधिकारी कौन? • विवाह संस्कार के लिए शुभ दिन का विचार • विवाह संस्कार हेतु योग्य आयु विचार • विवाह संस्कार में प्रयुक्त सामग्री • विभिन्न संस्कृतियों में विवाह संस्कार विधि • विवाह संस्कार सम्बन्धी क्रियाकलापों के बहुपक्षीय प्रयोजन • वर के सात वचन • कन्या के सात वचन • विवाह संस्कार विधि का तुलनात्मक-विवेचन • उपसंहार • सन्दर्भ-सूची।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अध्याय : 16 व्रतारोपण संस्कार विधि का सांकेतिक स्वरूप **303-304**

अध्याय : 17 अन्त्य संस्कार विधि का शास्त्रीय स्वरूप **305-330**

• अन्त्य संस्कार का शाब्दिक अर्थ • आध्यात्मिक दृष्टि से अन्त्य संस्कार की आवश्यकता • अन्त्य संस्कार करवाने का अधिकारी कौन? • अन्त्य संस्कार के लिए मुहूर्त्त विचार • प्रेत क्रिया सम्बन्धी विचार • पुतला निर्माण सम्बन्धी विधि • सूतक काल कब और क्यों ? • अन्तिम आराधना विधि • अन्तिम संस्कार की प्रचलित विधि • वैदिक परम्परागत अन्त्य संस्कार विधि का मृत्यु सम्बन्धी विधियाँ • वैदिक मान्य मरणोत्तरकालीन विधियाँ • अन्त्य संस्कार संबंधी विधि-विधानों के प्रयोजन • अन्त्य संस्कार विधि का तुलनात्मक अध्ययन • उपसंहार • सन्दर्भ-सूची।

सहायक ग्रन्थ सूची **331-334**

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अध्याय - 1

संस्कारों का मूल्य और उनकी अर्थवत्ता

भारतीय संस्कृति में संस्कारों की एक सुदीर्घ परम्परा रही है। संस्कारों की यह प्रणाली अति प्राचीन काल से चली आ रही है। सही अर्थों में मानव कल्याण की भावना से जितने भी आयोजन एवं अनुष्ठान किये जाते है, उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण परम्परा संस्कारों का पालन एवं पर्वों का आयोजन है। संस्कार क्रिया और धर्म अनुष्ठानों के द्वारा व्यक्ति एवं परिवार को तथा पर्व-त्यौहारों के माध्यम से समाज को प्रशिक्षित किया जाता है।

सामान्यतया हम अनुभव करते हैं कि स्वाध्याय, सत्संग, प्रशिक्षण, चिन्तन, सम्यक विचार आदि का प्रभाव मनुष्य की मनोभूमि पर पड़ता है और उनसे व्यक्ति के भावना स्तर को विकसित करने में सहायता मिलती है। मानव चेतना को उच्च प्रयोजन के लिए उल्लसित एवं वैराग्यवासित बनाने के कुछ मनोवैज्ञानिक साधन होते हैं और उनका महत्त्व स्वाध्याय, सत्संग, सामायिक, प्रतिक्रमण, जप आदि की तुलना में किसी भी प्रकार से कम नहीं है। व्यक्तित्व निर्माण के इन साधनों को ही 'संस्कार' कहा जा सकता है।

संस्कार वे उपचार हैं, जिनके माध्यम से मनुष्य को सुसंस्कृत एवं सभ्य बनाया जाता है। जो व्यक्ति सुसंस्कारित होता है, उसका जीवन सामाजिक, धार्मिक एवं पारिवारिक क्षेत्र में स्व–पर के लिए बहु उपयोगी बनता है। अस्तु, संस्कार जीवन निर्माण की अद्भुत कला है।

संस्कार शब्द की आर्थिक मौलिकता

'संस्कार' शब्द की उत्पत्ति 'सम्' उपसर्ग पूर्वक, 'कृ' धातु से भाव और करण में 'घञ्' प्रत्यय के योग से, भूषण अर्थ में 'सुट्' का आगम करने पर हुई है।

संस्कार शब्द का प्रयोग कई अर्थों में किया गया है। संस्कार का सामान्य अर्थ है- पूर्ण करना, संस्कारित करना, मांजना।[1] कौषीतकि[2], छान्दोग्य[3] और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बृहदारण्यक[4] उपनिषदों ने इसका प्रयोग (संस्करोति) उन्नति करने के अर्थ में किया है। महर्षि पाणिनि ने इस शब्द का प्रयोग तीन विभिन्न अर्थों में किया है- 1. उत्कर्ष करने वाला (उत्कर्ष साधनं संस्कारः) 2. समवाय अथवा संघात और 3. आभूषण।[5]

ब्राह्मण और सूत्र ग्रन्थकारों ने 'संस्कार' शब्द का व्यवहार यज्ञ की सामग्रियों को पवित्र करने के अर्थ में किया है। बौद्ध त्रिपिटकों में निर्माण, आभूषण, समवाय, प्रकृति, कर्म और स्कन्ध के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग पाया जाता है। बौद्ध दर्शन ने संस्कार को भव चक्र की बारह श्रृंखलाओं[6] में से एक माना है। हिन्दू दर्शन में इसका प्रयोग कुछ भिन्न अर्थ में प्राप्त होता है। यहाँ संस्कार का अर्थ भोग्य पदार्थों के अनुभूति की छाप है। हमारे अव्यक्त मन पर जितने अनुभवों की छाप है, अनुकूल अवसर पाने पर उन सबका पुनरावर्तन होता है, इस अर्थ में संस्कार 'वासना' का पर्यायवाची है। वैशेषिकों ने चौबीस गुणों में से इसको एक माना है।

हिन्दी कोश के अनुसार संस्कार के निम्न अर्थ घटित होते हैं- शुद्धि, परिष्कार, सुधार, मन, रूचि, उन्नत कार्य, मनोवृत्ति या स्वभाव का शोधन, पूर्वजन्म की वासना या पूर्वजन्म की कुल मर्यादा, शिक्षा, सभ्यता आदि का मन पर पड़ने वाला प्रभाव।

संस्कृत साहित्य में 'संस्कार' शब्द व्यापक अर्थ में व्यवहृत हुआ है- शिक्षा, संस्कृति, प्रशिक्षण[7], सौजन्य, पूर्णता, व्याकरण सम्बन्धी शुद्धि[8], संस्करण, परिष्करण[9], शोभा, आभूषण[10], प्रभाव, स्वरूप, स्वभाव, क्रिया, छाप, स्मरण शक्ति, स्मरण शक्ति पर पड़ने वाला प्रभाव[11], शुद्धि क्रिया, धार्मिक विधि-विधान[12], अभिषेक, विचार, भावना, धारणा, कार्य का परिणाम, पुण्य आदि।

शास्त्रकारों ने मानव जीवन को पवित्र और उत्कृष्ट बनाने के लिए समय-समय पर होने वाले षोडश धार्मिक कृत्यों को संस्कार माना है। प्रायः इसी अर्थ में 'संस्कार' शब्द का प्रयोग किया गया है। मेदिनीकोश के अनुसार 'संस्कार' शब्द का अर्थ है– प्रयत्न, अनुभव अथवा मानस कर्म। न्याय शास्त्र के मतानुसार गुण विशेष का नाम संस्कार है, जो तीन प्रकार का होता है-वेगाख्य संस्कार, स्थिति स्थापक संस्कार और भावनाख्यस संस्कार। काशिकावृत्ति के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुसार उत्कर्ष के आधान को संस्कार कहते हैं-'उत्कर्षाधानं संस्कार:।' संस्कार प्रकाश के अनुसार अतिशय गुण को संस्कार कहा जाता है-'अतिशयविशेष: संस्कार:।[13]

कोश ग्रन्थों में इसका अर्थ शुद्ध किया हुआ, परिमार्जित किया हुआ, परिष्कृत किया हुआ, सुधारा हुआ, संवारा हुआ आदि किया है। अंग्रेजी में इसके लिए 'सेरेमॅनि' अर्थात धर्मानुष्ठान एवं 'एक्रामेण्ट' आदि शब्दों का प्रयोग देखा जाता है, परन्तु ये शब्द भारतीय संस्कृति में व्यवहृत 'संस्कार' शब्द के व्यापक अर्थ को स्पष्ट नहीं कर पाते हैं। भारतीय परम्परा में संस्कार का अर्थ व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आत्मिक परिष्कार हेतु किए जाने वाले अनुष्ठानों से संबंधित है।

इस प्रकार संस्कार शब्द के अनेक अर्थ मालूम होते हैं। यहाँ 'संस्कार' शब्द से हमारा तात्पर्य-व्यक्ति के दैहिक, मानसिक और बौद्धिक परिष्कार के लिए किए जाने वाले धार्मिक अनुष्ठानों एवं क्रियाकलापों से है।

संस्कार का पारिभाषिक स्वरूप

जीवन में संस्कारों का बड़ा महत्त्व है। वे मनुष्य की शारीरिक एवं मानसिक स्थिति के द्योतक हैं। संस्कारों के कारण मनुष्य को योग्य एवं उचित प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। संस्कारमय जीवन आध्यात्मिक साधना की दृढ़ भूमिका है। संस्कारों द्वारा आध्यात्मिक जीवन का क्रमश: विकास होता है। भारतीय विचारकों ने संस्कार की विभिन्न परिभाषाएँ बताई हैं- सामान्यत: जिस क्रिया के योग से मनुष्य में सद्गुणों का विकास एवं संवर्धन होता है, उस क्रिया को संस्कार कहते हैं। संस्कार एक मूल्यवर्द्धक प्रक्रिया है।

• आचार्य देवेन्द्रमुनि के अनुसार जिससे पदार्थ एवं व्यक्ति किसी कार्य के लिए योग्य होता है, वह संस्कार है।[14] संस्कार वे क्रियाएँ और रीतियाँ हैं, जो विशिष्ट योग्यता प्रदान करती हैं। • मीमांसा दर्शन ने यज्ञीय पुरोडाश आदि की विधिवत शुद्धि करने को संस्कार कहा है– *"प्रोक्षणादिजन्य संस्कारो यज्ञांग पुरोडाशेषु।"* • अद्वैत वेदान्त के अनुसार जीव पर शारीरिक क्रियाओं का मिथ्या आरोप करना संस्कार है– "स्नानाचमनादिजन्या: संस्कारो देहे उत्पद्यमानानि तदभिधानानि जीवे कल्ज्यन्ते।"

• न्याय दर्शन के अनुसार भावों को व्यक्त करने की आत्मव्यंजक शक्ति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संस्कार है। • वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश के अनुसार संस्कार का अर्थ है- परिशुद्धि या सफाई। अथवा "आत्म शरीरान्यतरनिष्ठो विहितक्रिया जन्योघतिशयविशेष: संस्कार:।" अर्थात पाँच कर्मेन्द्रियों और पाँच ज्ञानेन्द्रियों सहित शरीरतत्त्व और मनस्तत्त्व के साथ जीवात्मतत्त्व की परिशुद्धि जिस क्रियाकलाप से सम्पन्न हो, उसे संस्कार कहते हैं।[15]

• वीरमित्रोदय में संस्कार को विश्लेषित करते हुए कहा है[16]– यह एक विलक्षण योग्यता है, जो शास्त्र विहित क्रियाओं के करने से उत्पन्न होती है। वह योग्यता दो प्रकार की है- 1. जिसके द्वारा व्यक्ति अन्य क्रियाओं के योग्य हो जाता है जैसे– उपनयन संस्कार से वेदारम्भ होता है तथा 2. दोष से मुक्त हो जाता है जैसे– जातकर्म संस्कार से वीर्य एवं गर्भाशय का दोष मोचन होता है।

• आचार्य चरक कहते हैं[17]-"संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते" अर्थात वस्तु के दुर्गुणों का परिहार तथा गुणों का परिवर्तन करके भिन्न एवं नए गुणों का आधान करने का नाम संस्कार है। इसके अतिरिक्त निर्गुणी को गुण युक्त बनाना, विकारों एवं अशुद्धियों का निवारण करना तथा मूल्यवान गुणों को सम्प्रेषित अथवा संक्रमित करना संस्कारों का कार्य है। इसका दूसरा पर्याय नाम 'करण' है।

• चरकसंहिता में उल्लेख है-"करणं हि नाम स्वाभाविकानाम् द्रव्याणामभि संस्कार:" अर्थात स्वाभाविक द्रव्यों का अभिसंस्कार करना करण है जैसे-धान या चावल को सुसंस्कारित करके सुपाच्य खील या परमल बनाना अथवा दूध से दही और दही से घी का निर्माण करना अभिसंस्कार है। इस तरह वस्तु के गुणों में आमूलचूल परिवर्तन कर देना अभिसंस्कार या करण कहलाता है। वस्तुत: संस्कार ही वह प्रक्रिया है, जो वस्तु के अन्दर नए गुण उत्पन्न कर सकती है।

• महर्षि शबर के मतानुसार "संस्कारो नाम स भवति यस्मिन्जाते पदार्थो भवति योग्य: कस्यचिदर्थस्य" अर्थात संस्कार वह है, जिसके होने से कोई पदार्थ या व्यक्ति किसी कार्य के योग्य हो जाता है अथवा संस्कार द्वारा मनुष्य किसी उद्देश्य विशेष के उपयुक्त बनता है। मानव जीवन का सर्वोच्च उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति है अत: मोक्ष उपलब्धि के योग्य जीवन का निर्माण करना संस्कार है।[18]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

• आद्यशंकराचार्य लिखते हैं-"संस्कारो हि नाम संस्कार्यस्य गुणाद्यानेन वा स्याद्योषाप नयनेन वा" अर्थात जिस व्यक्ति का संस्कार किया जाता है, उसमें गुणों का आरोपण करने के लिए अथवा उसके दोषों का परिमार्जन करने के लिए विशिष्ट कर्म करना संस्कार है।[19]

• गौतमधर्मसूत्र के उल्लेखानुसार जिससे दोष हटते हैं और गुणों का उत्कर्ष होता है, वह संस्कार है। • मनु का कथन है-जो शरीर को शुद्ध करके उसे आत्म निवास के उपयुक्त बनाते हैं, वे संस्कार कहलाते हैं।[20] • अंगिरा के अनुसार 'जिस प्रकार अनेक रंगों से चित्रकार चित्र बनाता है, उसी प्रकार विधि पूर्वक किए गए संस्कारों द्वारा ब्राह्मण्य (ब्राह्मणत्व या ब्रह्मत्व) सम्पादित होता है। संस्कार का अर्थ धार्मिक अनुष्ठान भी होता है, जिसे हिन्दू परम्परा में 'यज्ञ' कहा है।

• कालिकापुराण के अनुसार यह सम्पूर्ण संसार यज्ञमय है-"सर्वंयज्ञमयं जगत्"। इस जगत में होने वाले समस्त कर्म यज्ञमय हैं, जो सदा-सर्वदा सनातन रूप से यत्र-तत्र सर्वत्र होते रहते हैं जैसे-देवपूजा, अतिथिसत्कार, व्रत, तप, जप, स्वाध्याय, खान-पान आदि नित्यकर्म तथा उपनयन, विवाह आदि नैमित्तिक कर्म एवं पुत्रेष्टि, राज्य प्राप्ति आदि काम्यकर्म। ये सभी व्यवहार यज्ञ स्वरूप ही हैं अत: उन सभी संस्कारों का अनुष्ठान सविधि और सनियम करना चाहिए, तभी वे कल्याणदायी होते हैं।[21]

• मनोविज्ञान की दृष्टि से विचार करें तो संस्कार मन में प्रस्थापित आदर्श हैं, जो जीवन व्यवहार के नियामक और प्रेरक होते हैं। मनुष्य अपने जीवन में सत्-असत् का निर्णय इन आदर्शों के आधार पर ही करता है। मनुष्य में मानवोचित गुण कर्म एवं स्वभाव की प्रेरणा इन्हीं संस्कारों की देन है। यदि चारित्र वृक्ष है, तो संस्कार उसका बीज है। अवचेतन मन संस्कार नामक इस बीज का क्षेत्र है और अनुकूल परिवेश उसका हवा-पानी-धूप है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अवचेतन मन में प्रतिष्ठित संकल्प का नाम ही संस्कार है। इस संकल्प में अपरिमित सम्भावनाएँ निहित होती हैं। ये संकल्प इतने शक्तिशाली होते हैं कि वे केवल एक जन्म में ही नहीं, जन्मान्तर में भी गतिशील होते हैं।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि जिस प्रकार अनेक रंगों का उचित उपयोग करने पर चित्र में सुन्दरता एवं वास्तविकता आ जाती है, उसी प्रकार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शास्त्रोपदिष्ट संस्कार करने से व्यक्ति के मन में सात्विकता एवं सर्वजनप्रियता का भाव प्रस्फुटित होता है तथा उसको वास्तविक सुख शान्ति का अनुभव होता है। संस्कार अवचेतन मन का उदात्तीकरण करते हैं तथा कर्मशुद्धि, भावशुद्धि और विचारशुद्धि के साथ-साथ अभ्युदय एवं नि:श्रेयस के हेतु होते हैं।

यह ज्ञातव्य है कि संस्कार जितनी अल्प आयु में या जितना जल्दी निश्चित समय पर किए जा सकें, उतने ही सफल होते हैं। शास्त्रों में कहा गया है-''यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत्'' अर्थात जिस प्रकार नए पात्र में किया गया संस्कार फिर नहीं बदलता, उसी प्रकार काय संरचना के समय किया गया संस्कार स्थायी रहता है, परन्तु आजकल संस्कार प्रयोग की पद्धति धीरे-धीरे बंद होती जा रही है।

सामान्यतया मनुष्य जीवन में दो प्रकार से परिवर्तन होते हैं-एक परिस्थिति के आधार पर और दूसरा मनुष्यों के अपने पुरुषार्थ के आधार पर। उनमें जीवन को टिकाए रखने हेतु परिस्थिति के अनुरूप परिवर्तन प्राणीमात्र के जीवन में होते रहते हैं। मनुष्य एक प्राणी है, अत: उसके जीवन में परिस्थिति के अनुकूल परिवर्तनों का होना स्वाभाविक है, किन्तु परिस्थिति के आधार पर होने वाले परिवर्तन संस्कार नहीं कहलाते हैं। जब मनुष्य सोच-समझ के साथ मन, बुद्धि, चेतना आदि का विकास करता है तो वह विकास ही संस्कार की कोटि में गिना जाता है, अतएव शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं चैतसिक विकास रूप परिवर्तन 'संस्कार' है।

स्वरूपत: मनुष्य माता के गर्भ से शिशु के रूप में जब जन्म लेता है, तब वह अपने साथ दो प्रकार के संस्कारों को लेकर आता है। पहले प्रकार के संस्कार वे हैं, जो वह जन्म-जन्मातरों से अपने साथ लेकर आता है और दूसरे प्रकार के संस्कार वे हैं, जिन्हें वह वंशानुक्रम से अपने माता-पिता द्वारा प्राप्त करता है। ये संस्कार अच्छे और बुरे दोनों हो सकते हैं। इस तरह एक व्यक्ति के संस्कार केवल उस जीवन से ही सम्बन्धित नहीं होते हैं, वरन उसके कुटुम्ब एवं कुलगत संस्कारों का भी उस पर अमिट प्रभाव पड़ता है, जिसे हम कुल परम्परा या कुल-संस्कार कहते हैं। इन संस्कारों के अनुरूप ही मनुष्य का चारित्र बनता है और विचारों के अनुरूप संस्कार बनते हैं। सुसंस्कारी बनने के लिए विचारों में परिवर्तन लाया जाना अत्यावश्यक है। जब तक विचार संस्कार नहीं बन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाते, तब तक मानव वृत्तियों में परिवर्तन नहीं लाया जा सकता, इसलिए विचारों का सम्यक परिवर्तन ही संस्कार है। यहाँ यह समझ लेना भी जरूरी है कि जहाँ विचार परिवर्तित होकर संस्कार बनते हैं, वहीं सच्चारित्र का निर्माण होता है तथा चारित्र वह धुरी है, जिस पर मनुष्य का जीवन सुख-शान्ति और मान-सम्मान की दिशा में गतिमान होता है। इस तरह मानव जीवन को पवित्र एवं उत्कृष्ट बनाने वाली आध्यात्मिक क्रिया का नाम 'संस्कार' है।

संस्कार और संस्कृति का तात्त्विक सम्बन्ध

सम्+कृ+घञ् के संयोग से संस्कार शब्द निर्मित होता है और सम्+कृ+क्त से संस्कृत शब्द का निर्माण होता है। संस्कार और संस्कृत में प्रत्यय मात्र का अन्तर है। 'क्त' प्रत्यय लगने से संस्कृत एवं 'घञ्' प्रत्यय लगने से संस्कार शब्द बनता है।

यद्यपि संस्कृति और संस्कार पर्यायवाचक शब्द हैं। ये दोनों ही परिष्कृत, अभिमन्त्रित, पवित्रीकृत आदि अर्थों के द्योतक हैं, फिर भी दोनों भिन्नार्थक हैं। वेदाचार्य शशिनाथ झा के अनुसार अभ्युदयमूलक उत्तम कर्म संस्कृति है और सत्-असत्कर्ममूलक उत्पन्न मनोवृत्ति या आत्मवृत्ति संस्कार है जैसे-संस्कारक द्रव्य द्वारा हीरा, मणि आदि रत्नों में चमक या शोभा पैदा की जाती है, उसी तरह सत्-संस्कार द्वारा अन्तरात्मा में शोभा या अन्तस्तेज अभिव्यक्त किया जाता है।[22]

दर्शन शास्त्र के अनुसार संस्कार रूपी बीज के अनुरूप कर्म रूपी वृक्ष उत्पन्न होते हैं और तदनुरूप फल भी देते हैं। वे फल आनन्दमय और दुःखमय दोनों प्रकार के होते हैं। हमारे पूर्व जन्मों के संस्कार जैसे होते हैं, उसी तरह के हमारे कर्म बनते हैं। सत् संस्कार का फल है सत्कर्म और असत् संस्कार का फल है असत्कर्म। इस तरह संस्कृति और संस्कार भिन्न-भिन्न अर्थ के बोधक हैं।

डॉ. जितेन्द्रकुमार के मतानुसार व्यक्ति में जो कार्य संस्कार का है, समाज में वही कार्य संस्कृति का है।[23] संस्कार व्यष्टि को सुधारते हैं, तो संस्कृति समष्टि को सुधारती है। पशु से मानव बनाने का कार्य संस्कार करते हैं और समूह से समाज में परिवर्तित करने का कार्य संस्कृति करती है। संस्कृति समष्टि में परिष्कार करती है तथा संस्कार व्यष्टि में। बिना व्यष्टि के समष्टि संभव नहीं, इसलिए संस्कारों के अभाव में संस्कृति का स्थान और आधार भी कुछ नहीं हो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सकता, अतः संस्कृति को जीवित रखने के लिए संस्कारों की अपरिहार्य रूप से आवश्यकता है। संस्कार, संस्कृति के आधारभूत केन्द्र, उद्गम स्थल या मूल स्रोत हैं। दार्शनिक भाषा में इनका सम्बन्ध अन्वय और व्यतिरेक का सम्बन्ध है। जिसके होने पर जो हो, वह अन्वय और जिसके न रहने पर जो न रहे, वह व्यतिरेक सम्बन्ध कहलाता है। संस्कारों के रहने पर संस्कृति रहेगी और संस्कारों के नहीं रहने पर संस्कृति भी नहीं रहेगी, यह सुनिश्चित सत्य है अतः संस्कार नींव के पत्थर हैं, जिनकी आधारशिला पर संस्कृति का विशाल भवन खड़ा किया जाता है। संस्कृति का अस्तित्व संस्कारों से अनुप्राणित है।

संस्कारों के मुख्य प्रकार

सामान्यतः संस्कारों की प्रक्रिया को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। एक बाह्य स्वरूप, जो मन्त्रोच्चारण, यज्ञानुष्ठान आदि कर्मकाण्डों के रूप में प्रयुक्त होता है, दूसरा आभ्यंतर स्वरूप, जो सम्यक प्रशिक्षण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। जो लोग क्रियाकाण्डों के प्रति कम विश्वास रखते हैं, उनके लिए यह जानने जैसा तथ्य है कि जिस प्रकार तीव्र औषधियाँ शरीर पर तत्काल प्रभाव करती हैं, उसी प्रकार इन कर्मकाण्डों का भी सुनिश्चित प्रभाव होता है। यदि उचित समय और उचित वातावरण में ये संस्कार सम्यक विधि-विधान पूर्वक सम्पन्न किए जाएं तो निःसन्देह उनका प्रभाव असाधारण ही होगा। जैसे कि किसी बालक का अन्नप्राशन संस्कार ठीक प्रकार से हुआ हो, वह उदर विकारों से मुक्त रहेगा, जिसका विद्यारम्भ संस्कार विधिवत किया गया हो, उसका विवेचन रूकेगा नहीं, जिसका उपनयन संस्कार सुविधि पूर्वक सम्पन्न हुआ हो, वह आजीवन मानव धर्म का अनुयायी बना रहेगा, जिन वर-वधू का विवाह संस्कार उचित रीति के साथ सम्पन्न किया गया हो, उनके जीवन में पारस्परिक प्रेम एवं सद्भाव की गंगा अविच्छिन्न रूप से बहती रहेगी। इसी प्रकार अन्य संस्कारों के सम्बन्ध में भी ऐसे ही परिणामों की संभावना मानी जाती है।

हर संस्कार का अपना महत्त्व, प्रभाव और परिणाम होता है। संस्कार सम्बन्धी जो भी क्रियाकलाप प्रचलित रहे हैं, उन्हें वर्तमान में अधूरे, लंगड़े और टालने जैसे वातावरण में सम्पन्न किया जा रहा है, फलस्वरूप उनका प्रभाव भी नगण्य ही होता है। हिन्दू परम्परा में आज भी संस्कारों का प्रचलन यथावत् है,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किन्तु जैन धर्म में दो-तीन को छोड़कर शेष संस्कारों की प्रक्रिया विधि विलुप्त सी हो गई है। उनमें भी दिगम्बर परम्परा में संस्कारों का अस्तित्व अपेक्षाकृत सही है, पर श्वेताम्बर परम्परा में तो संस्कारों का अस्तित्व समाप्त प्रायः है। यद्यपि व्रतारोपण संस्कार आज भी मौजूद है। यदि हमें सही व्यक्तित्व का निर्माण करते हुए आचार-विचार की भूमिका को पवित्र बनाए रखना है तो अपनी महान संस्कृति के मूलाधार संस्कारों की प्रक्रिया को पुनः सजीव करना होगा। इसी के साथ तद्योग्य विधि विधानों को मात्र परम्परा निर्वाह हेतु सम्पन्न न करके पूर्ण उत्साह, श्रद्धा एवं तत्परता के साथ सम्पादित करने की ओर ध्यान देना होगा। हमारा जितना अधिक ध्यान संस्कारों को सही तरीके से सम्पन्न करने की ओर होगा, उसके उतने ही बेहतर परिणाम उत्पन्न होंगे।

व्यक्ति, परिवार, समाज, संघ एवं राष्ट्र को नैतिक एवं सदाचारमय बनाने के लिए हमें वे उपाय करने होंगे, जिनसे प्रत्येक परिवार में संस्कारों का बीजारोपण हो सके। यह तभी संभव है, जब हम उनका महत्त्व समझें। परमार्थतः हमारे जीवन में भोजन, वस्त्र, शिक्षा, चिकित्सा आदि का जितना महत्त्व है, उससे कई गुना अधिक संस्कारों का मूल्य है। संस्कारहीन व्यक्ति के लिए पैसा, धन, समृद्धि, परिवार, मकान आदि भौतिक वस्तुएँ कोई महत्त्व नहीं रखतीं, यह अनुभूतिपरक सत्य है। अतः संस्कारों की दोनों प्रक्रियाओं को सुविधि पूर्वक एवं सुव्यवस्थित रूप से सम्पन्न करना चाहिए।[24]

सुसंस्कारों की उपयोगिता

संसार में सभी लोग सुन्दर दिखना चाहते हैं, कोई भी यह नहीं चाहता कि वह असुन्दर तथा कुरूप दिखाई दे। अपनी सुन्दरता को बनाए रखने एवं प्रकट करने के लिए लोग सौन्दर्य प्रसाधनों पर प्रतिवर्ष लाखों-करोड़ों रूपये खर्च कर रहे हैं। प्रसाधन सामग्री की बड़ी-बड़ी फैक्टरियाँ दिन-रात काम कर रही हैं। लोग सुन्दर दिखने के लिए तरह-तरह के वेश विन्यास और फैशनों को अपना रहे हैं, किन्तु प्रसाधनों का उपयोग करने के बावजूद भी वास्तविक सुंदरता प्रकट नहीं होती।

नित नए सौन्दर्य प्रसाधनों का बढ़ना इस बात का प्रमाण है कि संसार की प्राकृतिक, स्वाभाविक अथवा वास्तविक सुन्दरता का ह्रास हो रहा है। इसका मूल कारण यह है कि लोग सुन्दरता के यथार्थ को भूलते जा रहे हैं। उन्हें यह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ध्यान नहीं रह गया है कि सुन्दरता का निवास मनुष्य के अन्दर है, बाजारों में बिकने वाले श्रृंगार साधनों में नहीं। यदि सुन्दरता का निवास प्रसाधनों या श्रृंगारों में होता, तो हर मनुष्य सुन्दर दिखता, जो इनका प्रयोग करता है और हर वह स्त्री-पुरुष कुरूप दिखते जो इनका उपयोग नहीं करते, परन्तु ऐसा नहीं है। ग्रामीण इलाकों के स्वच्छ वातावरण में पलने वाली नारियाँ कई बार प्रसाधन सामग्री का उपयोग करने वाली स्त्रियों से अनेक गुना सुन्दर दिखाई पड़ती हैं। वस्तुतः कृत्रिम प्रसाधनों से निखरने वाली सुन्दरता क्षणिक होती है, जबकि स्वाभाविक सुन्दरता टिकाऊ होती है, मनुष्य की बात तो रहने दें, पशु-पक्षी जगत को ही देख लें तो कई पशु-पक्षी इतने सुन्दर होते हैं कि उनकी छवि अवर्णनीय होती हैं, जबकि उनके पास न तो कोई प्रसाधन होता है और न श्रृंगार सामग्री ही। उन जीवों की सुन्दरता स्वाभाविक होती है। इसका अर्थ यही है कि सुन्दरता का आधार प्रसाधन या श्रृंगार नहीं है, अपितु स्वाभाविक प्रकृति है।

यह भी कहा जाता है कि सुन्दरता ईश्वर प्रदत्त वस्तु है, जिसे मिल जाती है, वह सुन्दर दिखता है। कुछ लोग गोरी चमड़ी और अच्छे नाक-नक्शे को सुन्दरता मान लेते हैं, जबकि सुन्दरता का सम्बन्ध केवल रंग और नाक-नक्शे से नहीं हैं। यदि सुन्दरता-असुन्दरता का आधार रंग या सही बनावट ही होता, तो हर काला व्यक्ति कुरूप दिखता, जबकि काले लोग भी कई बार अत्यंत सुन्दर दिखते हैं। भगवान राम और कृष्ण काले थे, किन्तु इसके बावजूद भी वे इतने सुन्दर थे कि उनकी सुन्दरता का गुणगान आज तक किया जा रहा है। इससे सिद्ध होता है कि सुन्दरता का मूल आधार व्यक्ति का आन्तरिक सौंदर्य है।

यह भी देखा गया है कि कई लोग गौरवर्णीय तथा अच्छे नाक-नक्शे वाले होते हैं, फिर भी मन उनकी ओर आकर्षित नहीं होता, बहुत बार उनसे अरूचि और घृणा तक होने लगती है। इसका यही अर्थ है कि सुन्दरता का निवास सिर्फ वर्ण या बनावट में नहीं है। इतिहास साक्षी है कि अनेक सन्त, महात्मा ऐसे हुए हैं, जो कुरूप होने पर भी लोगों को अपनी ओर आकर्षित करते थे। उनके पास से हटने की इच्छा तक नहीं होती थी। अष्टावक्र ऋषि आठ जगह से कूबड़े थे और अत्यन्त कुरूप थे। चाणक्य की कुरूपता जग प्रसिद्ध है। कार्लमार्क्स,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

टालस्टाय, अब्राहम लिंकन आदि संसार के कुरूप व्यक्तियों में माने जाते हैं। यूनान के सुकरात भी कुरूप थे, पर उनका व्यक्तित्व इतना आकर्षक था कि लोग मुग्ध हो जाते थे। इससे स्पष्ट होता है कि सुन्दरता का मापदण्ड रंग और नाक-नक्शा ही नहीं होता। वास्तविकता यह है कि सुन्दरता न ईश्वर प्रदत्त प्रसाद है और न ही इसका आंकलन रंग अथवा नाक-नक्शे से होता है, इसका रहस्य आंतरिक सौंदर्य से है।

सुन्दरता का रहस्य वस्तुतः मनुष्य के संस्कारों में छिपा है। श़रीर और मन का निर्विकार होना, स्वभाव का मधुर होना, कार्य को स्फूर्ति पूर्वक करना, फूल की भाँति सदा प्रसन्न, खिला हुआ रखना सुन्दरता है, जो अनायास ही दूसरों को अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। यह सुन्दरता का बाह्य मापदण्ड है। आन्तरिक धरातल पर देखें, तो जो लोग परोपकार, परमार्थ और पर सेवा में लगे रहते हैं, किसी का भी सहयोग करने में तत्पर रहते हैं, प्रोत्साहन और आश्वासन देना जिनका स्वभाव होता है तथा जिनका हृदय निर्मल, निर्विकार, निश्छल, निष्कपट होता है, वे ही यथार्थ रूप में सुन्दर होते हैं। ऐसी सुन्दरता उनके बाह्य व्यक्तित्व में भी चमत्कार उत्पन्न कर देती है।

सुन्दरता संस्कारों के परिणाम स्वरूप निखरती है। यदि संस्कारों का आरोप विधिवत एवं समुचित रूप से किया जाए तो व्यक्ति का आन्तरिक विकास उत्तुंग शिखरों को छूने लगता है, उससे व्यक्ति की दैहिक दशा में ही परिवर्तन नहीं आता, अपितु मन, जीवन एवं विचारों की दशा में भी आमूलचूल परिवर्तन होने लगता है। यही संस्कारों का लाभ है।

वस्तुतः संस्कार मानव जीवन का परिष्कार करते हैं, चैतसिक शुद्धि में सहायक बनते हैं, व्यक्तित्व विकास करते हैं, मनुष्य देह को पवित्रता के गुणों से वासित करते है, सांसारिक जटिलताओं और समस्याओं का निवारण करते हैं, अनेक सामाजिक समस्याओं का भी समाधान करते हैं। जैसे कि गर्भाधान एवं जन्म के पूर्व तक के संस्कार यौन और प्रजनन सम्बन्धी समस्याओं को दूर करते है, विद्यारम्भ तथा उपनयन से समावर्त्तन पर्यन्त संस्कार शिक्षा की दृष्टि से लाभकारी है, विवाह संस्कार अत्याचारी एवं मर्यादाहीन प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाता है। यह संस्कारों की प्रत्यक्ष उपयोगिता है। इसी आधार पर कह सकते हैं कि जीवन उन्नयन एवं चारित्र निर्माण में संस्कारों की बहुत बड़ी भूमिका होती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यदि हमें वास्तविक सुन्दरता को प्राप्त करना है, तो संस्कारवान बनना होगा। अपने मन एवं मस्तिष्क को बुरे विचारों, दूषित भावनाओं से मुक्त रखना होगा तथा उनके स्थान पर दैवीयभावों का प्रतिष्ठापन करना होगा। सुसंस्कारिता न केवल व्यक्तित्व में चार चाँद लगाती है, वरन मनुष्य को नर से नारायण बनाने एवं महानता अर्जित करने में भी सहायक होती है। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति में संस्कारों पर सर्वाधिक जोर दिया गया है। भारतीय ऋषि-सन्तों ने अनगढ़ व्यक्तित्व को सुगढ़ बनाने के लक्ष्य से ही संस्कारों का व्यवस्थापन किया है। सोलह संस्कारों के सृजन का मूल प्रयोजन था मानवी चेतना पर सूक्ष्म विधि से उन आदर्शों की प्रतिष्ठापना करना, जिनके द्वारा व्यक्तित्व परिष्कृत एवं श्रेष्ठ बन जाए यह प्रक्रिया पूर्णतया वैज्ञानिक है। प्राचीन युग से व्यक्ति और समाज को श्रेष्ठ एवं शालीन बनाने में संस्कारों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में संस्कारों की प्रासंगिकता

सत्संस्कारों की आवश्यकता सार्वकालिक रही है। वर्तमान में भी ऐसे आधार ढूंढे जा रहे हैं, जो व्यक्ति को शालीन एवं सुसभ्य बनाते हों। शिष्टाचार सिखाने के लिए एटीकेट्स विद्यालय खोले जा रहे हैं। संस्कारों का बीजारोपण करने के लिए बहुत से प्रयास जारी हैं। ये सभी प्रयास इस बात के प्रमाण हैं कि संस्कारों की आवश्यकता इन दिनों भी पूर्वकाल की तरह ही अनुभव की जा रही है। श्रीरामशर्मा आचार्य के अनुसार इटली के मेंडले नामक विद्वान ने संस्कार क्रिया पर आधारित एक शास्त्र का निर्माण किया है, जिसे यूजेनिक्स कहा गया है। हिन्दी में इसे 'सुसन्तान अभिजनन शास्त्र' कहते हैं। मेंडले के कार्यों से प्रेरणा लेकर इस सदी के आरम्भ में इंग्लैण्ड के विद्वान् 'सरफ्रानिक्सगाल्टन' ने अपनी सम्पत्ति का एक बड़ा भाग लन्दन विश्वविद्यालय को इस क्षेत्र में शोध कार्य के लिए दिया है। इस विश्वविद्यालय में 'युजेनिक्स' के शोध कार्य में अनेकों विद्वान लगे हुए हैं। यूरोप के अन्य देशों में भी यह शास्त्र लोकप्रिय हो रहा है। यूजेनिक्स में वंश परम्परा, विवाह आदि के सम्बन्ध में विस्तृत शोध चल रहा है। उस क्षेत्र में शोध कर रहे विद्वानों का कहना है कि सन्तति को सुसंस्कारी एवं शालीन बनाने में प्रत्यक्ष उपदेशों एवं प्रशिक्षणों का कम, धार्मिक संस्कारों का अधिक योगदान होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मनोविज्ञान की यह मान्यता है कि मनुष्य के सुसंस्कार सामान्य उपदेशों या योग्य परामर्शों की अपेक्षा अनुकूल वातावरण में अधिक तीव्र गति से विकसित हैं अर्थात जीवन को संस्कारी बनाने के लिए उपदेशों या निर्देशों की आवश्यकता उतनी नहीं है, जितनी धर्म और सत्संग युक्त वातावरण की है।[25]

यह प्रमाण पुरस्सर है कि मन का स्वभाव अधोगामी है, अतएव वह अच्छी प्रेरणाओं को शीघ्र ग्रहण नहीं कर पाता है। नाटक, सिनेमा, टी.वी. आदि पर देखे गए दृश्यों का भला-बुरा प्रभाव दर्शक के मन पर अधिक पड़ता है। जहाँ तक बच्चों का प्रश्न है, संस्कारों की आवश्यकता उनके लिए विशेष होती है। बच्चे अधिक संवेदनशील होते हैं। उनके मानस पटल पर अच्छा-बुरा जो भी प्रभाव पड़ता है, वे वैसा ही आचरण करने लगते हैं अत: बच्चों को धार्मिक वातावरण का मिलना बहुत जरूरी है। अधिकांश संस्कार जन्म से लेकर युवावस्था तक की अवधि में ही सम्पन्न किये जाते हैं, इस दृष्टि से संस्कारों की प्रासंगिकता अपरिहार्य रूप से स्वीकृत है। चिंतकों के अनुसार बाल्यकाल की अवस्था को कच्ची मिट्टी की उपमा दी गई है। जैसे कच्ची मिट्टी को चाहे जिस रूप में परिवर्तित कर सकते हैं, चाहे जिस आकार में बदल सकते हैं, वैसे ही बच्चे को इच्छानुरूप सत्-असत् मार्ग की ओर ढ़ाल सकते हैं। उसमें बनने-बिगड़ने, गिरने-संवरने की पूर्ण संभावनाएँ रहती हैं। उसे जैसा वातावरण या संयोग मिलता है, वह तदनुरूप ढ़ल जाता है।

वर्तमान युग में बढ़ रही अराजकता, अत्याचार, भ्रष्टाचार, पापाचार, लूटमार आदि के वातावरण से सन्तान को बचाना अति आवश्यक हो गया है। संस्कार ही ऐसे खतरों से सुरक्षा प्रदान कर सकते हैं। आज स्थितियाँ जिस दौर से गुजर रही हैं, उस दृष्टि से संस्कारों का पल्लवन करना, संस्कारमय वातावरण उपस्थित करना, सद्गुरुओं का सहवास करना, सत्संग का योग करना, धार्मिक आयोजनों को सम्पादित करना बहुत जरूरी है। वातावरण का बच्चों पर अमिट प्रभाव पड़ता है। बच्चे जिस वातावरण में रहते हैं, जैसे संयोगों में रहते हैं, जिस माहौल में फलते-फूलते हैं, उसका 90 प्रतिशत प्रभाव उनकी मनो भूमिका पर पड़ता है।

'यूजेनिक्स' के शोध में लगे वैज्ञानिकों ने विश्वभर में प्रचलित सभी धर्म सम्प्रदायों में किए जाने वाले संस्कारों पर गहन शोध करना प्रारम्भ किया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हिन्दू धर्म के संस्कारों के शोध में लगे एक वैज्ञानिक का कहना है कि इन संस्कारों की पृष्ठभूमि मनोवैज्ञानिक सूझबूझ पर बनी है, जिसमें व्यक्तित्व के समग्र विकास की पूरी-पूरी सम्भावना है। संस्कार मात्र कर्मकाण्ड नहीं, आत्म निर्माण के सशक्त माध्यम हैं। इन संस्कारों का व्यापक स्तर पर प्रचलन या प्रयोग किया जा सके, तो व्यक्ति एवं समाज के नव निर्माण की आवश्यक पूर्ति हो सकती है।[26]

निष्कर्ष रूप में यह तथ्य सामने आता है कि संस्कारों द्वारा जीवन के विविध आयामों को विकसित एवं पल्लवित किया जा सकता है। साथ ही पूर्वाभ्यास से आगत तमाम विकृतियों एवं दुष्चेष्टाओं को निरस्त भी किया जा सकता है। इन्हीं वैशिष्ट्यों के कारण वर्तमानयुगीन विषम परिस्थितियों में संस्कारों की प्रासंगिकता विशेष रूप से प्रतीत होती है।

संस्कारों की पृष्ठभूमि में रहे वैज्ञानिक तथ्य

संस्कार कर्म एक विज्ञान सम्मत प्रक्रिया है, जिनका आविर्भाव शास्त्र ग्रन्थों के आधार पर हुआ है। बालक के गर्भ में प्रवेश करने से लेकर जीवनयापन के विभिन्न पड़ावों से गुजरते हुए शरीर छोड़ने तक विविध 'संस्कारों' का आयोजन किया जाता है। यह एक विशिष्ट विधानात्मक पद्धति है। इन विधानों से व्यक्ति की अन्तश्चेतना पर एक विशेष प्रभाव पड़ता है और उसका मन सुसंस्कारी होने लगता है। विशिष्ट प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त अद्वितीय शक्ति सम्पन्न मन्त्रों में क्षमता होती है। उन मन्त्रों का निर्माण ऐसी वैज्ञानिक पद्धति से हुआ है कि जब उन मन्त्रों का विधिवत उच्चारण किया जाता है, तब वे आकाश तत्व में एक विशेष विद्युत प्रवाह तरंगित करते हैं। उसका तद्योग्य संस्कारों पर वैसा ही प्रभाव पड़ता है, जैसा उन मन्त्रों का उद्देश्य होता है। मन्त्रों की शक्ति सुप्रसिद्ध है। अनुसंधानकर्ता वैज्ञानिकों द्वारा यह शोध बहुत पहले किया जा चुका है कि किन शब्दों का किन-किन शब्दों के साथ तालमेल बिठाया जाए और उनका किस प्रकार उच्चारण किया जाए जिससे सुनने वालों पर अथवा जिनके निमित्त उनका उच्चारण किया जा रहा है, उन पर अच्छा प्रभाव पड़ सके। इसी निष्कर्ष के आधार पर वे मन्त्र बने हैं। उपलब्ध मन्त्रों का किस प्रयोजन के लिए, किस प्रकार प्रयोग किया जाए? इसका विवेचन धर्म ग्रन्थों में भी हुआ है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वैदिक धर्म में यह माना गया है कि यज्ञ उपचार के साथ-साथ इन मन्त्रों की शक्ति और भी बढ़ जाती है। जो लोग आहुतियाँ देते हैं, उन पर इन मन्त्रों का सीधा प्रभाव पड़ता है। जैन परम्परा में यज्ञ आहुति देने का कोई विधान नहीं है। फिर भी यहाँ मन्त्रोच्चारण से होने वाले प्रभाव को बहुत पहले से स्वीकारा गया है। जिस प्रकार बिजली, भाप, अणु, रसायन आदि का अपना विज्ञान है, उसी प्रकार मन्त्र शास्त्र एवं कर्मकाण्डों का भी अपना विज्ञान है।[27] यदि कोई उसका प्रयोग ठीक प्रकार से कर सके, तो मनुष्य पर उसका असाधारण प्रभाव पड़ता है और उसका असाधारण लाभ भी उठाया जा सकता है। व्यक्ति को सुसंस्कृत बनाने में संस्कार पद्धति के क्रियाकलाप सफलीभूत माने जाते हैं। संस्कारकर्म या संस्कार आरोप पद्धति को एक प्रकार से मनोविकारों के निराकरण की चिकित्सा प्रणाली कहा जा सकता है।

मानसिक चिकित्सा दृष्टि से संस्कारों का मूल्य

श्रीरामशर्मा आचार्य का मन्तव्य है कि जिस प्रकार अभ्रक आदि सामान्य पदार्थों का अनेक बार अग्नि संस्कार कर उससे मकरध्वज जैसी बहुमूल्य रसायनें बनाई जाती हैं, उसी प्रकार मनुष्य पर षोडश संस्कारों का सोलह बार प्रयोग करके उसे सुसंस्कारी बनाया जाता है।

शारीरिक रोगों को दूर करने हेतु अनेकशः अन्वेषण हो रहे हैं। आयुर्वेद, होम्योपैथी, एलोपैथी, नेचरोपैथी आदि चिकित्सा पद्धतियाँ शरीरगत कष्टों को दूर करने में समर्थ हैं। पागलों के इलाज के लिए मानसिक चिकित्सालय भी खुले हैं, किन्तु आज की सबसे बड़ी समस्या है-मनुष्य की मानसिक विकृतियों को कैसे दूर किया जाए? मानव प्रगति के पथ को अवरूद्ध करने वाली प्रधान बाधा यह विकृतियाँ ही हैं, पर इनके निराकरण का कोई उपाय अब तक ढूंढा नहीं गया है। ये मानसिक विकृतियाँ व्यक्ति को अधपगले जैसी स्थिति में लाकर पटक देती हैं। इन विकृतियों का मूल कारण कुसंस्कार है। इनके निराकरण के सम्बन्ध में कोई चिकित्सा कामयाब नहीं हो पा रही है। अन्य मानसिक बीमारियाँ जैसे– अविश्वास, निर्दयता, रूखापन, ईर्ष्या, क्रोध, कामुकता, कंजूस वृत्ति आदि एक प्रकार के हलके मानसिक रोग हैं, किन्तु कुसंस्कार का होना सबसे बड़ा रोग है। कुसंस्कारी व्यक्ति से प्रायः सभी लोग खिन्न एवं असंतुष्ट रहते हैं। उस व्यक्ति की अपनी प्रतिभा तो नष्ट हो जाती है तथा वह कुछ श्रेष्ठ कार्य कर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सकेगा, इसकी आशा भी नहीं रहती हैं। इसी कारण कुसंस्कारी होना मनुष्य का बहुत बड़ा दुर्भाग्य माना गया है।

इस महत्त्वपूर्ण समस्या पर हमारे संत-महर्षियों ने अनेकविध उपाय भी खोज निकाले हैं, जिनके द्वारा मानव का चेतन मन निर्मल, सुसंस्कृत एवं सन्तुलित हो सके। इस प्रक्रिया का नाम है-संस्कार कर्म। इन संस्कारों के माध्यम से समय-समय पर यह उपचार रूप संस्कार कर्म किया जाता है। इस उपचार द्वारा मनुष्य के मनोविकारों का शमन एवं सत्प्रवृत्तियों का विकास किया जा सकता है।[28] वस्तुतः जीवन में सतत काम आने वाली सत्प्रवृत्तियों का बीजारोपण इन संस्कारों के समय ही होता है। यदि किसी बालक के सभी संस्कार समुचित वातावरण में सम्यक विधि से सम्पन्न किये जाते हैं, तो उसका व्यक्तित्व आनन्द-प्रमोद से भर उठता है, साथ ही मानसिक रोगों का नामोनिशान भी नहीं रहता है।

संस्कारों के मूलभूत प्रयोजन

मनुष्य जीवन को सशक्त, सक्रिय एवं प्राणवान बनाना जरूरी है। यह प्राणवत्ता संस्कार निर्माण द्वारा ही संभव है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि संस्कार निर्माण के पीछे मुख्य प्रयोजन क्या रहे होंगे? इनको सम्पादित करते समय बड़े पैमाने पर प्रयुक्त होने वाले विधि-विधानों का मुख्य ध्येय क्या रहा होगा? संस्कार, उद्‌भव एवं निर्माण के समय क्या स्थिति रही होगी? किस वातावरण में ये संस्कार कर्म किए जाते थे? संस्कारों का मुख्य प्रयोजन क्या होता था? इत्यादि विषयों पर संक्षेप में प्रकाश डालना अपेक्षित है। हिन्दू परम्परा के अनुसार संस्कार विधान के निम्न प्रयोजन दृष्टिगत होते हैं।

1. लौकिक प्रयोजन

सर्वप्रथम अलौकिक शक्तियों के दुष्प्रभावों का शमन करने हेतु संस्कार कर्म की क्रिया प्रारम्भ हुई। उस समय लोगों में यह विश्वास था कि संस्कारों द्वारा अमंगल का निराकरण और मंगल की प्राप्ति की जा सकती है। जीवन को आसुरी शक्तियों से बचाया जा सकता है। उनमें भी निम्न उद्देश्य मुख्य थे-

अशुभ प्रभावों का प्रतिकार– शुभ कार्यों में अमंगल की सतत आशंका रहती है अतः अशुभ प्रभाव के निवारण के लिए संस्कारों में कुछ विशेष कृत्य भी किए जाते हैं, अतएव हिन्दू धर्म में अमंगलकारी उपद्रवों से बचने के लिए

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संस्कारों के अन्तर्गत अनेक साधनों का आलम्बन लिया गया था। जैसे- मुण्डन के अवसर पर काटे हुए केशों को गाय के गोबर के पिण्ड के साथ मिलाकर गोष्ठ में गाड़ दिया जाता था अथवा नदी में फेंक दिया जाता था, जिससे कोई भूत या पिशाच उस पर अपने चमत्कारी प्रयोग न कर सके।[29] अन्तिम संस्कार के समय जैसे ही व्यक्ति मृत्यु के निकट होता था, उस समय मरणासन्न व्यक्ति की प्रतिकृति का दाह कर दिया जाता था। इसके मूल में यह उद्देश्य निहित था कि मृत्यु जब मरणासन्न व्यक्ति पर आक्रमण करे, तो तथाकथित मृत व्यक्ति के कारण भ्रमित हो जाए। इस प्रकार अशुभ प्रभावों को रोकने के लिए दुष्ट देवों को बहकाया जाता था।[30] जातकर्म संस्कार के समय बालक का पिता देवों और देवियों से भी अशुभ प्रभावों का निवारण करने के लिए प्रार्थना करता था।[31] स्त्री की गर्भावस्था के समय उसकी रक्षा के लिए प्रार्थनाएँ की जाती थीं।[32] भूत-पिशाचों और राक्षसों से रक्षा करने के लिए जल का उपयोग प्रत्येक संस्कार में किया जाता था। शतपथ ब्राह्मण में जल को राक्षसों का नाशक कहा गया है।[33] अवांछित शक्तियों को आतंकित करने के लिए अन्त्येष्टि के समय शब्द किया जाता था।

प्राचीनकाल में स्वार्थवश अपने पर से अमंगल शक्तियों को हटाकर उन्हें अन्य व्यक्तियों पर संक्रमित करने के प्रयोग और प्रयत्न भी किए जाते थे। जैसे- वधू द्वारा धारण किए गए वैवाहिक वस्त्र ब्राह्मण को दान कर दिए जाते थे, क्योंकि वे वधू के लिए घातक समझे जाते थे। इस विषय में लोगों की यह धारणा थी कि ब्राह्मण इतना सशक्त होता है कि उस पर अशुभ शक्तियाँ आक्रमण नहीं कर सकती हैं या फिर वैवाहिक वस्त्रों को गौशाला में रख दिया जाता था अथवा वृक्ष पर टांग दिया जाता था।[34] इस प्रकार संस्कार निष्पन्न करते समय उपद्रवों या अशुभ प्रभावों को दूर करने के लिए कई प्रकार के साधन अपनाए जाते थे।

वांछित सिद्धि की प्राप्ति– पूर्व काल में संस्कार कर्म का प्रयोजन वांछित सिद्धि को प्राप्त करना भी था। जिस प्रकार संस्कारों द्वारा अशुभ प्रभावों से बचने का प्रयत्न किया जाता था, उसी प्रकार संस्कार के अवसर पर संस्कार्य व्यक्ति के हित के लिए वांछित प्रयोग भी किए जाते थे। हिन्दुओं का यह विश्वास था कि जीवन का प्रत्येक समय किसी न किसी देवता द्वारा अधिष्ठित है अतः

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संस्कार विधानों की सफलता एवं संस्कार्य व्यक्ति को आशीर्वाद देने के लिए देवता का उद्बोधन किया जाता था। संस्कार की सिद्धि के लिए शुभ वस्तुओं का स्पर्श करना मंगलकारी माना जाता था, इसीलिए सीमन्तोनयन संस्कार के समय उदुम्बर वृक्ष की शाखा को गर्भवती स्त्री की ग्रीवा पर स्पर्श करवाया जाता था[35] और यह माना जाता था कि उसके स्पर्श से सन्तति प्रजनन की क्षमता आ जाती है।

नवजात शिशु का श्वास-प्रश्वास सुचारु रीति से चले इसलिए बालक का पिता उसके जातकर्म संस्कार के प्रसंग पर अपनी श्वास शिशु पर तीन बार छोड़ता था। पुत्र की प्राप्ति के लिए गर्भवती महिला को दधि मिश्रित द्विदल धान्यों के साथ जौ का एक बीज खाना आवश्यक माना जाता था।[36] सन्तति प्रजनन के लिए पत्नी की नाक के दाहिने छेद में विशाल वटवृक्ष का रस छोड़ा जाता था।[37] सीमन्तोनयन संस्कार के अवसर पर पत्नी को चावल के ढेर की ओर देखने के लिए कहा जाता था। इस प्रकार संस्कारों की सिद्धि के लिए कई प्रकार की परम्पराएँ प्रचलित थीं तथा प्रत्येक व्यक्ति अपने आवश्यक एवं लौकिक कार्यों की सफलता के लिए संस्कार कर्म करवाता भी था।

भौतिक लाभ की कामना– भौतिक वस्तुओं की संप्राप्ति भी संस्कार कर्म अनुष्ठान का एक मुख्य कारण थी। प्राच्यकाल में उस अवसर पर विशेष आराधनाएँ और प्रार्थनाएँ की जाती थीं। हिन्दुओं का यह विश्वास था कि आराधना और प्रार्थना के माध्यम से देवता उनकी अभीप्सित इच्छाओं को जान लेते हैं और पशु, सन्तान, अन्न, स्वास्थ्य, सुन्दर शरीर आदि की पूर्ति करते हैं।[38] संस्कार कर्म का यह प्रयोजन आज भी मौजूद है अत: संस्कार क्रिया का एक प्रयोजन भौतिक वस्तुओं को समुपलब्ध करना भी था।

भावाभिव्यक्ति का प्रकटन– भारतीय परम्परा में संस्कार का आयोजन एक कारण जीवन यात्रा में घटित होने वाले हर्ष, आनन्द और दु:ख आदि को अभिव्यक्त करना भी रहा है। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन काल में अच्छी-बुरी, श्रेष्ठ-निम्न कई प्रकार की घटनाएँ घटित होती रहती हैं, अत: उन्हें अभिव्यक्ति का रूप देने के लिए संस्कार कर्म किए जाते थे। जैसे-पुत्र जन्म के अवसर पर खुशी होना स्वाभाविक है, तो उस असीम आनन्द को प्रकट करने हेतु संस्कार उत्सव करते थे। इसी प्रकार विवाह के अवसर पर होने वाली प्रसन्नता, शिशु

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के प्रगतिशील चरण पर परिवार को होने वाला हर्ष, मृत्यु के अवसर पर होने वाला शोक इत्यादि को भोज तथा उपहारों के रूप में व्यक्त किया जाता है और यह सब कार्य संस्कार कर्म के रूप में ही सम्पन्न किए जाते हैं। इस प्रकार संस्कार कर्म का लौकिक प्रयोजन कई दृष्टियों से सिद्ध होता है।

2. सामाजिक प्रयोजन

हिन्दू धर्म के मान्य ग्रन्थों मनुस्मृति, गुह्यसूत्रों आदि का अवलोकन करने से यह ज्ञात होता है कि पूर्व काल में संस्कार क्रिया का एक प्रयोजन सामाजिक उत्थान भी था। समाज विज्ञान की दृष्टि से संस्कारों का बड़ा महत्त्व है। सामाजिक मूल्यों की सुरक्षा एवं चिरजीवंतता के लिए उनके प्रति निष्ठा एवं विश्वास परम आवश्यक है। सामाजिक और धार्मिक अनुष्ठान इसके अनुपम माध्यम हैं। संस्कार इसका श्रेष्ठ उदाहरण है। केवल विधि या नियम के द्वारा सामाजिक व्यवस्था स्थाई नहीं हो सकती, उसके लिए समाज के सदस्यों का सुसंस्कृत होना जरूरी है। किसी भी सामाजिक नियम अथवा व्यवस्था के पीछे शताब्दियों और सहस्राब्दियों के संस्कार काम करते हैं। सामान्यतया प्रत्येक मनुष्य में सामाजिकता का गुण सहज रूप से होता है तथापि देश अथवा जाति विशेष के नियमों एवं परम्पराओं के प्रति विश्वास प्रकट करने के लिए संस्कार करना आवश्यक है। संस्कार के आधार पर सामाजिक मूल्यों का विकास उत्तरोत्तर होता है। हिन्दुओं की सुदृढ़ सामाजिक व्यवस्था के पीछे उनके अपने नियमित और अनिवार्य संस्कार थे।

उस काल में उपनयन संस्कार को समाज और धार्मिक क्षेत्र में प्रविष्ट होने का एक प्रकार का प्रवेश-पत्र माना जाता था। यह संस्कार कर्म करने का मुख्य अधिकार ब्राह्मणों को प्राप्त था और शूद्रों के लिए वर्जित था।[39] सामाजिक दृष्टि से विद्यार्थी जीवन का काल परिपूर्ण होने पर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिए समावर्तन संस्कार का अनुष्ठान करना आवश्यक था। इतना ही नहीं, वैदिक मन्त्रों द्वारा उपनयन संस्कार और विवाह संस्कार किए गए किसी भी व्यक्ति को सभी प्रकार के यज्ञों के अनुष्ठान करने का तथा समाज में अपनी विशिष्टता का अधिकार मिल जाता था।

उस परम्परा में यह सिद्धान्त भी प्रचलित था कि प्रत्येक व्यक्ति उत्पन्न होते समय शूद्र होता है अत: पूर्ण विकसित आर्य होने के लिए उसका संस्कार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एवं परिमार्जन करना अनिवार्य है।[40] संस्कारों का अन्य प्रयोजन चारित्रिक विशुद्धि भी था, क्योंकि चारित्रिक विशुद्धि से सामाजिक चेतना प्रकट होती हैं। इस प्रकार संस्कार कर्म के पीछे कई प्रकार के सामाजिक प्रयोजन और भी थे।

3. नैतिक प्रयोजन

गौतमधर्मसूत्र में संस्कारों की संख्या चालीस बताई गई है। इसी के साथ आठ प्रकार के आत्मिक गुण कहे गए हैं। उनके नाम ये हैं-दया, क्षमा, अनसूया, शौच, शम, उचित व्यवहार, निरीहता और निर्लोभता। प्रस्तुत धर्मसूत्र में कहा गया है कि जिस व्यक्ति ने चालीस संस्कारों का अनुष्ठान कर लिया हो, किन्तु उसमें आठ आत्मगुण नहीं हैं, तो वह ब्रह्म का सान्निध्य प्राप्त नहीं कर सकता है, किन्तु जिसने कुछ संस्कारों को ही अनुष्ठित किया हो परन्तु आत्मा के आठ गुणों से युक्त है, तो वह ब्रह्मलोक में ब्रह्म का सान्निध्य प्राप्त कर लेता है। इससे फलित होता है कि संस्कार कर्म का प्रयोजन सामान्य न होकर विशिष्ट था। संस्कारों को केवल संस्कार रूप में करना-ऐसी धारणा संस्कार विधान में नहीं है, अपितु संस्कार के परिपाक से नैतिक गुणों की अभिवृद्धि होती है अत: संस्कार में जीवन के प्रत्येक सोपान के लिए व्यवहार के नियम धर्मशास्त्रज्ञों ने निर्धारित किए। उस समय जीवन प्रगति के लिए कई नियम निर्धारित हो चुके थे जैसे- गर्भिणीधर्म, अनुपनीतधर्म, ब्रह्मचारीधर्म, स्नातकधर्म आदि।[41] इन नियमों में नैतिक विकास के लक्षण प्रत्यक्ष रूप से विद्यमान हैं तथा वे लक्षण व्यक्ति की नैतिक प्रगति को सूचित करते हैं।

4. वैयक्तिक प्रयोजन

मनुष्य का वैयक्तिक जगत परिष्कृत होना परमावश्यक है। इस दृष्टि से संस्कारों का प्रारम्भ हुआ, ऐसा माना जा सकता है। संस्कार कर्म को निष्पन्न करने के लिए व्यक्तित्व निर्माण की भावना प्रारम्भ से ही निहित थी। संस्कार वैयक्तिक विकास की विशिष्ट प्रक्रिया है। संस्कार जीवन के प्रत्येक भाग को व्याप्त कर लेते हैं। इन षोडश संस्कारों की नियोजना इस प्रकार की गई है कि व्यक्ति जीवन के प्रारम्भ से ही उनके प्रभाव में आ जाता है। संस्कार द्वारा व्यक्तित्व निर्माण का कार्य किस प्रकार हो सकता है? इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार चित्रकर्म में सफलता प्राप्त करने के लिए विविध

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रंग अपेक्षित हैं, उसी प्रकार चारित्र निर्माण के लिए भी विभिन्न प्रकार के संस्कार आवश्यक होते हैं।

यदि हम व्यक्तित्व निर्माण की दृष्टि से संस्कार के प्रयोजनों पर दृष्टिपात करें, तो कई तथ्य स्पष्ट होते हैं। जैसे कि माता के गर्भ में जीव के स्थिर होने पर पुंसवन नामक संस्कार करवाया जाता था। वह गर्भिणी के शारीरिक एवं मानसिक दायित्वों को समझाने, उनका पालन करने एवं गर्भस्थ शिशु के भविष्य को उज्ज्वल बनाने के उद्देश्य से था। जब बालक कुछ समझने योग्य हो जाता था, तब उपनयन संस्कार किया जाता था। वह वैयक्तिक विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व का था। उस संस्कार के अवसर पर मानवोचित मर्यादाओं का पालन करने एवं दुराचरणों का निषेध करने की शिक्षा दी जाती थी। जब स्त्री गर्भिणी होती थी, तो उसे दूषित प्रभावों से बचाए रखने के लिए इस प्रकार का व्यवहार किया जाता था ताकि जिसका गर्भस्थ शिशु पर सत्प्रकाश पड़े।[42] नवजात शिशु को किसी प्रकार का शारीरिक कष्ट न हो और उसका बुद्धि बल उत्तरोत्तर बढ़े, एतदर्थ आशीर्वाद दिए जाते थे। बालक के विकास हेतु उपयुक्त वातावरण उपस्थित करने के लिए समय-समय पर उत्सव मनाए जाते थे।[43]

चूड़ाकरण या मुण्डन संस्कार के बाद जब शिशु बाल्यावस्था को प्राप्त होता था, तब वैयक्तिक विकास के उद्देश्य से उसे विद्यालय भेजा जाता था और वहाँ उसे अपने निजी कर्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों से परिचित कराया जाता था। इस प्रकार विविध संस्कारों के माध्यम से शिशु का वैयक्तिक पक्ष परिष्कृत किया जाता था। इससे स्पष्ट होता है कि संस्कार कर्म का मुख्य प्रयोजन व्यक्तित्त्व निर्माण ही था।

5. आध्यात्मिक प्रयोजन

यद्यपि आध्यात्मिक दृष्टि से शरीर को नि:सार माना गया है, फिर भी शरीर 'आत्ममन्दिर' है, साधना अनुष्ठान का माध्यम है, इसलिए यह बड़ा मूल्यवान है। यह आत्म मन्दिर संस्कारों से परिष्कृत (शुद्ध) होकर परमात्मा का निवास स्थान बन सके, यही संस्कारों का आशय है अतएव भारतीय परम्परा में संस्कार कर्म का अभ्युदय आध्यात्मिक विकास की भावनाओं को लेकर हुआ, ऐसा भी प्रतीत होता है। संस्कार द्वारा संस्कृत बना हुआ व्यक्ति यह अनुभव करता था कि अब यह जीवन संस्कारमय बन गया है और सम्पूर्ण दैहिक क्रियाएँ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आध्यात्मिक ध्येय से अनुप्राणित हो गईं हैं। इससे उस व्यक्ति के विचारों में भी अद्भुत परिवर्तन हो जाता था तथा उसकी गतिविधियाँ आध्यात्मिकता की ओर बढ़ने लगती थीं। उस समय संस्कार कर्म का वातावरण इतना प्रभावी होता था कि उसके फलस्वरूप व्यक्ति अनायास ही महसूस करता कि जैसे कोई अदृश्य वस्तु उनके समस्त व्यक्तित्व को पवित्र कर रही हो। इस प्रकार संस्कारों द्वारा व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास होता था, अत: वे संस्कार उपचार मात्र नहीं थे।

हिन्दू धर्म के अनुयायियों को यह विश्वास था कि संस्कारों का विधियुक्त अनुष्ठान करने पर व्यक्ति दैहिक बन्धन से मुक्त होकर मृत्यु के पार हो जाता है। यजुर्वेद में उल्लेख है कि जो व्यक्ति विद्या और अविद्या-दोनों को जानता है, वह अविद्या से मृत्यु को पार कर विद्या द्वारा अमरत्व को प्राप्त कर लेता है।[44] मनुस्मृति के द्वितीय अध्याय में प्रोक्त संस्कारों का सामान्य प्रयोजन बताते हुए कहा गया है कि गर्भाधान आदि संस्कारों द्वारा ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यों का शरीर इहलोक और परलोक में पवित्र कार्य करने वाला बनता है।

गर्भकालीन तीन संस्कारों तथा जातकर्म, चूड़ाकर्म और उपनयन आदि संस्कारों के समय किए जाने वाले होमों से बीज और गर्भ सम्बन्धी द्विजों की अशुद्धियाँ नष्ट हो जाती हैं और वेद मन्त्रों के प्रभाव से मन में शुभ संस्कारों का संचय होता है। वेदारम्भ द्वारा विद्या ज्ञान से, विवाह द्वारा पुत्रोत्पत्ति से, पंच महायज्ञों एवं अग्निष्टोमादि यज्ञों के अनुष्ठान से ब्राह्मण आदि के शरीरस्थ जीव को ब्रह्म प्राप्ति योग्य किया जाता है।

स्मृति संग्रह में गर्भाधान आदि का विशेष प्रयोजन बतलाते हुए कहा गया कि गर्भाधान संस्कार से बीज सम्बन्धी और गर्भवास की मलीनता सम्बन्धी दोष नष्ट होते हैं। पुंसवन संस्कार से कन्या शरीर न बनकर पुत्र शरीर का निर्माण होता है। सीमन्त संस्कार द्वारा गर्भाधान का फल प्राप्त होता है। जातकर्म संस्कार से गर्भस्थ जीव द्वारा माता के आहार रस को पीने पर उत्पन्न दोष नष्ट हो जाते हैं तथा आयु और तेज की वृद्धि होती है। नामकरण से व्यवहार की सिद्धि होती हैं। निष्क्रमण संस्कार द्वारा सूर्य भगवान का मन्त्र पूर्वक दर्शन कराने से आयु और लक्ष्मी की वृद्धि होती है। अन्नप्राशन से माता के गर्भ में मलिनता भक्षण का जो दोष लगता है वह शुद्ध हो जाता है। चूड़ाकर्म का प्रयोजन आयु और तेज की वृद्धि करना है। उपनयन संस्कार से वेदाध्ययन का अधिकारी बनता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विवाह के द्वारा अग्निहोत्र तथा दर्श-पौर्णमास आदि याग करने के योग्य बन जाता है, क्योंकि सपत्नीक मनुष्य ही होम आदि अनुष्ठान कर सकता है। वस्तुतः इन संस्कारों के द्वारा अपवित्रता रूप पापों से निवृत्ति और पवित्रता रूप पुण्य का प्रादुर्भाव होता है तथा मन, वाणी और शरीर सुसंस्कारित बनते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन संस्कारों के प्रयोजन एवं उद्देश्य यथार्थ थे। अनुभूति के स्तर पर खरे थे। देश-कालगत परिस्थितियों के आधार पर इन संस्कार कर्मों की क्रिया विधियों एवं अनुष्ठानों में उतार-चढ़ाव आते रहे। आज कुछ संस्कार ही अस्तित्व के रूप में मौजूद रह गए हैं। परमार्थतः सोलह संस्कारों के द्वारा शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक तथा धार्मिक आदि सभी क्षेत्रों को सुदृढ, सशक्त और सुविकसित किया जाता है। साथ ही संस्कारित व्यक्ति में परोपकार, मानवीयता, सहृदयता, व्यावहारिकता निःस्वार्थ भावना आदि गुणों का आरोपण किया जाता है तथा गृहस्थ जीवन एवं व्रती जीवन की अवधारणाओं से परिचित कराया जाता है। एक दृष्टि से देखा जाए तो इन संस्कारों के माध्यम से व्यक्ति जन्म, जीवन और मृत्यु-तीनों को सुधार लेता है।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में इन संस्कारों की प्रासंगिकता विविध दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती है। जहाँ आधुनिक काल में व्यक्ति की मनोवृत्तियाँ दूषित होती जा रही हैं और कुसंस्कारों का प्रभाव हावी होता जा रहा है, वहाँ उनके निराकरण एवं स्वस्थ जीवन शैली की स्थापना के साथ ही समाज के चहुँमुखी विकास के लिए ये अनिवार्य अनुभूत एवं निश्चित परिणामी है।

विभिन्न क्षेत्रों में संस्कारों का महत्त्व

हिन्दू परम्परा में संस्कारों का महत्त्व सर्वाधिक रहा है। इस परम्परा में आज भी कई संस्कार मूल विधि के अनुसार निष्पादित किए जाते हैं। निरपेक्ष दृष्टि से विचार करें, तो संभवतः यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि हिन्दू परम्परा के प्रभाव से ही जैन परम्परा में संस्कारों का अस्तित्व है। सामान्य रूप से विचार करें तो कल्पसूत्र, ज्ञाताधर्मकथा, राजप्रश्नीय, औपपातिक आदि आगम ग्रन्थों में चन्द्र-सूर्य दर्शन, उपनयन, नामकरण, विद्यारम्भ आदि संस्कारों को निष्पन्न किए जाने के उल्लेख स्पष्टतः मिल जाते हैं किन्तु आचारदिनकर में संस्कारों की संख्या एवं क्रम जिस रूप में उल्लिखित हैं वैसा वर्णन श्वेताम्बर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परम्परा के अन्य ग्रन्थ में देखने को नहीं मिलता है। यह ग्रन्थ विक्रम की 15वीं शती का है। इससे सुनिश्चित होता है कि जैन परम्परा में प्रचलित संस्कार हिन्दू परम्परा के ही मुख्य अवदान हैं।

संस्कारों का महत्त्व प्रस्तुत करते हुए वैदिक ग्रन्थों में कहा गया है कि "जन्मना जायते शूद्र: संस्काराद्द्विज उच्यते" अर्थात मनुष्य जन्म से द्विज नहीं होता, वह संस्कार के द्वारा द्विज बनता है इस सूक्ति में उपनयन आदि संस्कार के कर्म ही विवक्षित हैं। व्यापक दृष्टिकोण से मनन किया जाए तो इस वचन का तात्पर्य यह निकलता है कि जन्मत: मनुष्य पशु या पामर है और वह संस्कार द्वारा ही संस्कारी मनुष्य बनता है।

संस्कार का एक अर्थ चमक या पालिश है। इसका मतलब है कि संस्कार बाहरी सफाई या शुद्धि नहीं करते, अपितु मानव हृदय की सफाई करते हैं, जिसके कारण मनुष्य का रहन-सहन, भावना-बुद्धि सभी में सम्यक परिवर्तन आता है। दूसरे शब्दों में, यों कह सकते हैं कि जिस शिक्षा या प्रक्रिया से मनुष्य में सामाजिक एवं आध्यात्मिक गुणों का विकास होता हो वह संस्कार है। इन संस्कारों का महत्त्व इसलिए भी अधिक है कि इस पद्धति द्वारा दोषापनयन और गुणाधान-दोनों का एक साथ योग होता है। इस सम्बन्ध में अनेकों उदाहरण दिए जा सकते हैं। जैसे हीरे और जवाहरात बाजार में जिस स्थिति में देखे जाते हैं, उस रूप में वे खानों से नहीं निकलते हैं। उनको खराद पर चढ़ाया जाता है, तब वे निखरते हैं। उनकी शोभा विधिवत संस्कारों द्वारा ही बढ़ती हैं। इसी तरह पारे का जारण-मारण करके उसे विधि पूर्वक संस्कारित किया जाता है, उसके बाद ही उससे संजीवनी रसायन बनाया जाता है। उद्यान को सुन्दर वृक्षों से सुशोभित करने के लिए माली को उसकी हर तरह से देखभाल करनी पड़ती है। वह खाद, पानी, काट-छांट आदि अनेक प्रक्रियाओं द्वारा पौधे को मनचाहे रूप में विकसित कर सकता है। जहाँ इस प्रकार के संस्कार करने वाला माली नहीं होता, वहाँ पौधे कुरूप, अस्त-व्यस्त और विकृत स्थिति में पड़े रहते हैं। यही बात मनुष्य को संस्कारित करने के विषय में समझनी चाहिए। हिन्दू परम्परा में जन्म से शूद्र(तुच्छ) प्रवृत्ति एवं हीनकर्म वाले व्यक्ति को सोलह बार संस्कार करके उसे ब्राह्मण के योग्य उच्चकुलीन बनाया जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समाहारतः संस्कारों के महत्त्व को उद्घाटित करते हुए यही कहा जा सकता है कि संस्कार सम्पन्न करते समय जो भी विधि-विधान या कर्मकाण्ड किए जाते हैं, उनका व्यक्ति के मन पर सूक्ष्म प्रभाव पड़ता है। उसकी मनोभूमि बुराइयों एवं क्षुद्रताओं से ऊपर उठकर अच्छाइयों एवं महानताओं को ग्रहण करने लगती है। साथ ही उस अवसर पर जो शिक्षाएँ दी जाती हैं, वे भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं होतीं। उस समय उत्सव मनाते हुए एवं मनोभूमि को विशेष उल्लसित करके जो शिक्षाएँ दी जाती हैं, वे ठीक समय पर बोए जाने वाले बीज की तरह फलवती होती हैं। इस तरह समय-समय पर किए जाने वाले इन षोडश संस्कारों का विज्ञान सत्परिणामों से परिपूर्ण होता है।

संस्कार आरोपण के मार्मिक उद्देश्य

मानव जीवन को परिष्कृत बनाने वाली विधि विशेष का नाम 'संस्कार' है। जैसे तूलिका (ब्रश) के बार-बार घुमाने से चित्र सर्वांग पूर्ण बन जाता है, उसी भांति विधि पूर्वक संस्कारों के अनुष्ठान द्वारा शम-दम आदि गुणों का विकास होता है। संस्कारों का मूल उद्देश्य तीन रूपों में परिलक्षित होता है- 1. दोषमार्जन 2. अतिशयाधान और 3. हीनांगपूर्ति। खान से निकला हुआ लोहा अत्यन्त मलिन होता है। सर्वप्रथम सफाई द्वारा उसका 'दोषमार्जन' करते हैं, फिर आग की नियमित आंच (ताप) में तपाकर उससे इस्पात तैयार किया जाता है, जिसे 'अतिशयाधान' कहते हैं। फिर उस इस्पात को प्रयोग में आने लायक जो कमी होती है, उसकी पूर्ति की जाती है। यह क्रिया 'हीनांगपूर्ति' कहलाती है। ठीक इसी प्रकार भारतीय महर्षियों ने जीवन को अपने लक्ष्य (मोक्ष) तक पहुँचाने हेतु विविध संस्कारों की शास्त्रीय व्यवस्था दी है।

गर्भाधान, जातकर्म, अन्नप्राशन आदि संस्कारों से दोषमार्जन, उपनयन, ब्रह्मव्रत आदि संस्कारों से अतिशयाधान तथा विवाह, अग्न्याधान आदि संस्कारों से हमारे जीवन की हीनांगपूर्ति होती है। इस प्रकार संस्कारों की अनेक विधियों द्वारा मानव अपने लक्ष्य तक पहुँचने में समर्थ होता है।[45]

संस्कार आरोपण के कुछ उद्देश्य ये भी मननीय हैं -

1. प्रतिकूल प्रभावों की परिसमाप्ति करना।
2. अभिलषित प्रभावों को आकृष्ट करना।
3. शक्ति, समृद्धि, बुद्धि आदि की प्राप्ति करना।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

4. जीवन में होने वाले सुख-दुख की इच्छाओं को व्यक्त करना।
5. गर्भ एवं बीज सम्बन्धी दोषों को दूर करना।
6. धार्मिक विशेषाधिकार प्राप्त करना। जैसे उपनयन संस्कार से वेदाध्ययन एवं धार्मिक कृत्यों के अनुष्ठान का अधिकार प्राप्त होता है।
7. पुरुषार्थ-चतुष्टय की प्राप्ति करना।
8. चारित्रिक विकास करना।
9. व्यक्तित्व निर्माण करना।
10. समस्त शारीरिक क्रियाओं को आध्यात्मिक लक्ष्य से सम्पूरित करना।

यदि प्राचीन गृह्यसूत्रों में उल्लेखित संस्कार सम्बन्धी विधि-विधानों का सूक्ष्म बुद्धि पूर्वक विवेचन किया जाए, तो उनका उद्देश्य यही प्रतीत होता है कि व्यक्ति अपने गृहस्थ जीवन, पारिवारिक जीवन और सामाजिक जीवन को कल्याणकारी ढंग से जीने की कला सीख सके। इसके माध्यम से विवेक बुद्धि एवं कर्त्तव्य बुद्धि को जागृत कर सके। अपनत्व एवं मैत्री भाव के सुमन खिला सके तथा मनुष्य जीवन की यात्रा को सर्वांगीण रूप से सुखद एवं आनन्द के सागर से भर सके।

सुस्पष्ट है कि संस्कारों के आरोपण का उद्देश्य महान् एवं सर्वोत्तम है। इन संस्कारों के पीछे इहलौकिक या भौतिक सुख की कोई कामना नहीं है। किसी प्रकार का कोई स्वार्थ भी निहित नहीं है। केवल जीवन-यात्रा को प्रगति पथ पर अग्रसर करने वाले गुणों का आविर्भाव करना तथा उनका सदाचरण करते हुए वैंयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक एवं धार्मिक जीवन को आदर्शमय बनाना ही इसका मूलभूत उद्देश्य रहा है।

संस्कार आरोपण की आवश्यकता क्यों?

संस्कार प्रत्येक मानव की अमूल्य धरोहर है। संस्कार के आधार पर ही जीवन का परिवर्तन, परिवर्धन और परिष्कार होता है। संस्कार व्यक्ति के धरातल को ऊँचा उठाने में मुख्य भूमिका निभाते हैं। सुसंस्कारों का ही प्रभाव होता है कि मनुष्य सत्संग, सद्गुरु और संत वाणी को सुनकर और पढ़कर उसे अपनाता है।

भारतीय दर्शन की सभी परम्पराओं में गृहस्थ के सोलह संस्कार माने गए हैं, जिन्हें 'षोडश संस्कार' कहते हैं। माता के गर्भ में आने के दिन से लेकर मृत्यु

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तक की अवधि में समय-समय पर प्रत्येक कुलीन व्यक्ति को सोलह बार संस्कारित करके एक प्रकार की आध्यात्मिक शक्ति का संचार किया जाता है। इसमें व्यक्ति को मानव से महामानव के स्तर तक जा पहुँचने की प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रेरणा दी जाती है। यह संस्कार पद्धति सूक्ष्म अध्यात्म पर अवलम्बित है। संस्कार कर्म की प्रक्रिया करते समय जो मन्त्र उच्चारित किए जाते हैं, उनकी ध्वनि तरंगें संस्कार किए जा रहे व्यक्ति के लिए एक अलौकिक वातावरण प्रस्तुत करती हैं अर्थात जो भी व्यक्ति इस वातावरण में होते हैं या जिनके लिए भी उस पुण्य प्रक्रिया का प्रयोग होता है, वे उससे प्रभावित होते हैं। उसके परिणाम स्वरूप व्यक्ति के गुण, कर्म, स्वभाव में अन्य अनेकों दिव्य विशेषताएँ प्रस्फुटित होती हैं। मूलतः संस्कारों की प्रक्रिया एक ऐसी आध्यात्मिक उपचार पद्धति है, जिसका परिणाम कभी व्यर्थ नहीं जाता।

श्रीरामशर्मा आचार्य लिखते[46] हैं कि प्रत्येक संस्कार के मन्त्रों में अनेक ऐसी विशेषताएँ भरी हुईं हैं, जो उन परिस्थितियों में व्यक्ति के लिए उपयोगी बनती हैं। उदाहरण के लिए सीमान्त संस्कार के समय उच्चारित किए जाने वाले मन्त्रों में गर्भवती के रहन-सहन, आहार-विहार सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण शिक्षाएँ मौजूद हैं। इसी तरह विवाह संस्कार में दाम्पत्य जीवन की, अन्नप्राशन में भोजन आदि की, विद्यारम्भ संस्कार में विवेचन लेखन की आवश्यक शिक्षाएँ होती हैं। इस प्रक्रिया में परिवार को संस्कारवान बनाने एवं कौटुम्बिक जीवन को धार्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत करने की एक मनोवैज्ञानिक प्रणाली रही है।

जिस समय संस्कार कर्म की प्रक्रिया निष्पन्न की जाती है, उस समय हर्षोत्सव का वातावरण रहता है। उस प्रक्रिया में देवताओं की साक्षी, धर्म भावनाओं से ओत-प्रोत मनोभूमि, स्वजन सम्बन्धियों की उपस्थिति, पुरोहित या गृहस्थ गुरु द्वारा करवाया जाता धर्मकृत्य-यह सभी मिलकर संस्कार से योग्य व्यक्तियों को एक विशेष प्रकार की मानसिक अवस्था में पहुँचा देते हैं। मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के आधार पर कहें तो उस हर्षमय वातावरण में जो प्रतिज्ञाएँ की जाती हैं अथवा जो प्रक्रियाएँ करवाई जाती हैं, वे सूक्ष्म मन पर गहरा प्रभाव छोड़ती हैं। इस प्रकार संस्कार कर्म व्यक्ति के शरीर, मन एवं आत्मा को पूर्वावस्था से बहुत ऊँचा उठा देते हैं। व्यक्ति का जीवन धार्मिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक रंग से महक उठता है, जिसके फलस्वरूप मानव मात्र

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की जीवन-यात्रा सुखद एवं आनन्द के मार्ग की ओर चल पड़ती है। इस तरह संस्कार प्रक्रिया में जीवन को रूपान्तरित करने की अद्भुत कला होती है, इसलिए भी संस्कारों को आरोपित करना चाहिए। जिस तरह विभिन्न प्रकार की मिट्टी को संस्कारित कर उससे लोहा, ताँबा, सोना आदि बहुमूल्य धातुएँ प्राप्त कर लेते हैं। आयुर्वेदिक रसायन बनाने वाली औषधियों को कई प्रकार के रसों में मिश्रित कर उन्हें गजपुट, अग्निपुट विधियों द्वारा संस्कारित कर उनसे मकरध्वज जैसी चमत्कारी एवं अन्यान्य औषधियों का निर्माण कर लेते हैं, उसी तरह सोलह संस्कार की प्रक्रिया मनुष्य के लिए अनगढ़ से सुगढ़ बनाने की महत्त्वपूर्ण पद्धति है।

वस्तुतः संस्कार आरोपण की आवश्यकता के पीछे भारतीय संस्कृति का एक ही उद्घोष रहा है– 'श्रेष्ठ संस्कारवान मानव का निर्माण हो।'

वैदिक धर्मानुयायी ऐसा मानते हैं कि जन्म-जन्मान्तरों की वासनाओं का लेप जीवात्मा पर रहता है। मनुष्य योनि में ही वह आत्म तत्व पकड़ में आता है अतएव मनुष्य के गर्भ में आते ही आत्मा पर छाई हुई मलिनता को हटा दिया जाए और उस पर नए संस्कार आरोपित कर दिए जांए, ताकि इसके बाद की यात्रा सम्यक् दिशा की ओर हो सके इस वजह से भी संस्कार का आरोपण किया जाता है।

संस्कारों के नाम एवं संख्या क्रम विषयक पारम्परिक मतभेद

जैन धर्म एवं हिन्दू धर्म की प्रचलित परम्पराओं में सामान्यतया सोलह संस्कार माने गए हैं। उनमें जैन धर्म की विभिन्न धाराओं में संस्कार की संख्या को लेकर कोई मतभेद नहीं है, केवल संस्कार के नामों को लेकर किंचित भिन्नताएँ हैं, जबकि हिन्दू परम्परा में संस्कार के नामों एवं संख्या दोनों को लेकर मत-मतान्तर हैं।

प्राचीन गृह्यसूत्रों में संस्कारों की भिन्न-भिन्न संख्याएँ दी गई हैं तथा उन संख्या के नामों में भी थोड़ा-बहुत अन्तर है। गृह्यसूत्रों में वर्णित संस्कारों की संख्या एवं नाम की सूची इस प्रकार है-

आश्वलायन गृह्यसूत्र[47]	पारस्कर गृह्यसूत्र[48]	बौधायन गृह्यसूत्र[49]
1 विवाह	1 विवाह	1 विवाह
2 गर्भाधान	2 गर्भाधान	2 गर्भाधान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

3 पुंसवन
4 सीमन्तोन्नयन
5 जातकर्म
6 नामकरण
7 चूड़ाकर्म
8 अन्नप्राशन
9 उपनयन
10 समावर्तन
11 अन्त्येष्टि

3 पुंसवन
4 सीमन्तोन्नयन
5 जातकर्म
6 नामकरण
7 निष्क्रमण
8 अन्नप्राशन
9 चूड़ाकर्म
10 उपनयन
11 केशान्त
12 समावर्तन
13 अन्त्येष्टि

3 पुंसवन
4 सीमन्तोन्नयन
5 जातकर्म
6 नामकरण
7 उपनिष्क्रमण
8 अन्नप्राशन
9 चूड़ाकर्म
10 कर्णवेध
11 उपनयन
12 समावर्तन
13 पितृमेध

वाराह गृह्यसूत्र[50]

1 जातकर्म
2 नामकरण
3 दन्तोद्गमन
4 अन्नप्राशन
5 चूडाकर्ण
6 उपनयन
7 वेद व्रतानि
8 गोढान
9 समावर्तन
10 विवाह
11 गर्भाधान
12 पुंसवन
13 सीमन्तोन्नयन

वैश्वानस गृह्यसूत्र[51]

1 ऋतुसंगमन
2 गर्भाधान
3 सीमान्त
4 विष्णुबलि
5 जातकर्म
6 उत्थान
7 नामकरण
8 अन्नप्राशन
9 प्रवसागमन
10 पिण्डवर्धन
11 चौलक
12 उपनयन
13 पारायण
14 व्रतबन्धविसर्ग
15 उपाकर्म
16 उत्सर्जन
17 समावर्तन

खादिर गृह्यसूत्र[52]

1 विवाह
2 गर्भाधान
3 पुंसवन
4 सीमन्तोन्नयन
5 निष्क्रमण
6 नामकरण
7 चौलम्
8 उपनयन

(गोभिलपुत्रकृत गृह्यसंग्रह)

1 गर्भाधान
2 पुंसवन
3 सीमन्तोन्नयन
4 जातकर्म
5 नामकरण
6 अन्नप्राशन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

18	पाणिग्रहण	7	चूड़ाकरण
		8	व्रतादेश
		9	गोदान
		10	केशान्त
		11	विसर्ग
		12	विवाह

उपर्युक्त तालिका का अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि आश्वलायन गृह्यसूत्र में ग्यारह, पारस्कर गृह्यसूत्र, बौधायन गृह्यसूत्र और वाराह गृह्यसूत्र में तेरह, वैश्वानस गृह्यसूत्र में अठारह, खादिर गृह्यसूत्र में आठ, गोभिलपुत्रकृत गृह्य संग्रह में बारह प्रकार के संस्कार बताए गए हैं, जिनमें परस्पर संख्या, नाम एवं क्रम को लेकर किंचिद मतभेद हैं।

चालीस संस्कार– गौतमधर्मसूत्र में चालीस प्रकार के संस्कारों का निरूपण हैं। उनमें यज्ञों का समावेश भी कर दिया गया है। इससे सूचित होता है कि यज्ञ भी परोक्ष रूप से पूत(पवित्र) करने वाले माने जाते थे [54], किन्तु उनका मुख्य प्रयोजन देवताओं की आराधना कर उन्हें प्रसन्न करना था, जबकि संस्कारों का प्रधान ध्येय संस्कार्य व्यक्ति के व्यक्तितत्व एवं देह को सुसंस्कृत करना होता था।[55] वर्तमान में इन चालीस संस्कारों में से नौ-दस संस्कार ही मौजूद रह गए हैं, शेष प्रचलन में नहीं है। गौतमधर्मसूत्र में आठ प्रकार के आत्मगुण भी संस्कार के रूप में माने गए हैं। इस तरह गौतम के अनुसार कुल 48 संस्कार होते हैं।

चालीस संस्कार के नाम ये हैं– 1. गर्भाधान[56] 2. पुंसवन 3. सीमन्तोन्नयन 4. जातकर्म 5. नामकरण 6. अन्नप्राशन 7. चौल 8. उपनयन(चार वेद)[57] 9. ऋग्वेद 10. यजुर्वेद 11. अथर्ववेद 12. सामवेद 13. स्नान 14. सहधर्मचारिणीसंयोग पंच महायज्ञ[58] 15. देवयज्ञ 16. पितायज्ञ 17. अतिथियज्ञ 18. भूतयज्ञ 19. ब्राह्मणयज्ञ सप्तपाकयज्ञ[59]– 20. अष्टकाश्राद्ध 21. पार्वणस्थालीपाक 22. श्राद्ध (पितृमेध, पिण्डपितृयज्ञ) 23. श्रावणी 24. आग्रहायणी 25. चैत्री (चैत्र मास की पौर्णमासी में विहित स्मार्त्त) कर्म 26. आश्विनी (आसोज मास की पौर्णमासी में विहित स्मार्त्त) कर्म। ये पंच महायाग आदि सात पकाए हुए अन्न से किए जाने के कारण पाकयज्ञ कहलाते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सप्तहयज्ञ[60]– 27. अग्न्याधेय(श्रौताधान) कर्म 28. अग्निहोत्र 29. दर्शपौर्णमास 30. चातुर्मास्ययागविश्वदेव वरूणप्रधास, साकमेध, शुनासीरीय-ये चारों पर्व 31. आग्रयणेष्टि(नवान्नेष्टि) 32. निरूढ़पशुयाग 33. सौत्रामणीयाग– ये अग्न्याधेय आदि सात दुग्ध, घृत एवं पुरोडाश आदि हविषों से होने के कारण हविर्यज्ञ कहलाते हैं। **सप्त सोमयज्ञ**[61] 34. अग्निष्टहोम 35. अत्यग्निष्टहोम 36. उक्थ 37. षोडशी 38. वाजपेय 39. अतिरात्र 40. आप्तौर्यामि-ये सात सोमलता से होने के कारण सोमयाग कहलाते हैं।

पच्चीस संस्कार– संस्कारमयूख और संस्कारप्रकाश आदि में समुद्धृत वचनों के अनुसार अंगिरा ऋषि ने पच्चीस संस्कार कहे हैं। उनमें चौथा विष्णुबलि कर्म है तथा केशान्त को छोड़कर विवाह तक के संस्कार गौतम धर्मसूत्र के तुल्य समझने चाहिए। पाकयज्ञों में से चैत्री कर्म को छोड़कर पूर्वोक्त पंचमहायज्ञ आदि तथा हविर्यज्ञों में से एक आग्रयण, दो उपाकर्म और उत्सर्ग– ऐसे 25 संस्कार माने गए हैं।[62]

तेरह संस्कार– जब हम स्मृति सूत्रों का अवलोकन करते हैं, तो उनमें भी संस्कारों की संख्या, नाम एवं क्रम को लेकर विविधता के दर्शन होते हैं। मनु के अनुसार जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त तेरह संस्कार होते हैं जो निम्न हैं- 1.गर्भाधान 2.पुंसवन 3.सीमन्तोन्नयन 4.जातकर्म 5.नामधेय 6.निष्क्रमण 7.अन्नप्राशन 8.चूड़ाकर्म 9.उपनयन 10.केशान्त 11.समावर्तन 12.विवाह 13.श्मशान ।[63]

सोलह संस्कार– इसके अतिरिक्त परवर्तीकालीन स्मृतियों में सोलह संस्कारों की सूची दी गई है। व्यास स्मृति के अनुसार ये संस्कार निम्न हैं-[64] 1.गर्भाधान 2.पुंसवन 3.सीमन्त 4.जातकर्म 5.नामकरण 6.निष्क्रमण 7.अन्नप्राशन 8.वपनक्रिया (चूड़ाकर्म) 9.कर्णवेध 10.व्रतादेश(उपनयन) 11.वेदारम्भ 12.केशान्त 13.स्नान (समावर्तन) 14.विवाह 15.विवाहाग्नि परिग्रह(आवसथ्याधान) और 16.त्रेताग्निसंग्रह(श्रौताधान)। इस सूची में मनु द्वारा उल्लिखित संस्कारों के साथ ही कर्णवेध और उपर्युक्त अंतिम दो नाम और जोड़ दिए गए हैं।

जातूकर्ण्य और मार्कण्डेय स्मृति के अनुसार सोलह संस्कार इस प्रकार हैं [65]– 1. गर्भाधान 2. पुंसवन 3. सीमन्तोन्नयन 4. जातकर्म 5. नामकरण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

6. अन्नप्राशन 7. चौल 8. मौंजी 9-12. चतुर्वेदव्रत 13. गोदान(केशान्त) 14. समावर्तन 15. विवाह और 16. अन्त्य।

याज्ञवल्क्यस्मृति के अनुसार सोलह संस्कार निम्नलिखित हैं [66]- 1. गर्भाधान 2. पुंसवन 3. स्पन्दन 4. जातकर्म 5. नामकरण 6. सूर्यावेक्षण(निष्क्रमण) 7. अन्नप्राशन 8. चूड़ाकरण 9. कर्णवेध 10. ब्रह्मसूत्रोपनयन 11. व्रत 12. विसर्जन 13. केशान्त 14. विवाह 15. चतुर्थी कर्म और 16. अग्नि संग्रह

दस संस्कार– वैष्णव धर्मशास्त्र में निम्न दस संस्कारों का सूचन प्राप्त होता है [67]– 1. निषेक 2. पुंसवन 3. स्पन्दन 4. सीमन्तोन्नयन 5. जातकर्म 6. नामधेय 7. आदित्यदर्शन 8. अन्नप्राशन 9. चूड़ाकरण 10. उपनयन।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गृह्यसूत्रों, धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों में संस्कार कर्म की संख्या भिन्न-भिन्न हैं, यद्यपि आधुनिक युग की परिपाटी में सोलह संख्या निर्धारित कर दी गई है। वर्तमान में सोलह संस्कार ही लोकप्रिय बने हुए हैं तथा इन संस्कारों की परिगणना पूर्व निर्दिष्ट शास्त्रों के आधार पर ही की गई है। हिन्दू धर्म की वर्तमान परम्परा में मान्य सोलह संस्कारों के नाम इस प्रकार हैं– 1. गर्भाधान 2. पुंसवन 3. सीमन्तोन्नयन(ये तीन संस्कार जन्म से पूर्व के हैं) 4. जातकर्म 5. नामकरण 6. निष्क्रमण 7. अन्नप्राशन 8. चूड़ाकरण 9. कर्णवेध (ये छः संस्कार बाल्यावस्था के हैं) 10. विद्यारम्भ 11. उपनयन 12. वेदारम्भ 13. केशान्त 14. समावर्तन (ये पाँच संस्कार ब्रह्मचर्य व्रत के समापन एवं विद्यार्थी जीवन के सूचक रूप में माने गए हैं) 15. विवाह संस्कार (गृहस्थ जीवन के शुभारम्भ पर किया जाने वाला संस्कार) और 16. अन्त्येष्टि संस्कार (यह जीवन के समापन पर सम्पन्न किया जाता है)।

यदि हम जैन धर्म की दृष्टि से संस्कार कर्म की संख्या को लेकर विचार करते हैं तो श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों परम्पराओं में वैदिक धर्म की भाँति कोई मतभेद नहीं है। दोनों परम्पराओं में संस्कार कर्म की संख्या सोलह मानी गई है, केवल नाम एवं क्रम की दृष्टि से वैभिन्य है। यहाँ तुलनात्मक दृष्टि से श्वेताम्बर, दिगम्बर एवं वैदिक परम्परा में मान्य सोलह संस्कारों की सूची प्रस्तुत कर रहे हैं जो निश्चित रूप से मननीय है–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्रं.	श्वेताम्बर मान्य संस्कार	दिगम्बर मान्य संस्कार	वैदिक मान्य संस्कार
1	गर्भाधान संस्कार	गर्भाधान संस्कार	गर्भाधान संस्कार
2	पुंसवन संस्कार	प्रीति संस्कार	पुंसवन संस्कार
3	जन्म संस्कार	सुप्रीति संस्कार	सीमन्तोन्नयन संस्कार
4	चन्द्र सूर्य दर्शन संस्कार	सीमन्तोन्नयन संस्कार	जातकर्म संस्कार
5	क्षीराशन संस्कार	मोद संस्कार	नामकरण संस्कार
6	षष्ठी संस्कार	प्रियोद्भव संस्कार	कर्णवेध संस्कार
7	शुचिकर्म संस्कार	नामकर्म संस्कार	निष्क्रमण संस्कार
8	नामकरण संस्कार	बहिर्यान संस्कार	अन्नप्राशन संस्कार
9	अन्नप्राशन संस्कार	निषधा संस्कार	चूड़ाकर्म संस्कार
10	कर्णवेध संस्कार	अन्नप्राशन संस्कार	विद्यारम्भ संस्कार
11	चूड़ाकरण(मुण्डन) संस्कार	वर्षवर्द्धन संस्कार	उपनयन संस्कार
12	उपनयन संस्कार	चौल संस्कार	वेदारम्भ संस्कार
13	विद्यारम्भ संस्कार	लिपिसंख्यान संस्कार	समावर्तन संस्कार
14	विवाह संस्कार	उपनीति संस्कार	केशान्त संस्कार
15	व्रतारोपण संस्कार	व्रतावतरण संस्कार	विवाह संस्कार
16	अन्त्य संस्कार	विवाह संस्कार	अन्त्येष्टि संस्कार

यदि उपर्युक्त सूची के अनुसार तुलनात्मक विवेचन करते हैं, तो अवगत होता है कि संस्कार की संख्या के सम्बन्ध में तीनों परम्पराएँ एकमत हैं, किन्तु नाम एवं क्रम को लेकर काफी कुछ वैभिन्य है। जहाँ तक सोलह संस्कारों के नाम का प्रश्न है, तो श्वेताम्बर एवं वैदिक परम्परा में काफी कुछ साम्य है। श्वेताम्बर परम्परा में मान्य सोलह संस्कारों की अपेक्षा वैदिक परम्परा में सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, निष्क्रमण, वेदारम्भ, समावर्तन और केशान्त ये छः नाम भिन्न मिलते हैं, शेष क्रम की दृष्टि से भिन्न होने पर भी समतुल्य हैं, जबकि दिगम्बर परम्परा मान्य संस्कार नामों में काफी विविधता है। उनमें गर्भाधान, नामकर्म, अन्नप्राशन, उपनीति, व्रतावतरण, विवाह और सीमन्तोन्नयन-इन सात नामों को छोड़कर शेष नाम दोनों परम्पराओं से अलग हैं। जहाँ तक सोलह संस्कारों के क्रम का सवाल है, वहाँ श्वेताम्बर परम्परा में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सोलह संस्कारों का जो क्रम निर्दिष्ट किया गया है, उसमें दिगम्बर एवं वैदिक परम्परा की अपेक्षा काफी कुछ हेर-फेर है, जिसका स्पष्टीकरण पूर्वोक्त सूची का अवलोकन करने से स्वत: हो जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्वेताम्बर, दिगम्बर एवं वैदिक परम्परा में सोलह संस्कार सम्बन्धी संख्या की एकरूपता होते हुए भी नाम एवं क्रम में अन्तर है।

जैनागमों में संस्कारों की विकास यात्रा

यह बहुविदित है कि विश्व की तमाम प्राचीन एवं सुसभ्य संस्कृतियों में भारतीय संस्कृति का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इस संस्कृति के निर्माता सामान्य व्यक्ति नहीं, अपितु विशिष्ट ढंग से जीवन जीने वाले ऋषि-महर्षि थे, जिन्होंने योग-साधना के बल पर सत्यं, शिवं और सुन्दरं का साक्षात्कार किया था। हमें अपनी संस्कृति के प्रति गौरव होना चाहिए। इस संस्कृति का अस्तित्व प्राचीनकाल से लेकर अद्य पर्यन्त यथावत् रहा हुआ है। इससे प्रतीत होता है कि कुछ न कुछ ऐसे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष तत्त्व काम कर रहे हैं, जिनके प्रभाव से इस संस्कृति की श्रेष्ठता कायम है।

वस्तुत: संस्कृति और संस्कार का अटूट सम्बन्ध है। सुसंस्कारों के आधार पर ही सभ्य संस्कृति का निर्माण होता है। संस्कार के अभाव में संस्कृति का अस्तित्व विलीन हो जाता है। भारतीय संस्कृति की महिमा सत्संस्कारों के कारण ही विद्यमान है। संस्कृति और संस्कार दोनों एकार्थवाची हैं। व्याकरण की दृष्टि से भी दोनों ही शब्दों में 'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु का व्यवहार है, अत: कहा जा सकता है कि संस्कार और संस्कृति एक-दूसरे के पूरक हैं। संस्कार प्रथम चरण है और संस्कृति दूसरा। सर्वप्रथम व्यक्ति के जीवन में नैतिकता, सामाजिकता, मानवीयता, सौहार्द्रता आदि गुण रूप संस्कार बनते हैं और उसके बाद ही वह संस्कृतिनिष्ठ व्यक्ति कहलाने का अधिकार प्राप्त करता है।

संस्कारों का जन्म सहज नहीं होता है, अपितु अभ्यास से होता है। अनवरत अभ्यासोपरान्त हम किसी कार्य को करने के आदी होते हैं, तदनन्तर वे अभ्यास आदत बन जाते हैं । आदत के पश्चात जब वह प्रवृत्ति हमारी जीवन शैली में अनुस्यूत हो जाती है, तब उसे संस्कार की संज्ञा दी जाती है। फिर वह संस्कार सहज प्रवृत्ति में परिणत हो जाता है। तथ्य यह है कि संस्कार सतत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अभ्यासजन्य प्रक्रिया है, क्योंकि दोषों का परिशोधन प्रयास पूर्वक ही होता है, जबकि स्वभाव व्यक्ति की सहज क्रिया है अत: संस्कार सहज रूप में हमारी जीवन शैली बने, यही अपेक्षित है।

संस्कार दो प्रकार के होते हैं। इस जन्म के संस्कार और पूर्वजन्म के संस्कार। मरणोपरान्त भी संस्कारों की परम्परा जन्म-जन्मान्तर तक चलती रहती है। कर्म संस्कार केवल व्यक्ति विशेष के जीवन से ही सम्बन्धित नहीं होता, वरन उसके कुटुम्ब एवं कुल पर भी संस्कारों का अमिट प्रभाव पड़ता है, अत: जीवन के साथ संस्कारों का घनिष्ठ सम्बन्ध है तथा ये संस्कार भारतीय संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण अंग हैं। व्यावहारिक स्तर पर संस्कार के अनेक प्रकार कहे जा सकते हैं, लेकिन वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक एवं धार्मिक स्तर पर सोलह प्रकार के संस्कार माने गए हैं। आज के युग में इन संस्कारों का महत्त्व अवश्य ही कुछ कम हो गया है तथापि अब भी इनकी जड़ें सुदृढ़ और दूर तक फैली हुई हैं। जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त संस्कारों की श्रृंखला किसी न किसी रूप में आज भी विद्यमान है।

स्वरूपत: व्यक्ति विशेष को सुसंस्कारित, संयमित एवं सदाचारी बनाने के लिए सोलह संस्कारों का आरोपण किया जाता है। इतना ही नहीं, इन संस्कारों का आरोपण लौकिक, आसुरिक एवं भौतिक दुष्ट शक्तियों के निवारणार्थ भी किया जाता है। संस्कार आरोपण के समय उच्चरित किए जाने वाले मन्त्र अनेक दृष्टियों से लाभदायी होते हैं। उनमें विविध प्रकार की प्रभावोत्पादक और निरोधक शक्तियाँ निहित होती हैं। संस्कारों को सफलता के सोपान पर पहुँचाने में मन्त्र एवं उसके सम्यक प्रयोग की मुख्य भूमिका रहती है। अस्तु, किसी भी प्रकार का मन्त्र हो, उसकी अलौकिक शक्ति सर्व प्रसिद्ध है। इससे सिद्ध होता है कि जैविक और आत्मिक सुरक्षा के लिए संस्कार कर्म किए जाते हैं। दूसरा तथ्य यह है कि जिस व्यक्ति का संस्कार किया जाता है, चाहे वह गर्भवती नारी हो या गर्भस्थ शिशु, चाहे वह बालक हो या यौवनावस्था को प्राप्त व्यक्ति, परिवार और समाज में उसकी गरिमा बढ़ जाती है। उसे संयमी , सदाचारी और सुसंस्कारी की कोटि में गिना जाता है। वह संस्कृत व्यक्ति आवश्यक गुणों में उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता हुआ असीम ऊँचाइयों को उपलब्ध कर लेता है।

अब प्रश्न होता है कि जैन परम्परा में इन संस्कारों का प्रचलन कब से है?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इन संस्कारों का प्रारम्भिक स्वरूप क्या था? इनका क्रमिक विकास किस रूप में हुआ? आगम युग में इन संस्कारों का अस्तित्व किस रूप में उपलब्ध होता है? ये संस्कार कितने प्राचीन हैं? इन पहलुओं पर विचार करते हैं, तो कुछ तथ्य हमारे सामने आते हैं।

जहाँ तक इन संस्कारों की प्राचीनता का सवाल है, वहाँ ज्ञाताधर्मकथा, प्रश्नव्याकरण, औपपातिक, राजप्रश्नीय, कल्पसूत्र आदि में कुछेक संस्कारों का उल्लेख अवश्य मिलता है। इससे सुसिद्ध है कि इन संस्कारों की परम्परा आगमयुगीन एवं प्राचीन है।

जहाँ तक संस्कारों की संख्या और उसके मौलिक स्वरूप का सम्बन्ध है, वहाँ सर्वप्रथम भगवतीसूत्र में दस के लगभग संस्कारों को सम्पादित करने-करवाने के उल्लेख मिलते हैं। इस ग्रन्थ में संस्कारों का वर्णन करते हुए यह कहा गया है कि "महाबल कुमार के माता-पिता ने अपनी कुल मर्यादा की परम्परा के अनुसार गर्भाधान से जन्मदिन तक के और फिर क्रमशः चन्द्र-सूर्य दर्शन, जागरण, नामकरण, घुटनों के बल चलना, पैरों से चलना, अन्नप्राशन (अन्न-भोजन का प्रारम्भ करना), ग्रासवर्द्धन (कौर बढाना), संभाषण (बोलना सिखाना), कर्णवेधन (कान बिंधाना), संवत्सर प्रतिलेखन (वर्षगांठ मनाना), शिखा (चोटी) रखना और उपनयन संस्कार करना, इत्यादि कौतुक किए।"[68]

यहाँ आगे निर्देश है कि 'जब महाबल कुमार आठ वर्ष से कुछ अधिक वय का हो गया, तब शुभ तिथि, शुभ करण, शुभ नक्षत्र और शुभ मुहूर्त्त में कलाचार्य के यहाँ पढ़ने के लिए भेजा।[69]' विवाह संस्कार का उल्लेख करते हुए वर्णित किया है कि " किसी समय शुभ तिथि, करण, नक्षत्र और मुहूर्त्त में महाबल कुमार ने स्नान किया, न्यौछावर करने की क्रिया (बलिकर्म) की, फिर उसे समस्त अलंकारों से विभूषित किया गया, फिर सौभाग्यवती स्त्रियों के द्वारा अभ्यंगन, स्नान, गीत, वादित्र, मण्डन, आठ अंगों पर तिलक, लाल डोरे के रूप में कंकण बंधन और दही, अक्षत आदि से मंगल कार्य किए तथा उत्तम कौतुक एवं मंगलोपचार के रूप में शान्तिकर्म किए, फिर आठ राजकन्याओं के साथ पाणिग्रहण करवाया गया।[70]"

इस प्रकार भगवतीसूत्र में दस से अधिक संस्कारों का स्पष्टतः उल्लेख मिलता है। इसमें वर्तमान प्रचलित कई प्रकार के नेकाचारं अर्थात रीति-रिवाज

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैसे– तिलक लगाना, कंकण बांधना, दही-अक्षत आदि के द्वारा मांगलिक शकुन करना और मंगलोपचार के रूप में शान्तिकर्म (पापोपशमन क्रिया) करना आदि का भी इसमें निरूपण हुआ है। इससे सूचित होता है कि जैन परम्परा में इन संस्कारों का अपना मौलिक अस्तित्व भी रहा है, चाहे वे लोकाचार के रूप में ही रहे हों ।

जब हम ज्ञाताधर्मकथासूत्र[71] का अनुशीलन करते हैं, तो उसमें कुछ संस्कारों का उल्लेख इस प्रकार उपलब्ध होता है। जैसे– 'उस बालक के माता-पिता ने पहले दिन जातकर्म (नाल काटना आदि) कृत्य किया। दूसरे दिन जागरिका (रात्रि जागरण) किया। तीसरे दिन चन्द्र-सूर्य का दर्शन करवाया। बारहवें दिन विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम वस्तुएँ तैयार करवाईं तथा स्वजन-परिजन नगरजन-श्रेष्ठजन आदि को सह आमंत्रित कर भोजन करवाया, उनका वस्त्र, गंध, माल्यादि से सत्कार किया। उसके बाद धारिणी के दोहद के अनुरूप गुण निष्पन्न नाम रखा। जब बालक आठ वर्ष का हुआ तब माता-पिता ने शुभ तिथि, शुभ करण और शुभ मुहूर्त्त में कलाचार्य के पास भेजा।[72] यहाँ ज्ञातव्य है कि इस ग्रन्थ में श्रेणिक महाराजा के सुपुत्र मेघकुमार के जन्म से सम्बन्धित ये संस्कार कहे गए हैं।

ज्ञाताधर्मकथासूत्र[73] में उपरोक्त संस्कारों का उल्लेख धन्ना सार्थवाह के सुपुत्र देवदत्त के सम्बन्ध में भी किया गया है। इसी के साथ सार्थवाह के सुपुत्र देवदत्त के अन्तिम संस्कार का भी प्रतिपादन हुआ है।[74] इस प्रकार अवगत होता है कि ज्ञाताधर्मकथा सूत्र में लगभग छह प्रकार के संस्कारों का उल्लेख है।

जब हम प्रश्नव्याकरणसूत्र का अवलोकन करते हैं, तो वहाँ कुछ संस्कारों को शुभ मुहूर्त्त के दिन करने का निर्देश प्राप्त होता है। यहाँ शुभ नक्षत्र आदि के नाम भी दिए गए हैं, किन्तु इस आगम में उपनयन आदि संस्कारों को अप्रशस्त माना गया है।[75]

इससे आगे बढते हैं, तो औपपातिकसूत्र में अम्बड़ के उत्तरवर्ती भव का विवेचन करते हुए कुछ संस्कारों को निष्पन्न करने का उल्लेख किया गया है।[76] वह सूत्र पाठ इस प्रकार है-"माता-पिता पहले दिन उस बालक का कुलक्रमागत पुत्र जन्मोचित अनुष्ठान करेंगे। दूसरे दिन चन्द्र-सूर्य दर्शनिका नामक जन्मोत्सव करेंगे। छठवें दिन रात्रि-जागरिका करेंगे। ग्यारहवें दिन अशुचि शोधन विधान से

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निवृत्त होंगे। इस बालक के गर्भ में आते ही हमारी धार्मिक आस्था दृढ़ हुई थी, अत: यह 'दृढ़प्रतिज्ञ' नाम से सम्बोधित किया जाए-यह सोचकर माता-पिता ने बारहवें दिन बालक का 'दृढ़प्रतिज्ञ'-यह गुणानुगत गुण निष्पन्न नाम रखा। जब माता-पिता यह जान लेंगे कि बालक आठ वर्ष से कुछ अधिक का हो गया है, तो उसे शुभ तिथि, शुभ करण, शुभ नक्षत्र एवं शुभ मुहूर्त्त में शिक्षण हेतु कालाचार्य के पास ले जाएंगे।'' यहाँ ध्यातव्य है कि उक्त कथन गौतमस्वामी द्वारा प्रश्न किए जाने पर भगवान महावीर स्वामी ने कहा है।

जैन आगम साहित्य के सन्दर्भ में राजप्रश्नीयसूत्र भी कुछ संस्कारों की चर्चा करता है। वे निम्न है[77]– उसके माता-पिता अनुक्रम से 1. स्थितिपतिता 2. चन्द्र-सूर्य दर्शन 3. धर्म-जागरण 4. नामकरण 5. अन्नप्राशन 6. प्रतिवर्धापन(आशीर्वाद-समारोह) 7. चंक्रमण (पैरों चलना और शब्दोच्चारण करना) 8. कर्णवेधन 9. संवत्सर प्रतिलेखन और 10. चूलोपनयन(मुंडनोत्सव-झडूला उतारना) आदि तथा अन्य दूसरे भी बहुत से गर्भाधान, जन्म आदि सम्बन्धी उत्सव भव्य समारोह के साथ सम्पन्न करेंगे।''

इस उद्धरण पाठ में लगभग बारह प्रकार के संस्कारों का नामोल्लेख हुआ है। उत्तरकालीन आचारदिनकर आदि में इनमें से सात संस्कारों के नाम मिलते हैं तथा वर्तमान में इन संस्कारों के नाम प्रचलित भी हैं।

श्वेताम्बर परम्परा में सर्वाधिक ख्याति प्राप्त कल्पसूत्र में भी भगवान महावीर के जन्म प्रसंग से सम्बन्धित कुछ संस्कारों का वर्णन हुआ है।[78] कल्पसूत्र का संस्कार पाठ इस रूप में उपलब्ध होता है-''श्रमण भगवान महावीर स्वामी के माता-पिता ने भगवान के जन्मदिन से पहले दिन कुल स्थिति की। तीसरे दिन चन्द्रमा और सूर्य के दर्शन कराए। छठवें दिन धर्मजागरण किया। ग्यारहवें दिन अशुचिकर्म निवर्त्तन किया। बारहवें दिन आने पर विपुल मात्रा में चारों प्रकार का आहार तैयार किया तथा अपने जाति बान्धवों, विशिष्ट मित्रों, नगरवासियों आदि को विधि पूर्वक भोजन करवाया। उसके बाद बालक का नाम श्री वर्द्धमान कुमार रखा।''

प्रस्तुत पाठांश का अवलोकन करने पर इतना सुनिश्चित हो जाता है कि इसमें चार या पाँच संस्कारों के नामों का ही उल्लेख है। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह भी निर्णीत होता है कि संस्कारों का अस्तित्व आगमयुग से है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उस काल में भी संस्कार सम्बन्धी आयोजन होते थे। यदि हम आगमकाल एवं अर्वाचीनकाल की पारस्परिक तुलना करें तो यह पाते हैं कि जैन आगम साहित्य में 1. कुल स्थिति(जन्म) 2. चन्द्र -सूर्य दर्शन 3. नामकरण 4. अन्नप्राशन 5. कर्णवेधन 6. चूलोपनयन 7. गर्भाधान 8. विद्याध्ययन 9. विवाह 10. अन्त्य-इस प्रकार कुल दस के लगभग ही संस्कारों का वर्णन प्राप्त होता है, जबकि आचारदिनकर (15वीं शती) आदिपुराण (9 वीं शती) आदि में सोलह प्रकार के संस्कारों का विवेचन है।

दूसरा तथ्य यह स्मरणीय है कि जैन आगम ग्रन्थों में कुछ ऐसे संस्कारों का नामोल्लेख भी हुआ है जैसे- धर्मजागरण, प्रतिवर्धापन, प्रचंक्रमण, संवत्सर प्रतिलेखन आदि जिनका अर्वाचीन ग्रन्थों में कहीं कोई विवरण नहीं है तथा वर्तमान परम्परा में भी वे संस्कार प्रचलन में नहीं हैं। अर्थवत्ता की दृष्टि से ये संस्कार उपयोगी प्रतीत होते हैं, तदुपरान्त इनका विलोप क्यों, किस स्थिति में हुआ, यह अवश्य विचारणीय है।

तीसरा तथ्य, तुलनात्मक दृष्टि से यह जानने योग्य है कि उपर्युक्त आगम ग्रन्थों में प्रायः निर्दिष्ट संस्कारों का नामोल्लेख मात्र ही हुआ है। उनमें इतना सूचन अवश्य मिलता है कि ये संस्कार महोत्सव पूर्वक सम्पन्न किए गए, किन्तु उन संस्कारों को सम्पन्न करने की विधि क्या थी? उस काल में ये संस्कार किस प्रकार निष्पन्न किए जाते थे? उनका मौलिक स्वरूप क्या था? इत्यादि विषयक कोई चर्चा उनमें उपलब्ध नहीं है, केवल नामकरण संस्कार की सामान्य चर्चा अवश्य देखने को मिलती है।

इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये संस्कार किस प्रकार सम्पन्न किए जाते थे, तत्सम्बन्धी कोई वर्णन आगम युग तक उपलब्ध नहीं होता है।

इसके अनन्तर यदि हम आगमेतरकालीन निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि एवं टीकापरक ग्रन्थों का आलोड़न करते हैं, तो उनमें भी संस्कार सम्बन्धी विधि-विधान की कोई विवेचना देखने को नहीं मिलती है। यदि हम प्राचीन और अर्वाचीन ग्रन्थों के आलोक में प्रस्तुत विषय का शोध करते हैं, तो दिगम्बर परम्परा में एकमात्र कृति आदिपुराण (जिनसेन रचित) में सोलह संस्कारों का विधिवत स्वरूप अवश्य देखने को मिलता है, परन्तु वह विवरण अति संक्षेप में है। साथ ही इस परम्परा में संस्कार सम्बन्धी विधि-विधानों का निरूपण करने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वाला एकमात्र यही ग्रन्थ उपलब्ध होता है।

श्वेताम्बर परम्परा की भी कुछ ऐसी स्थिति है। इस परम्परा में भी संस्कार विषयक विधि-विधानों की विवेचना करने वाला एकमात्र ग्रन्थ आचारदिनकर है। इस आधार पर हम यह भी कह सकते हैं कि आदिपुराण और आचारदिनकर- ये दोनों ग्रन्थ प्रस्तुत विषय की अपेक्षा से आदि एवं अन्तिम ग्रन्थ हैं, किन्तु इस विषय में इतना अवश्य ध्यान रखना होगा कि पूर्वोक्त सोलह संस्कारों में से व्रतारोपण एवं अन्त्य-ये दो संस्कार कई ग्रन्थों में चर्चित हुए हैं। वर्तमान परम्परा में भी अन्य संस्कारों की अपेक्षा ये दोनों संस्कार विशेष रूप से प्रचलित हैं, अत: प्रारम्भ के चौदह संस्कारों के विषय में ही पूर्वोक्त कथन स्वीकारना होगा।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि संस्कार मानव जीवन निर्माण एवं सम्यक निर्देशन का एक आवश्यक विधान है। इसके माध्यम से मानव समाज में उच्च एवं नैतिक आदर्शों की स्थापना होती है। पारस्परिक सम्बन्धों में मजबूती आती है। विभिन्न स्तरों पर मौलिक मूल्यों की स्थापना होती है इसी कारण किसी न किसी रूप में समाज के हर वर्ग में संस्कारों की अहम् भूमिका देखी जाती है जिनका स्पष्टीकरण आगे के अध्यायों में करेंगें।

सन्दर्भ-सूची

1. *संस्कृत हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे, पृ.105*
2. *कोषीतकी, 2/6*
3. *छान्दोग्य, 4/16/2-4*
4. *बृहदारण्यक, 6/3/1*
5. *संस्कार अंक, जनवरी 2006, पृ. 155*
6. *अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति और जरा-मरण।*
7. *निसीर्ग संस्कार विनीत इत्यासौ नृपेण चक्रे युवराज शब्दभाक्। रघुवंश– 3/35*
8. *संस्कार वत्येव गिरा मनीषी तथा स पूतश्च विभूषितश्च कुमारसंभव– 1/28*
9. *प्रयुक्त संस्कार इवाधिक बभौ। रघुवंश– 3/8*
10. *स्वभावसुंदरं वस्तु न संस्कारमपेक्षते। शाकुन्तल– 7/33*
11. *संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः। तर्कसंग्रह*
12. *कार्य: शरीरसंस्कार: पावन: प्रेत्य चेह च। मनुस्मृति 2/26*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

13. संस्कार अंक, जनवरी 2006, पृ. 164
14. जैन आचार: सिद्धात और स्वरूप, पृ. 22
15. संस्कार अंक, जनवरी 2006, पृ. 176
16. वही
17. चरकसंहिता, विमान-1/27
18. संस्कार अंक, पृ. 173
19. ब्रह्मसूत्र भाष्य, 1/1/4
20. षोडशसंस्कार विवेचन, श्रीरामशर्मा आचार्य, पृ. 1/27
21. संस्कार अंक, पृ. 177
22. वही, पृ. 176
23. वही, पृ. 173
24. षोड़श संस्कार विवेचन, श्रीराम शर्मा आचार्य, पृ. 1/4 पर आधारित
25. वही, पृ. 1/16
26. वही, पृ. 1/16 पर आधारित
27. वही, पृ. 1/2 पर आधारित
28. उद्धृत वही, पृ. 1/3
29. पारस्करगृह्यसूत्र, पृ. 2/1/20
30. हिन्दूसंस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, पृ. 29
31. पारस्करगृह्यसूत्र, 1/16/19
32. वही, 1/16/20
33. हिन्दूसंस्कार, पृ. 30
34. वही, पृ. 31
35. गोभिलगृह्यसूत्र, पृ. 2/7/1
36. आश्वलायनगृह्यसूत्र, 1/13/2
37. पारस्करगृह्यसूत्र, 1/14/3
38. शांखायनगृह्यसूत्र, 1/15/5, उद्धृत–हिन्दूसंस्कार, पृ. 33
39. हिन्दूसंस्कार, पृ. 35
40. वही, पृ. 35
41. वही, पृ. 36

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

42. वही, पृ. 37
43. पारस्करगृह्यसूत्र, पृ. 1/16
44. यजुर्वेदसंहिता, अनु.-आर.टी.एच्.ग्रिफिथ, 40/11
45. संस्कार अंक, जनवरी 2006, पृ. 167
46. षोडश संस्कार विवेचन, पृ. 1/28
47. आश्वलायनगृह्यसूत्र, अ.-1, कं.-7, सू.-3-8, 1/13/2-7, 1/14/1-9, 1/15/1-3, 1/15, 1/17/1-18, 1/16/1-9, 1/19/1-13, 1/21/1-7, 4/1/14-16
48. गर्भाधानं पुंसवनं, सीमन्तो जातकर्म च।
नामक्रिया निष्क्रमोऽन्नप्राशनं वपनक्रिया ॥
कर्णवेधो व्रतादेशो, वेदारम्भ क्रियाविधिः।
केशान्तः स्नानमुद्वाहो विवाहाग्निपरिग्रहः॥
पारस्करगृह्यसूत्र, गदाधरभाष्य, पृ. 269
49. बौधायनगृह्यसूत्र, प्र. 1, अ. 1-6, सू.–1-26, 1/7/1-48, 1/9/1-6, 1/10/1-17, 2/1/1-22, 2/1/23-31, 2/2/1-13 2/3/1-6, 2/4/1-20, 2/5/1-72, 2/6/1-30
50. हिन्दूसंस्कार, पृ. 22
51. वही, पृ. 22
52. खादिरगृह्यसूत्र, पृ. 18-35, 36, 56-58-59, 62, 63, 66, 70
(क) प्रथम गर्भे तृतीये मासि पुंसवनं। 2/2/17
(ख) अथास्याश्चतुर्थेमासि, षष्ठे वा सीमन्तोन्नयनम्।- 2/2/24
(ग) तृतीये वर्षे चौलम्। 2/3/16
53. लौकिकः पावको ह्यग्निः, प्रथमः परिकीर्तितः।
अग्निस्तु मारूतो नाम, गर्भाधाने विजीयते ॥2॥
पुंसवने चान्द्रमसः, शुंगा कर्म्मणि शोभनः।
सीमान्ते मंगलो नाम, प्रगल्भो जात कर्म्मणि॥3॥
नाम्नी च पार्थिवो ह्यग्निः, प्राशने च शुचिस्तथा
सभ्यनामाऽथ चूड़े तु, व्रतादेशे समुद्भवः ॥4॥
गोदाने सूर्य्यनामातु, केशान्ते ह्याग्निरूच्यते
वैश्वानरो विसर्गेतु, विवाहे योजकः स्मृतः ॥5॥
गोभिलपुत्रकृत गृह्यसंग्रह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

54. यज्ञोदानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।
55. संस्कारार्थं शरीरस्य। मनुस्मृति, 2/66, बौधायनगृह्यसूत्र, 18/5
56. गर्भाधानपुंसवनसीमन्तोन्नयनजातकर्मनामकरणान्नप्राशनचौलोपनयनम्।
गौतमधर्मसूत्र, अ. 8, सू. 13, पृ. 127
57. चत्वारिवेदव्रतानि। वही, 8/14
58. वही, 8/15
59. वही, 8/16
60. वही, 8/17
61. वही, 8/18-19, आठ मूलगुण- 8/20
62. षोडशसंस्कारविधि, पृ. 2
63. मनुस्मृति, 2/16, 26, 29, 3/1, 4
64. वेदव्यासस्मृति, 1/13-15
65. संस्कार अंक, जनवरी 2006, पृ. 139
66. याज्ञवल्क्यस्मृतिः, श्लोक- 11-12, पृ. 4
67. वैष्णव धर्मशास्त्र, अ. 27
68. तएणं तस्स महब्बलस्स दारगस्स अम्मापियरो अणुपुव्वेणं ठिइवडियं वा चंदसूर दंसावणियं वा जागरियं वा नामकरणं व परंगामणं वा पंचकामणं वा पजेमामणं वा पिंडवद्धणं वा, अण्णाणि य बहूणि गब्भाधाणं जम्मणमादि याइं कोउयाइं करेंति। भगवती -अंगसुत्ताणि, 11/11/155
69. तएणंतं महब्बलं कुमारं अम्मापियरो सातिरेगट्ठवासगं जाणित्ता सोभणंसि तिहि करण-नक्खत्त मुहुत्तंसि कलायरियस्स उवणेंति।
भगवती-अंगसुत्ताणि, 11/11/156
70. तए णं तं महब्बलं कुमारं अम्मापियरो अण्णया कयाइ सोभणंसि तिहि-करण दिवस-नक्खत्त-मुहुत्तंसि ण्हायं कयबलिकम्मं कय कोउय-मंगल-पयच्छित्तं सव्वालंकार विभूसियं पमक्खणग-ण्हाण- गीय-वाइय-पसाहण अट्ठगतिलगकंकण-अविहवबहुउवणीयं मंगल सुजंपिएहि य वरकोउयमंगलोवयार-कयसंतिकम्मं सरिसियाणं सरित्त-याणं सरिव्वयाणं सरिसलावण्ण-रूव-जोव्वणगुणोववेयाणं विणीयाणं कयकोउय-मंगलपायच्छित्ताणं सरिसएहिं रायकुलेहिंतो आणिल्लियाणं अट्ठण्हं रायवरकन्नाणं एगदिवसेणं पाणिं गिण्हाविंसु।
भगवती-अंगसुत्ताणि, 11/11/158

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

71. तएणं तस्स अम्मापियरो पढमे दिवसे जातकम्मं करेन्ति, करित्ता वितियदिवसे जागरियं करेन्ति, करित्ता ततियादिवसे चंदसूरदंसणियं करेन्ति, करित्ता एवामेव निव्वते असुइजातकम्मकरणे संपत्ते बारसाहदिवसो विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेन्ति .... सेणावइ-सत्थवाह-दूय-संधिवाले) आमंतेति।

ज्ञाताधर्मकथा-अंगसुत्ताणि, 1/936

72. जिमियभुत्तुत्तरा गयावि य णं समाणा आयंता चेक्खा परमसुइभूया तं मित्त-नाइ-नियम सयण-संबंधि-परियणं बलं च बहवे गणनायग जाव संधिवाले विपुलेणं पुप्फ. गंध मल्लालंकारेणं सक्कारेंति सम्माणेंति, सक्कारेत्ता सम्माणेत्ता एवं वयासी .... गोण्णं गुणनिप्फण्णं नाधेज्जं करेंति मेइ। ज्ञाताधर्मकथा-अगंसुत्ताणि, 1/81

73. तए णं तं मेहं कुमारं अम्मापियरो साइरेगट्ठवासजाएंगं चेव सोहणंसि तिहि करण-मुहुत्तंसि कलायरियस्स उवणेंति। ज्ञाताधर्मकथा-अंगसुत्ताणि, 2/84

74. तए णं से धणे सत्थवाहे मित्त-नियग-सयण-संबंधि-परियणेणं सद्धिंरोयमाणे कंदमाणे. विलवमाणे देवदिन्नस्स दारगस्स सरीरस्स महया इड्ढी सक्कार-समुदएणं नीहरणं करेति, करेत्ता बहूइं लोइयाइं मयगकिच्चाइं करेति करेत्ता केणइ कालंतरेणं अवगयसोए जाए यावि होत्था।

ज्ञाताधर्मकथा-अंगसुत्ताणि, 2/34

75. उवणयणं चोलगं विवाहो जन्नो अमुगम्मि होउ दिवसेसु, करणेसु, मुहुत्तेसु नक्खत्तेसु तिहिम्मि य। प्रश्नव्याकरण-अंगसुत्ताणि, अ.-2, सू.-13

76. तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो पढमे दिवसे ठिइवडियं काहिंति, बिइयदिवसे चंदसूरदंसणियं काहिंति, छट्ठे दिवसे जागरियं काहिंति, एक्कारसमे दिवसे वीइक्कंते णिव्वत्ते असुइजाएकम्मकरणे संपत्ते बारसाहे दिवसे अम्मापियरो इमं एयारूवं गोण्णं, गुणणिप्फण्णं णामधेज्जं कहिंति..
णामधेज्जं करेहिंति दढपइण्णत्ति। तं दढ पइण्णं दारगं अम्मापियरो साइरेगट्ठवासजाएगं जाणित्ता सोभणंसि तिहि करण-दिवस-णक्खत्त मुहुत्तंसि कलायरियस्स उवणेहिंति। औपपातिकसूत्र, मधुकरमुनि, सू.-105, 106

77. तए णं तस्स अम्मापियरो अणुपुव्वेणं ठितिवडियं च चंदसूरियदरिसणं च धम्मजागरियं च नामधिज्जकरणं च पजेमणगं च पडिवद्धावणगं च पंचकमणगं च कन्नवेहण च संवच्छरपडिलेहणगं च चूलोवणयं च अन्नाणि य बहूणि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गब्भाहाण जम्मणाइयाइं महया इढ्डीसक्कार समुदएणं करिस्संति।

राजप्रश्नीय, मधुकरमुनि, सू.-280

78. तए णं समणस्स भगवओ महावीरस्स अम्मापियरो पढमे दिवसे ठिइवडियं करेंति, तइए दिवसे चंदसुरस्स दंसणियं करिंति, छट्ठे दिवसे जागरियं करेंति एक्कारसमे दिवसे विइक्कंते निव्वत्तिए असुइजात कम्मकरणे संपत्ते बारसाहदिवसे विडलं असणपाणखाइमसाइमं उवक्खडाविंति, उवरत्ता .... आसाएमाणा विसाएमाणा परिभुंजेमाणा परिभाएमाणा विहरंति। कल्पसूत्र, सू.-101

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अध्याय - 2

गर्भाधान संस्कार विधि का मौलिक स्वरूप

भारतीय परम्परा में संस्कारों की विशिष्ट महत्ता रही है। इसमें भी गर्भाधान संस्कार को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है क्योंकि यह अन्य संस्कारों की नींव के रूप में कार्य करता है। गर्भाधान संस्कार का तात्पर्य गर्भ स्थापना करने सम्बन्धी विधि-विधानों से है। सोलह संस्कारों में प्रथम संस्कार गर्भाधान का माना गया है। इस संस्कार से वीर्य सम्बन्धी तथा गर्भ सम्बन्धी दोषों का मार्जन और क्षेत्र का संस्कार होता है। विधि पूर्वक यह संस्कार करने से अच्छी और सुयोग्य संतान उत्पन्न होती है।

मूलत: गर्भाधान के समय स्त्री-पुरुष जिस भाव से भावित होते हैं, उसका प्रभाव उनके रज-वीर्य पर भी पड़ता है। उस रज-वीर्य से उत्पन्न संतान में भी वैसे ही भाव प्रकट होते हैं अत: गर्भाधान शुभ मुहूर्त्त में किया जाता है। इस विधान से कामुकता का दमन और शुभ भावापन्न मन का सम्पादन होता है, इसलिए यह संस्कार गर्भावास आदि की मलिनता के निवृत्यार्थ एवं उसके शोधनार्थ गर्भिणी का किया जाता है।[1]

गर्भाधान संस्कार का शाब्दिक अर्थ

गर्भ + आधान इन दो पदों के मेल से गर्भाधान शब्द का निर्माण हुआ है। गर्भ को स्थापित करना गर्भाधान कहलाता है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार इसका मूलार्थ गर्भ स्थापना करना नहीं है, अपितु स्थापित गर्भ का संरक्षण और उसे सुसंस्कारित करना है। दिगम्बर परम्परा एवं वैदिक परम्परा में इसका शाब्दिक अर्थ-गर्भ का स्थापन करना ऐसा किया है।

एक दृष्टि से गर्भाधान संस्कार को निष्पन्न करने का अर्थ यह है कि दम्पत्ति अपनी प्रजनन प्रवृत्ति से समाज को सूचित करते हैं, क्योंकि प्रजनन-क्रिया वैयक्तिक मनोरंजन नहीं, वरन सामाजिक उत्तरदायित्व है, इसलिए समाज के बुद्धिमान लोगों को निमन्त्रित कर उनकी सहमति लेना आवश्यक है। यदि वे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लोग दम्पत्ति को इसके लिए अनुपयुक्त समझें, तो उन्हें इसके लिए मना भी कर सकते हैं। यह समाज की धरोहर है, अतः विचारशील लोगों के द्वारा अपनी प्रजनन-प्रवृत्ति से समाज को सूचित करना गर्भाधान संस्कार है।

विविध परिप्रेक्ष्यों में गर्भाधान संस्कार की आवश्यकता

यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि गर्भाधान संस्कार सम्पन्न करने का मूल कारण क्या रहा होगा? इस विषय में यदि गम्भीरता पूर्वक चिंतन करें तो निम्न तथ्य प्रकट होते हैं– पूर्वकाल में यह सामान्य मान्यता थी कि गर्भिणी को अमंगलकारी शक्तियाँ ग्रसित कर सकती हैं और जिसके कारण गर्भ को हानि पहुँच सकती है, अतः दुष्ट शक्तियों से बचाव करने के लिए यह संस्कार सम्पादित किया जाता हो। इसके साथ हम यह भी मान सकते हैं कि गर्भ को मंत्रोच्चार एवं विधि-विधानों द्वारा संस्कारित करने की दृष्टि से यह संस्कार किया जाता होगा।

व्यवहारतः प्रशिक्षण के लिए गर्भावस्था का काल सर्वाधिक महत्त्व का माना गया है। गर्भस्थ बालक को दिए गए संस्कार उसके लिए स्वभावगत बन जाते हैं। दूसरा कारण गर्भस्थ बालक बहुत ही संवेदनशील होता है, अतः उसको दिए गए संस्कार शीघ्र ही प्रभावी होते हैं। इस अपेक्षा को ध्यान में रखते हुए यह संस्कार किया जाता हो-ऐसा भी कह सकते हैं। वस्तुतः बालक के निर्माण की प्रक्रिया गर्भाधान से प्रारम्भ हो जाती है जैसे मकान निर्माण से पहले उसकी योजना बनाकर उसके लिए अपेक्षित उत्तम प्रकार की सामग्री का होना नितान्त आवश्यक है, उसी तरह ही उत्तम संतान की प्राप्ति के लिए उसके उपादान रूप रज-वीर्य का उत्तम कोटि का होना नितान्त आवश्यक है। चरकसंहिता में उक्त बात को निम्न प्रकार से व्यक्त किया है [2]-

जिस प्रकार अच्छा या बुरा बीज बोए जाने पर फल भी वैसा ही मिलता है जैसे- व्रीहि को बोने से व्रीहि और जौ को बोने से जौ उत्पन्न होता है, वैसे ही स्त्री-पुरुष का रज-वीर्य जैसा होगा, वैसी ही शुभाशुभ संतान की प्राप्ति होती है।

गर्भाधान संस्कार बालक को सुयोग्य बनाने का संस्कार है, इसलिए यह संस्कार करते समय धर्म का भाव यथावत बना रहना चाहिए। साथ ही गर्भाधान की क्रिया के समय माता-पिता के मन का स्वस्थ एवं धर्मान्वित होना अत्यन्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आवश्यक है, क्योंकि गर्भाधान के समय माता-पिता की शारीरिक तथा मानसिक-स्थिति जितनी शुद्ध और पवित्र होती है, बालक का शरीर और मन भी वैसा ही बनता है। इसी को लक्ष्य कर सुश्रुतसंहिता में लिखा गया है[3]-स्त्री-पुरुष जिस प्रकार के आहार-विहार और चेष्टा आदि से युक्त होकर परस्पर समागम करते हैं, संतान भी वैसी ही होती है। अतएव स्त्री-पुरुष को संतानोत्पत्ति के लिए गर्भाधान में सर्वथा निर्दोष होकर प्रवृत्त होना चाहिए।

इस तरह गर्भाधान एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावोत्पादक संस्कार है। इतिहास में आता है कि अपने समान गुण युक्त संतान उत्पन्न करने के लिए सपत्नीक श्रीकृष्ण ने बदरिकाश्रम में बारह वर्ष तक तप किया था। इस तप के कारण उन्हें प्रद्युम्न जैसा पुत्र प्राप्त हुआ, जो श्रीकृष्ण के समान ही था। इससे स्पष्ट है कि अपेक्षित गुणों से युक्त संतान उत्पन्न करने के उद्देश्य से यह संस्कार किया जाता है।

इतिहास के पृष्ठों पर अभिमन्यु को गर्भावस्था में ही चक्रव्यूह तोड़ने का ज्ञान पिता अर्जुन द्वारा गर्भस्थ माता को सुनाते हुए प्राप्त होने की कथा उल्लेखित है और चक्रव्यूह से बाहर निकलने की बात सुनते हुए माता के सो जाने के कारण अभिमन्यु को इसका ज्ञान नहीं हो सका तथा वही अभिमन्यु की मृत्यु का कारण भी बना। इस उदाहरण से इस बात की पुष्टि होती है कि गर्भस्थ शिशु पर बाहरी वातावरण का अमिट प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि गर्भस्थ शिशु को संस्कारित करने के लिए यह संस्कार किया जाता है।

गर्भाधान संस्कार का एक प्रयोजन धार्मिक-पक्ष में विवाह की पूर्णता को व्यक्त करना भी रहा है। स्त्री का गर्भ धारण प्रत्येक परिवार में सुखद एवं आह्लादकारक होता है, क्योंकि नारी की महत्ता मातृत्व में ही है। सृष्टि के विकास क्रम को बनाए रखने वाले इस संस्कार की पवित्रता को पुष्ट करने की दृष्टि से तथा दिगम्बर एवं वैदिक परम्परा मान्य सन्तान-प्राप्ति के लिए यह संस्कार अवश्यमेव किया जाना चाहिए।[4] निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि श्वेताम्बर, दिगम्बर एवं वैदिक-इन तीनों परम्पराओं में यह गर्भाधान संस्कार विशिष्ट प्रयोजन पूर्वक जाति एवं कुल परम्परा को अक्षुण्ण रखने के लिए सम्पन्न किया जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संस्कारों का प्रारम्भ गर्भाधान से क्यों?

यह रहस्य भरा प्रश्न है कि आखिर संस्कारों का प्रारम्भ जन्म से न होकर गर्भाधान से ही क्यों किया गया है? इस पहलू पर गहराई से चिन्तन किया जाए तो यह निष्कर्ष निकलता है कि इस सृष्टि के मूल में वीर्य और रज-दो प्रमुख तत्व हैं। ये वीर्य-रज जितने शुद्ध होते हैं, सन्तति भी उतनी ही शुद्ध होती हैं। संस्कारी माता-पिता के विशुद्ध वीर्य एवं रज से सुसंस्कृत सन्तान का जन्म होता है-इस तथ्य को पूर्वजों ने भलीभाँति अनुभूत किया, एतदर्थ संस्कारों का प्रारम्भ गर्भाधान से किया गया है। पुरुष-स्त्री के रजोवीर्य का मिश्रण होने से गर्भाधान होता है पुरुष के वीर्य और स्त्री के रज में अनादि रूप जीव पूर्व से ही विद्यमान है, किन्तु अनेकानेक प्राकृतिक एवं आगन्तुक दोषों के कारण उसकी शुद्धावस्था में विकार उत्पन्न हो जाता है। इन विकारों के परिमार्जन के लिए गर्भाधान संस्कार का विधान किया गया है।

दूसरा कारण-आमतौर पर यही माना जाता है कि मृत्यु जीवन को निगल जाती है। जीव का अस्तित्व तभी तक रहता है, जब तक कि मृत्यु उसके पास नहीं आ सकती, किन्तु गर्भाधान एक ऐसी परम्परा है, जिसमें जीवन विजयी बनता है। ऐसे ही अनेक कारण हैं, जिनसे संस्कारों का प्रारम्भ गर्भाधान से किया जाना उपयोगी सिद्ध होता है।

गर्भाधान संस्कार करवाने का अधिकारी

वर्धमानसूरिकृत आचारदिनकर में इस संस्कार को करवाने का अधिकारी जैन-ब्राह्मण या क्षुल्लक को कहा गया है। यहाँ जैन-ब्राह्मण का अर्थ अर्हत् मंत्र से उपनीत हुआ ब्राह्मण है एवं क्षुल्लक शब्द का तात्पर्य ब्रह्मचर्य आदि की विशिष्ट साधना से युक्त साधक से है। सामान्यतया जिसने तीन वर्ष तक विशुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन किया हो, उसके बाद तीन वर्ष की अवधि के लिए दो करण और तीन योग पूर्वक पंच महाव्रतों के पालन का नियम ले लिया हो, ऐसे व्यक्ति को क्षुल्लक कहा गया है और उसे ही संस्कार-कर्म करने का अधिकारी माना है।

आचारदिनकर में जैन ब्राह्मण को 'गृहस्थ गुरु' के नाम से सम्बोधित किया है और गृहस्थों के प्रायः सभी संस्कार गृहस्थ गुरु ही सम्पन्न करता है। इस ग्रन्थ में गृहस्थ गुरु के लक्षण बतलाते हुए यह कहा है कि वह संस्कार सम्पन्न करते

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समय स्नान किया हुआ, चोटी बांधा हुआ, उपवीत और उत्तरासंग को धारण किया हुआ, श्वेत वस्त्र पहना हुआ, पंचकक्षा धारण किया हुआ, मस्तक पर चंदन का तिलक लगाया हुआ, दाहिने हाथ में स्वर्ण की अंगूठी पहना हुआ, दर्भ सहित कौसुम्भ कंकण धारण किया हुआ, रात्रि में ब्रह्मचर्य का पालन किया हुआ तथा उस दिन उपवास, आयंबिल, नीवि या एकासन आदि का प्रत्याख्यान किया हुआ होना चाहिए।[4]

आचार्य वर्धमानसूरि ने गृहस्थ गुरु के निम्न लक्षण भी बताए हैं-जो शान्त हो, जितेन्द्रिय हो, मौनी हो, दृढ़सम्यक्त्वी हो, अरिहन्त परमात्मा और साधु की भक्ति करने वाला हो, क्रोध, मान, माया और लोभ को जीतने में प्रयत्नशील हो, कुलीन हो, सर्व शास्त्रों का ज्ञाता हो, अविरोधी हो, दयालु हो, समदृष्टि वाला हो, धर्म में दृढ़ हो, सरल हो, विनीत हो, बुद्धिमान हो, क्षमावान हो, कृतज्ञ हो, द्रव्य और भाव से पवित्र हो।[5] इन गुणों से सम्पन्न गृहस्थ गुरु संस्कार निष्पन्न करवाने का पूर्ण अधिकारी होता है।

दिगम्बर परम्परा में संस्कार करवाने का योग्य अधिकारी उसे कहा गया है, जो विद्याएँ सिद्ध कर चुका है, सफेद वस्त्र पहना हुआ है, यज्ञोपवीत धारण किया हुआ है और शान्त है।[6] वैदिक परम्परा में संस्कार करवाने योग्य व्यक्ति के सम्बन्ध में काफी मतभेद हैं। सामान्यतः पति को ही संस्कारकर्ता के रूप में स्वीकारा गया है। यह संस्कार एक प्रहर रात्रि के बाद पति के द्वारा शयन स्थान पर किया जाता है तथा पति की अनुपस्थिति में उसका कोई भी प्रतिनिधि वह संस्कार सम्पन्न करवा सकता है। प्राचीनकाल में नियोगप्रथा प्रचलित थी, क्योंकि कुल परम्परा को बनाए रखने के लिए और लौकिक-पारलौकिक क्रिया-कर्म के लिए सन्तति का होना आवश्यक था। वैदिक-साहित्य में ऐसे कई प्रसंग मिलते हैं कि एक विधवा अपने देवर को सन्तति उत्पन्न करने के लिए आमन्त्रित करती है।[7]

कालान्तर में जब पारिवारिक पवित्रता सम्बन्धी विचारों का महत्त्व बढ़ने लगा, तब सन्तति-प्राप्ति गृहस्थ का अनावश्यक अंग हो गया। उस स्थिति में पति का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्ति का स्थान उपेक्षित-सा हो गया और अन्ततः उसका सर्वथा निषेध भी हो गया। मूलतः प्रचलित परम्परा में गर्भाधान संस्कार का अधिकारी पति ही माना गया है। कदाचित उसकी अनुपस्थिति हो तो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उसके कुल का कोई व्यक्ति या अन्य कुल का मित्र यह संस्कार सम्पन्न करवा सकता है।

सुस्पष्ट है कि श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्परा में संस्कार का कर्ता गृहस्थ गुरु या क्षुल्लक को माना गया है और संस्कार निष्पन्न करते समय पति की उपस्थिति आवश्यक मानी गई है[9] जबकि वैदिक परम्परा में संस्कार का मूल कर्ता पति को ही स्वीकारा गया है।

गर्भाधान संस्कार करवाने योग्य शुभ मुहूर्त्त विचार

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार यह संस्कार यदा-कदा न करके जिस दिन शुभ तिथि हो; रवि, सोम, बुध, गुरु आदि शुभ वार हो; श्रवण, हस्त, पुनर्वसु, मूल, पुष्य, मृगशिरा आदि शुभ नक्षत्र हो तथा पति का चन्द्र बलवान हो, उस दिन यह संस्कार सम्पन्न करना चाहिए।[10] दिगम्बर परम्परा के अर्वाचीन ग्रन्थों में गर्भाधान संस्कार के लिए निम्न नक्षत्र आदि शुभ माने गए हैं।

नक्षत्र-अश्विनी, रोहिणी, पुनर्वसु, पुष्य, श्रवण, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढा, उत्तरा भाद्रपद, मृगशिरा, हस्त, अनुराधा, स्वाति, शतभिषा, धनिष्ठा, चित्रा। **तिथियाँ**-द्वितीया, तृतीया, पंचमी, सप्तमी, दशमी, एकादशी, द्वादशी, त्रयोदशी, **वार**-सोम, बुध, गुरु, शुक्र। इन नक्षत्र आदि के दिनों में संस्कार करने को शुभ माना है। वैदिक परम्परा में गर्भाधान संस्कार हेतु अमावस्या, पूर्णिमा, अष्टमी, चतुर्दशी-ये तिथियाँ, मूल एवं मघा नक्षत्र तथा कुछ मास अशुभ माने गए हैं,[12] किन्तु किन शुभ दिन आदि में यह संस्कार सम्पन्न किया जाना चाहिए, तत्सम्बन्धी कोई स्पष्ट निर्देश नहीं है।

यहाँ फलित होता है कि तीनों परम्पराएँ अपने-अपने मान्य ग्रन्थों के अनुसार इस संस्कार को सम्पन्न करने के लिए शुभ दिन आदि का होना अनिवार्य रूप से स्वीकार करती हैं तथा शुभ मुहूर्त्त में किया गया संस्कार सन्तान की प्राप्ति एवं उसे सुसंस्कृत बनाने के लिए विशिष्ट भूमिका अर्जित करता है।

गर्भाधान हेतु काल विचार

इस संस्कार के लिए शुभ दिन आदि का होना जितना जरूरी है, उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि यह संस्कार कब, किस मास या वर्ष में किया जाना चाहिए?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्वेताम्बर परम्परा में यह संस्कार गर्भ धारण के पश्चात् पाँचवां मास पूर्ण होने पर किए जाने का निर्देश है।[13] दिगम्बर परम्परा में यह संस्कार मासिक धर्म के चतुर्थ दिन, चतुर्थ स्नान से शुद्ध होने पर किए जाने का उल्लेख है। धर्म की दृष्टि से पाँचवें दिन शुभ मुहूर्त्तादि में करने का वर्णन है।[14] वैदिक परम्परा में तत्सम्बन्धी अनेक मत हैं। सामान्यतया, इस बात में सभी धर्म शास्त्रों का एकमत है कि जब पत्नी गर्भधारण के लिए शारीरिक रूप से समर्थ हो, तभी यह संस्कार किया जाना चाहिए, यद्यपि शंखायन गृह्यसूत्र में विवाह की तीन रात के उपरान्त चौथी रात को यह संस्कार करने के लिए कहा गया है।[15] मनु एवं याज्ञवल्क्यस्मृति में ऋतु धर्म की चौथी रात्रि से लेकर सोलहवीं रात्रि तक का समय गर्भ धारण के लिए उपयुक्त माना गया है।[16] गोभिलगृह्यसूत्र के अनुसार जिस दिन अशुद्ध रक्त का प्रवाह रूक जाए, उस दिन गर्भाधान संस्कार कर लेना चाहिए।[17]

इस प्रकार अनेक मत दृष्टिगत होते हैं। इसके साथ ही वैदिक परम्परा में गर्भाधान संस्कार के लिए रात्रि का काल उचित माना है और दिन के काल का निषेध किया गया है।[18] इसका यह कारण भी प्रस्तुत किया गया है कि दिन में संभोग करने वाले पुरुष का प्राण वायु अधिक तेज चलता है अतः यह संस्कार कर्म रात्रि काल में विहित करना चाहिए।

गर्भाधान संस्कार में प्रयुक्त सामग्री

श्वेताम्बर परम्परा में इस संस्कार को सम्पन्न करने के लिए निम्न सामग्री आवश्यक मानी गई है अर्थात यह संस्कार करते समय निर्दिष्ट वस्तुओं का होना अनिवार्य है–

1. पंचामृतस्नात्र 2. सभी तीर्थों का जल 3. सहस्त्रमूलचूर्ण 4. दर्भ 5. दो कौसुंभसूत्र 6. द्रव्य-रुपए, पैसे आदि 7. कम से कम पाँच फल 8. पाँच प्रकार का नैवेद्य 9. दो अखंड वस्त्र 10. एक शुभ आसन 11. एक शुभ पट्ट 12. स्वर्ण, ताम्र आदि के पात्र 13. वादिंत्र 14. सौभाग्यवती नारियाँ और गर्भवती का पति 15. संस्कार सम्पन्न कराने वाला गृहस्थ गुरु।[19]

दिगम्बर एवं वैदिक परम्परा के अनुसार यह संस्कार सम्पन्न करते समय किन-किन व्यक्तियों और वस्तुओं की आवश्यकता होनी चाहिए? इस सम्बन्ध

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में कोई उल्लेख प्राप्त नहीं है, लेकिन इन परम्पराओं में यह विधि जिस प्रकार से की जाती है, उसके आधार पर आवश्यक सामग्री का अनुमान किया जा सकता है।

गर्भाधान संस्कार की शास्त्रोक्त विधि

श्वेताम्बर– वर्धमानसूरिकृत आचारदिनकर में गर्भाधान संस्कार करने की विधि इस प्रकार कही गई है[20]–

• सर्वप्रथम पूर्वोक्त गुण सम्पन्न गृहस्थ गुरु गर्भाधान कर्म करने से पहले गर्भवती स्त्री के पति की अनुमति प्राप्त करे। • गर्भवती स्त्री का पति सम्पूर्ण शरीर की शुद्धि करे, शुद्ध वस्त्रों को पहने, फिर निज वर्णानुसार उत्तरीय एवं उत्तरासन को धारण करे। • फिर अरिहन्त बिम्ब की बृहत् स्नात्रपूजा करे। उस स्नात्रजल को पवित्र बर्तन में रखे। • उसके बाद शास्त्र-विधि के अनुसार गंध, पुष्प, धूप, दीपक, नैवेद्य द्वारा अष्टप्रकारी पूजा करे। • पूजा के अन्त में गृहस्थ गुरु सौभाग्यवती नारियों के हाथों से गर्भवती स्त्री को स्नात्रजल से सिंचित कराए। • तदनन्तर पवित्र जलाशयों के जल को एक पात्र में एकत्रित करके उसमें सहस्रमूल चूर्ण को प्रक्षेपित करे। फिर उस चूर्ण मिश्रित जल को शान्तिदेवी के मन्त्र[21] द्वारा अथवा शांतिदेवी के मंत्र गर्भित स्तोत्र द्वारा सात बार अभिमंत्रित करे। वह मन्त्र निम्न है -

"ऊँ नमो निश्चितवचसे भगवते पूजामर्हते जयवते यशस्विने, यतिस्वामिने सकल-महासंपत्तिसमन्विताय त्रैलोक्यपूजिताय सर्वासुरामर -स्वामि संपूजिताय अजिताय भुवनजनपालनोद्यताय सर्वदुरितौघ- नाशनकराय सर्वाशिवप्रशमनाय दुष्टग्रहभूति पिशाचशाकिनी प्रमथनाय, यस्येति नाममंत्रस्मरण तुष्टा भगवती तत्पदभक्ता विजयादेवी। ऊँ ह्रीँ नमस्ते भगवति विजये जय-जय परे परापरे जये अजिते अपराजिते जयावहे सर्वसंघस्य भद्रकल्याणमंगलप्रदे, साधुनां शिवतुष्टिपुष्टिप्रदे, जय-जय भव्यानां कृतसिद्धे सत्त्वानां निर्वृत्तिनिर्वाणजननि अभयप्रदे स्वस्तिप्रदे भविकानां जन्तूनां शुभप्रदानाय नित्योद्यते सम्यग्दृष्टिनां, धृतिरतिमतिबुद्धिप्रदे जिनशासनरतानां शान्तिप्रणतानां जनानां श्री संपत्कीर्तियशोवर्द्धिनि, सलिलात् रक्ष रक्ष अनिलात् रक्ष रक्ष, विषधरेभ्यो रक्ष रक्ष, राक्षसेभ्यो रक्ष रक्ष, रिपुगणेभ्यो रक्ष रक्ष, मारीभ्यो रक्ष रक्ष, चौरेभ्यो रक्ष रक्ष, ईतिभ्यो रक्ष रक्ष, श्वापदेभ्यो रक्ष रक्ष, शिवं कुरू कुरू शान्तिं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कुरू कुरू, तुष्टिं कुरू कुरू, पुष्टिं कुरू कुरू, भगवती, गुणवती, जनानां शिव शान्ति तुष्टि पुष्टि स्वस्ति कुरू-कुरू ऊँ नमो-नमो ह्र यः क्षः ह्रीं फट् फट् स्वाहा।

ऊँ नमो भगवतेऽर्हते शान्ति स्वामिने सकलातिशेषक महा-संपत्समन्विताय, त्रैलोक्यपूजिताय, नमः शान्तिदेवाय, सर्वामरसमूह-स्वामिसंपूजिताय, भुवनपालनोद्यताय, सर्वदुरितविनाशनाय सर्वाशिव प्रशमनाय, सर्वदुष्टग्रह-भूतपिशाच-मारिडाकिनी प्रमथनाय, नमो भगवति विजये, अजिते, अपराजिते जयन्ति जयावहे सर्वसंघस्य भद्रकल्याण- मंगलप्रदेसाधुनां शिवशान्ति तुष्टिपुष्टि स्वस्तिप्रदे भव्यानां सिद्धिवृद्धि निवृत्तिनिर्वाणजननि सत्त्वानामभयप्रदाननिरते, भक्तानां शुभावहे, सम्यग्दृष्टिनां धृतिरतिमतिवृद्धि प्रदानोद्यते, जिनशासननिरतानां श्री संपत्कीर्तियशोवर्द्धिनि, रोगजलज्वलनविष-विषधरदुष्टज्वरव्यन्तरराक्षसरि-पुमारि चौरेतिश्वापदोपसर्गादि-भयेभ्यो रक्ष रक्ष, शिवं कुरू कुरू शान्तिं कुरू कुरू तुष्टिं कुरू पुष्टिं कुरू कुरू स्वस्तिं कुरू कुरू भगवति श्री शान्तितुष्टिपुष्टि स्वस्ति कुरू कुरू ऊँ नमो नमः ह्रूं: ह्रः यः क्षः ह्रीँ फट् स्वाहा।''

• तत्पश्चात सधवा स्त्रियाँ उस अभिमंत्रित जल द्वारा गर्भवती स्त्री को स्नान कराएं। • उसके बाद सुगंधित वस्तुओं का उस पर अनुलेपन करें, अखण्ड वस्त्र पहनाएं, यथायोग्य आभूषण धारण करवाएं। • फिर पति के साथ वस्त्रांचल से ग्रन्थिबंधन[22] करवाएं। • फिर पति के बाईं ओर शुभ आसन पर स्वस्तिक बनाकर गर्भवती को उस पर बिठाएं।

• उसके बाद गृहस्थ गुरु पट्ट पर बैठकर तीर्थोदक द्वारा, कुशाग्र के पत्ते से गर्भवती का सिंचन करे। वह सिंचन-क्रिया सात बार करे तथा उस समय गृहस्थ गुरु आर्य मंत्र का उच्चारण करे। • उसके बाद गृहस्थ गुरु दम्पत्ति सहित जिन-प्रतिमा के निकट जाए और शक्रस्तवसूत्र पूर्वक चैत्यवंदन करवाए। • गर्भवती नारी जिन-बिम्ब के समक्ष यथाशक्ति फल आदि चढ़ाए। फिर उस गुरु को वस्त्र आदि का दान दे। गुरु भी उन्हें आशीर्वाद प्रदान करे।

• उसके बाद दम्पत्ति के वस्त्रांचल का मन्त्रोच्चारण पूर्वक ग्रंथि-वियोजन करे। • फिर उपाश्रय में सद्गुरु विराजित हों तो उनके पास जाएं, वंदन आदि करें और यथाशक्ति अशन एवं वस्त्र आदि प्रदान कर धर्मलाभ प्राप्त करें। यह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गर्भाधान संस्कार की मूल विधि है। उसके बाद अपने कुलाचार के अनुरूप कुल देवता, गृह देवता और नगर देवता आदि का पूजन करें।

दिगम्बर– दिगम्बर परम्परा में गर्भाधान संस्कार-विधि का स्वरूप बताते हुए यह निर्देश किया है कि उस दिन मासिक धर्म से शुद्ध हुई नारी मन्दिर में जाकर अरिहंत प्रतिमा की पूजा-अर्चना करे। उस पूजा-विधि की क्रिया में जिनेन्द्र परमात्मा के दाहिनी ओर तीन चक्र, बाईं ओर तीन छत्र और सम्मुख तीन अग्नियों की स्थापना करे। तदनन्तर शेष बचे हुए द्रव्य से पुत्रोत्पन्न की इच्छा करते हुए तीन अग्नियों में आहुति दें। उस अवसर पर गृहस्थाचार्य दम्पत्ति को पीले चावल से बधाएँ। यही गर्भाधान संस्कार है।[23]

वैदिक– वैदिक परम्परा में इस संस्कार की भिन्न-भिन्न विधियाँ पढ़ने को मिलती हैं। शंखायनगृह्यसूत्र में कहा गया है कि विवाह की तीन रात व्यतीत हो जाने पर चौथी रात्रि को पति अग्नि में पके हुए भोजन की आठ आहुतियाँ दे तथा अध्यण्डा नामक वृक्ष की जड़ को कूटकर उसका जल पत्नी के नाक में छिड़के और संभोग करते समय 'तू गन्धर्व विश्वास का मुख हो' ऐसा कहे।[24] पारस्करगृह्यसूत्र में यही विधि कही कई है। गोभिल ने भी इसी विधि का संक्षेप में निरूपण किया है। भारद्वाजगृह्यसूत्र में एक विशेष बात यह निर्दिष्ट की है कि रजस्वला स्त्री चौथे दिन स्नानोपरान्त श्वेत वस्त्र धारण करे और अन्य किसी से बात न करे।[25] इसी बात को वैश्वानसगृह्यसूत्र में इस प्रकार कहा गया है कि वह पति को छोड़कर किसी अन्य को न देखे, अन्यथा देखे गए व्यक्ति के समान उसकी सन्तान उत्पन्न होगी ऐसी पारम्परिक मान्यता कही है।

इस प्रकार वैदिक परम्परा में कुल मिलाकर गर्भाधान संस्कार के सम्बन्ध में उक्त मान्यताएँ एवं विधियाँ उल्लिखित हैं।

समाहारत: कहा जा सकता है कि गर्भाधान संस्कार को किसी न किसी रूप में तीनों परम्पराओं ने स्वीकार किया है। सभी ने इस संस्कार को प्राथमिक स्थान दिया है। श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्परा में इस संस्कार को करने का अधिकारी जैन ब्राह्मण (गृहस्थ आचार्य) एवं क्षुल्लक को माना गया है, जो सन्तति को सुसंस्कृत बनाने की दृष्टि से पूर्णत: उचित प्रतीत होता है। वैदिक परम्परा में संस्कार का कर्ता पति को माना गया है, जो गर्भाधान की प्रक्रिया को सम्पन्न करने की दृष्टि से सही मालूम होता है। जैन एवं वैदिक-दोनों परम्पराओं में इस

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संस्कार की सफलता के लिए इष्टोपासना को महत्त्व दिया गया है। जैन धर्म में अरिहन्त-प्रतिमा का पूजन करने का निर्देश है तो वैदिक-धर्म में गणपति के साथ मातृका का पूजन किए जाने का उल्लेख है।[26]

श्वेताम्बर परम्परा में यह विधि कुछ विस्तृत रूप से उल्लिखित है जबकि दिगम्बर एवं वैदिक परम्परा में इस विधि का संक्षिप्त स्वरूप ही वर्णित है।

गर्भाधान संस्कार सम्बन्धी विधि-विधानों के प्रयोजन

दिगम्बर-आम्नाय में गर्भाधान आदि संस्कार सम्पन्न करते समय तीन अग्नियों की स्थापना की जाती है। ये तीनों ही अग्नियाँ तीर्थंकर, गणधर और सामान्य केवली के निर्वाण-महोत्सव में पूजा का अंग होकर अत्यन्त पवित्रता को प्राप्त हुई मानी जाती हैं।

आदिपुराण में निर्देश है कि ये तीनों अग्नियाँ क्रमशः गार्हपत्य, आह्वानीय और दक्षिणाग्नि नाम से प्रसिद्ध हैं और तीन कुण्डों में स्थापित की जाती हैं।

इन तीनों प्रकार की अग्नियों में मन्त्रों के द्वारा पूजा करने वाला पुरुष द्विजोत्तम कहलाता है और जिसके घर इस प्रकार की पूजा नित्य होती रहती है, वह अहिताग्नि या अग्निहोत्री कहलाता है। नित्य पूजन करते समय गार्हपत्य अग्नि से नैवेद्य पकाया जाता है, आहवनीय अग्नि में धूप खेई जाती है और दक्षिणाग्नि से दीपक जलाया जाता है।

अत्यन्त सावधानी के साथ इन तीनों अग्नियों की रक्षा करनी चाहिए और जिनका कोई संस्कार नहीं हुआ है-ऐसे अन्य लोगों को कभी नहीं देनी चाहिए।

"इन तीन अग्नियों की पूजा करना निर्दोष है"-इस मत की पुष्टि करते हुए जिनसेनाचार्य ने कहा है-

अग्नि में स्वयं पवित्रता नहीं है और न वह देवता रूप ही है, किन्तु अरिहन्त प्रतिमा की पूजा के सम्बन्ध से वह अग्नि पवित्र हो जाती है, इसलिए द्विज लोग इसे पूजा का अंग मानकर इसकी पूजा करते हैं, अतएव निर्वाण-क्षेत्र की पूजा के समान अग्नि की पूजा करने में कोई दोष नहीं है।

स्पष्ट है कि जिस प्रकार जिनेन्द्रदेव के सम्बन्ध से क्षेत्र पूज्य हो जाता है, उसी प्रकार उनके सम्बन्ध से अग्नि भी पूज्य हो जाती है अतएव जिस प्रकार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निर्वाण आदि क्षेत्रों की पूजा करने में दोष नहीं है, उसी प्रकार अग्नि की पूजा करने में भी कोई दोष नहीं है।

गर्भाधान संस्कार का तुलनात्मक विवेचन

गर्भाधान एक महत्त्वपूर्ण संस्कार है। पूर्वोक्त विवेचन के आधार पर निम्नोक्त संदर्भों में इसका तुलनात्मक विवेचन इस प्रकार है–

- श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्परा इस संस्कार को सम्पन्न करवाने का अधिकारी गृहस्थ गुरु या क्षुल्लक को मानती है, जबकि वैदिक परम्परा ने इस संस्कार का मूल कर्ता पति को स्वीकारा है।

- श्वेताम्बर, दिगम्बर एवं वैदिक तीनों परम्पराओं में इस संस्कार के लिए शुभ नक्षत्र आदि का विचार किया गया है। वैदिक-ग्रन्थों में यह वर्णन संक्षेप में किया गया है।

- श्वेताम्बर मत के अनुसार गर्भधारण के बाद पाँच मास की अवधि पूर्ण होने पर, दिगम्बर मतानुसार मसिक धर्म के चतुर्थ दिन के बाद चौदहवीं रात्रि तक शुभ दिन आदि का योग होने पर तथा वैदिक-मान्यतानुसार मासिक धर्म के चौथे दिन या चौथी रात्रि से लेकर सोलहवें दिन की रात्रि तक यह संस्कार किया जाना चाहिए।

- श्वेताम्बर-ग्रन्थ में इस संस्कार हेतु आवश्यक सामग्री का स्पष्ट उल्लेख हुआ है, जबकि दिगम्बर एवं वैदिक ग्रन्थों में सामग्री को लेकर कोई चर्चा नहीं हुई है।

- श्वेताम्बर परम्परा में यह विधि सम्पन्न करते समय गर्भवती की शारीरिक शुद्धि, गर्भस्थ शिशु को सुसंस्कृत एवं संरक्षित करने के उद्देश्य से अरिहन्त प्रभु की उपासना, गर्भधारण की अवधि निर्विघ्न सम्पन्न हो, एतदर्थ गुरु भगवन्त को वन्दन, वस्त्रदान आदि के द्वारा गुरु की सेवा-भक्ति आदि प्रक्रियाएँ की जाती है तथा इस संस्कार को करने का प्रयोजन पारिवारिक और धार्मिक विकास माना गया है। दिगम्बर परम्परा में यह संस्कार प्रमुख रूप से अरिहन्त परमात्मा की पूजोपासना पूर्वक सम्पन्न किया जाता है। वैदिक मत में इस संस्कार को लेकर विभिन्न विधियाँ कही गईं हैं। गर्भ की उत्पत्ति निर्वेदना पूर्वक एवं यथासमय हो, इस उद्देश्य से पति के द्वारा कुछ विशिष्ट क्रियाएँ किए

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाने का सूचन किया गया है तथा इस संस्कार के माध्यम से गर्भवती के विचार परम पवित्र रहें, इस पर विशेष बल दिया गया है।

उपसंहार

संस्कार तन-मन एवं आत्मा को पवित्र एवं सुसंस्कृत करने की विशिष्ट प्रक्रिया है। संस्कार-कर्म के माध्यम से जीवन और चारित्र-दोनों विशुद्धतर बनते हैं। गर्भाधान संस्कार की उपादेयता क्या हो सकती है? इस बिन्दु पर मनन किया जाए, तो ज्ञात होता है कि यह संस्कार वंश परम्परा को आगे बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस विधान द्वारा सुसंस्कारी सन्तान की प्राप्ति होती है। यह स्पष्ट है कि गर्भस्थ-शिशु बाह्य वातावरण से प्रभावित होता है, इस बात को आधुनिक विज्ञान भी स्वीकार करने लगा है। परिवारिक एवं सामाजिक-उन्नति के लिए सन्तान को चारित्रवान् और निष्ठावान् बनाना अति आवश्यक है। ये गुण जीवन-उत्थान के लिए भी मूल्यवान हैं।

इस संस्कार द्वारा यह जानने समझने को भी मिलता है कि परिवार में नवीन आगंतुक का आगमन किस तरह होना चाहिए? उसका स्वास्थ्य, स्वभाव एवं बौद्धिक-क्षमता किस प्रकार स्वस्थ एवं सुदृढ़ हो सकती है?

डॉ. बोधकुमार झा का कहना है-सृष्टि के मूल में ऋत एवं सत्य, सोम एवं अग्नि नाम के तत्वों का सहयोग रहता है। वे ही द्विविध तत्व मानव-जन्म के मूल में भी क्रियाशील रहते हैं। इसका नाम वीर्य और रज है। वीर्य और रज जितने शुद्ध होती हैं, सन्तति भी उतनी ही शुद्ध होती है। संस्कारी माता-पिता के विशुद्ध वीर्य एवं रज से संस्कृत सन्तान का जन्म होता है, अतः संस्कारों का प्रारम्भ गर्भाधान से माना गया है।[27] गर्भाधान संस्कार द्वारा वीर्य एवं रज को संस्कारित बनाया जाता है।

शास्त्रानुसार गर्भाधान संस्कार को सफल बनाने हेतु गर्भाधान काल में माता-पिता के द्वारा किसी हीन पुरुष को नहीं देखा जाना चाहिए। शास्त्रकारों ने रज को क्षेत्र और शुक्र को बीज माना है। सन्तान उत्पत्ति में दोनों का ही महत्त्व अपरिहार्य है। तथ्य यह है कि बीज कितना ही सुन्दर हो, यदि क्षेत्र ऊसर या अनुर्वर है, तो उसमें पड़ा हुआ बीज फलप्रद नहीं होता है, इसी तरह क्षेत्र अच्छा हो, पर बीज सुपरिपक्व न हो, तो भी सुन्दर फल नहीं मिल सकता है। इससे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सिद्ध होता है कि गर्भ में स्थाप्यमान शिशु स्त्री एवं पुरुष के मानस-पटल पर अंकित स्वरूप के अनुरूप ही रूप को धारण करता है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि जीवन के जो अणु वीर्य में निहित होते हैं, उनमें मानसिक अणु भी विद्यमान रहते हैं। यदि ऐसा नही होता, तो हिरण्यकश्यप का पुत्र प्रह्लाद कभी धार्मिक-प्रवृत्ति का नहीं होता। सामान्यत: माता या पिता का रूप एवं स्वभाव सन्तान में रहा करता है। यह तभी संभव है, जब गर्भाधान के समय किसी सदाचारवान व्यक्ति की छबि उसके मानस-पटल में निहित हो। शरीर द्वारा किए गए प्रत्येक कार्य में वैज्ञानिक या दार्शनिक-दृष्टि से मन ही कारण हुआ करता है अत: गर्भाधान संस्कार में गर्भवती का मन सात्विक, नैतिक एवं पवित्रतम विचारों से युक्त रहना चाहिए। यही गर्भाधान संस्कार का साफल्य है।

सन्दर्भ-सूची

1. *सनातनषोड़शसंस्कारविधि, पृ. 60*
2. *शरीर स्थान, 8/20 संस्कार अंक, पृ. 174*
3. *वही, 2/6*
4. *(क) आदिपुराण, जिनसेनाचार्य, अनु. डॉ. पन्नालाल जैन, भा. द्वि; पर्व 38, पृ. 245*
   (ख) धर्मशास्त्र का इतिहास, पांडुरंग वामन काणे
5. *आचारदिनकर, पृ. 5*
6. *वही, पृ. 5*
7. *वही, पृ. 6*
8. *आदिपुराण, भा.द्वि, पर्व 40, पृ. 301*
9. *हिन्दू संस्कार, डॉ राजबली पाण्डेय, पृ. 67*
10. *हिन्दू संस्कार, पृ. 68*
11. *आचारदिनकर, पृ. 6*
12. *आचारदिनकर, पृ. 5*
13. *जैनसंस्कारविधि, पं. नाथूलाल जैन, पृ. 6*
14. *(क) मनुस्मृति, पं. श्रीराम शर्मा, पृ. 3/48*
    (ख) याज्ञवल्क्यस्मृति, पृ. 1/79

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

15. आचारदिनकर, पृ. 5
16. जैन संस्कार-विधि, पृ. 6
17. शंखायनगृह्यसूत्र, 1/18/19
18. (क) मनुस्मृति, 3/46
    (ख) याज्ञवल्क्यस्मृति, 1/79
19. हिन्दू संस्कार, पृ. 63
20. याज्ञवल्क्यस्मृति, 1/79
21. आचारदिनकर, पृ. 8
22. आचारदिनकर, पृ. 5-8
23. वही, पृ. 6
24. वही, पृ. 7
25. (क) आदिपुराण, पर्व 38, पृ. 245
    (ख) जैनसंस्कारविधि, पृ. 7
26. धर्मशास्त्र का इतिहास, 1/पृ. 181
27. आदिपुराण, पर्व 40, पृ. 301
28. वही, पृ. 186
29. षोडशसंस्कार, डॉ. बोधकुमार झा, पृ.-1

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अध्याय - 3

पुंसवन संस्कार विधि का सामान्य स्वरूप

पुत्र संतान उत्पन्न करने एवं गर्भस्थ शिशु के समुचित विकास के लिए गर्भिणी स्त्री का पुंसवन संस्कार किया जाता है। मनोविज्ञान का यह सिद्धान्त है कि बालक को सुसंस्कारी बनाने के लिए सबसे पहले उसके जन्मदाता माता-पिता को सुसंस्कृत होना परमावश्यक है। माता-पिता के आचार-विचारों का गर्भस्थ बालक पर चिरस्थाई प्रभाव पड़ता है। गर्भस्थ जीव की स्वाभाविक संरचना का विकास माता-पिता पर आधारित होता है, इसलिए तो कहा गया है कि बालक की प्रथम पाठशाला माता होती है। जैन आगम-साहित्य में इस प्रकार के अनेक उल्लेख मिलते हैं कि गर्भवती स्त्री को किस प्रकार रहना चाहिए, किस प्रकार चलना चाहिए, कौन-कौनसी खाद्य वस्तुएँ नहीं खानी चाहिए? यह निर्देश सन्तान को सुसंस्कारी बनाने हेतु ही दिए गए हैं अतः पुंसवन संस्कार इसी उद्देश्य से किया जाता है।

भारतीय वाङ्मय में पुंसवन संस्कार का अर्थ

पुंसवन शब्द का अर्थ है-पु=पुमान् (पुरुष) का जन्म होना अर्थात जिस अनुष्ठान या कर्म द्वारा पुरुष का जन्म हो, वह पुंसवन संस्कार है।[1] इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है-'पुमान् प्रसूयते येन कर्मणा तत् पुंसवनमीरितम्' अर्थात जिस संस्कार कर्म द्वारा पुरुष उत्पन्न किया जाता है, वह पुंसवन संस्कार है।

पुंसवन शब्द के इस अर्थ से ज्ञात होता है कि यह संस्कार गर्भ से पुत्र की प्राप्ति हेतु किया जाता है। पुरुष प्रधान भारतीय समाज में 'पुत्र' संतान का महत्त्व अधिक रहा है, इसलिए इस संस्कार का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। पुत्र का महत्त्व बतलाते हुए कहा गया है- 'पुन्नामो नरकात् त्रायते इति पुत्रः' अर्थात 'पुम्' नामक नरक से जो त्राण (रक्षा) करता है, उसे पुत्र कहा जाता है। इस वचन के आधार पर नरक से बचने के लिए मनुष्य पुत्र-प्राप्ति की कामना करते हैं। मनुष्य की इस अभिलाषा पूर्ति के लिए ही शास्त्रों में पुंसवन संस्कार का विधान किया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गया है ऐसा वैदिक मत है।

पुंसवन संस्कार की आवश्यकता वैधानिक संदर्भो में

पुंसवन संस्कार क्यों किया जाए यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है? वर्तमान परम्परा में यह संस्कार प्रायः विलुप्त सा हो चुका है, किन्तु किसी समय इसकी उपादेयता सर्वाधिक रही होगी, तभी तो इस संस्कार का स्वरूप उपलब्ध है।

वैदिक ग्रन्थों का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि पूर्वकाल में पुत्र को जन्म देने वाली माता की प्रशंसा की जाती थी तथा सामाजिक क्षेत्र में उसके पति को सम्मानीय स्थान मिलता था। संभवतः इस संस्कार की आवश्यकता उस युग में सर्वाधिक महसूस की गई होगी, जब युद्ध के लिए पुरुषों की आवश्यकता अनिवार्य हो जाती थी। युद्ध के बाद पुरुष संख्या में प्रायः कमी आ जाती थी अतः उस कमी की पूर्ति के लिए यह संस्कार प्रवर्तित हुआ हो-ऐसा भी कहा जा सकता है। पुंसवन संस्कार का ही एक उपांगभूत संस्कार है-'अनवलोमन'। यह संस्कार गर्भस्थ शिशु के रक्षार्थ और असमय में गर्भच्युत न हो जाए, इस लक्ष्य से किया जाता है। इसमें शिशु की रक्षा के लिए सभी मांगलिक पूजन, हवन आदि कार्यों के अनन्तर जल एवं औषधियों द्वारा प्रार्थना की जाती है।

पुत्र प्राप्ति हेतु पुराणों में पुंसवन नामक एक व्रत विशेष का विधान भी बतलाया गया है, जो एक वर्ष तक चलता है। स्त्रियाँ पति की आज्ञा से ही इस व्रत का संकल्प लेती हैं। भागवत के छठवें स्कन्ध, अध्याय 18-19 में बताया गया है कि महर्षि कश्यप की आज्ञा से दिति ने इन्द्रवध की क्षमता रखने वाले पुत्र की कामना से यह व्रत किया था।[2]

पुत्र की उत्पत्ति से कुल-परम्परा अक्षुण्ण बनी रहे, इसी हेतु से यह संस्कार किया जाता है।

शास्त्रीय दृष्टि से पुंसवन संस्कार करवाने का अधिकारी

श्वेताम्बर परम्परा में सामान्यतया जैन ब्राह्मण (गृहस्थ गुरु) या क्षुल्लक को यह संस्कार कराने का अधिकारी माना गया है। दिगम्बर परम्परानुसार तत्सम्बन्धी कोई स्पष्ट निर्देश प्राप्त नहीं हुआ है। अनुमानतः सुयोग्य गृहस्थाचार्य ही यह संस्कार करवाते हैं। वैदिक परम्परा में यह संस्कार गर्भिणी का पति या उसकी अनुपस्थिति में उसके देवर के द्वारा करवाए जाने का उल्लेख है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुंसवन संस्कार सम्बन्धी मुहूर्त्त विचार

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार पुंसवन संस्कार के लिए निम्न नक्षत्र आदि शुभ-अशुभ माने गए हैं– मूल, पुनर्वसु, पुष्य, हस्त, मृगशिरा, श्रवण नक्षत्र; मंगल, गुरु और सोमवार तथा रिक्ता, दग्धा, क्रूर, तीन दिन को स्पर्श करने वाली षष्ठी, अष्टमी, द्वादशी और अमावस्या को छोड़कर शेष तिथियाँ पुंसवन संस्कार के लिए श्रेष्ठ मानी गईं हैं। इन नक्षत्र आदि में किया गया संस्कार पूर्ण फलदायी होता है। आचारदिनकर में यह भी कहा गया है कि जब पति का चन्द्र बलवान हो, उस समय यह संस्कार प्रारम्भ करना चाहिए।[3]

दिगम्बर परम्परा में दूसरा 'प्रीति' नामक संस्कार है। वह संस्कार किन शुभ घड़ियों में किया जाना चाहिए, उस सम्बन्ध में कोई निर्देश नहीं है। संभवतः इस परम्परा में यह संस्कार सम्पन्न करने से पूर्व उसके लिए शुभ दिन आदि अवश्य देखे जाते होंगे, लेकिन आदिपुराण में इस सम्बन्धी कोई चर्चा नहीं की गई है।

वैदिक परम्परा में दूसरा संस्कार 'पुंसवन' नाम का है। यह संस्कार किन शुभ दिन आदि में किया जाना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए आश्वलायनगृह्यसूत्र में निर्देश है-गर्भाधान के तीसरे महीने में पुष्य नक्षत्र के दिन यह संस्कार किया जाना चाहिए।[4] कुछ विद्वान इस संस्कार को पुरुष नक्षत्र में करने का निर्देश करते हैं, किन्तु इस सम्बन्ध में भी विद्वानों का एकमत नहीं है।

पुंसवन संस्कार हेतु काल का विचार

पुंसवन संस्कार किस दिन या किस माह में किया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में श्वेताम्बर परम्परा का मन्तव्य है[5]– यह संस्कार गर्भ धारण से आठ महीने पूर्ण होने पर किया जाना चाहिए। इससे सूचित होता है कि गर्भस्थ जीव के पूर्ण विकसित होने पर यह संस्कार किया जाता है।

दिगम्बर परम्परा में 'पुंसवन' के स्थान पर 'प्रीति' नामक संस्कार है। आदिपुराण के अनुसार यह संस्कार गर्भाधान के बाद तीसरे माह में किया जाना चाहिए।[5] वैदिक परम्परा में संस्कार काल को लेकर अलग-अलग धारणाएँ हैं। मनु और याज्ञवल्क्य के अनुसार गर्भाशय में गर्भ के गतिशील होने से पूर्व यह संस्कार सम्पन्न करना चाहिए।[6] शंख भी इसी बात की पुष्टि करते हैं।[7] बृहस्पति के अनुसार इस कृत्य के लिए यही काल उचित माना गया है।[8] जातुकर्ण्य और शौनक[9] के मतानुसार गर्भधारण के स्पष्ट हो जाने पर तीसरे माह में यह संस्कार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करना चाहिए। सामान्यतया इस परम्परा में इस संस्कार के अनुष्ठान का समय गर्भ के द्वितीय मास से लेकर अष्टम मास तक माना गया है।

यदि हम वैदिक परम्परा में मान्य उक्त धारणाओं को देखें तो इस संस्कार के लिए द्वितीय से अष्टम मास तक का काल उचित लगता है। इस काल के पीछे यह कारण माना जाता है कि विभिन्न स्त्रियों में गर्भधारण के चिह्न विभिन्न काल में व्यक्त होते हैं। कुलाचार या पारिवारिक प्रथाएँ भी इस वैविध्य के लिए उत्तरदायी मानी गईं हैं। बृहस्पतिगृह्यसूत्र में इस संस्कार के लिए कहा गया है कि यदि प्रथम गर्भ हो तो यह संस्कार तीसरे मास में करना चाहिए, अन्यथा दूसरे-तीसरे गर्भधारण की स्थिति होने पर यह संस्कार गर्भ के चौथे, छठवें या आठवें मास में भी सम्पन्न किया जा सकता है।[10]

इसका हेतु स्पष्ट करते हुए शरीर शास्त्रियों का मत है कि परवर्ती गर्भों की अपेक्षा पहली बार गर्भधारण होने पर उसके चिह्न कुछ पूर्व ही स्पष्ट हो जाते हैं, इसी कारण द्वितीय आदि गर्भों में अपेक्षाकृत परवर्तीकाल विहित किया गया है।

पुंसवन संस्कार में उपयोगी सामग्री

पुंसवन संस्कार सम्पन्न करने हेतु कुछ सामग्री आवश्यक मानी गई है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार इस संस्कार के लिए अधोलिखित सामग्री आवश्यक हैं- 1. पंचामृत 2. स्नात्र पूजा के समय प्रयोग आने वाली सभी वस्तुएँ 3. गर्भिणी के लिए नूतन वस्त्र 4. एक वस्त्र का जोड़ा 5. स्वर्ण की आठ मुद्राएँ 6. रजत की आठ मुद्राएँ 7. आठ प्रकार के फल 8. मूल सहित दर्भ 9. तांबूल 10. सुगंधित पदार्थ 11. पुष्प 12. नैवेद्य 13. सौभाग्यवती नारियाँ 14. मंगल गीत की पुस्तकें आदि।[11]

दिगम्बर एवं वैदिक मतानुसार इस संस्कार के लिए कौन-सी सामग्री अपेक्षित हो सकती है? यह कहना असंभव है, क्योंकि इस सम्बन्ध में हमें कुछ भी पढ़ने को नहीं मिला है।

पुंसवन संस्कार में अपेक्षित सावधानियाँ

पुंसवन संस्कार विधि करने के बाद गर्भिणी को विशेष सावधान रहना चाहिए, क्योंकि किन्हीं मान्यतानुसार इस संस्कार के बाद से गर्भस्थ जीव का क्रमशः विकास होने लगता है। यह सत्य है कि माता-पिता के शरीर से बालक का शरीर, उनके मन से शिशु का मन और उनके स्वभाव से शिशु का स्वभाव

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बनता है, इसलिए जिस तरह अच्छी फसल उगाने के लिए भूमि और बीज दोनों का सामर्थ्य आवश्यक है, उसी तरह माता-पिता के शरीर, मन और स्वभाव का परिष्कृत होना आवश्यक है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि जो माता-पिता अपनी सन्तान को प्रारम्भ से ही सुसंस्कारी, सुयोग्य एवं सुविकसित करने में समर्थ न हो, उनकी शारीरिक, मानसिक एवं आर्थिक क्षमता को प्रकट न कर सकते हो, तो उन्हें सन्तान उत्पादन जैसे महान उत्तरदायित्त्व को उठाने के लिए कदम नहीं बढ़ाने चाहिए। यह एक सामाजिक अपराध है। इस अपराध वृत्ति से बचने के लिए माता को प्रतिपल सजग रहना चाहिए।

मनोविज्ञान के अनुसार गर्भकाल में गर्भ धारिणी की मानसिक दशा बच्चे के मन-मस्तिष्क पर विशिष्ट प्रभाव डालती है अत: यह संस्कार सम्पन्न होने के बाद से ही माता का आहार, विहार, व्यवहार आदि संतुलित एवं संयमित होने चाहिए। मनोविज्ञान और शरीर शास्त्र का नियम है-माता का आहार और व्यवहार बच्चे के शरीर और मन पर सीधा प्रभाव डालता है। यदि माता गर्भावस्था के दौरान मिर्च-मसालों से भरे, अति उष्ण-उत्तेजक मसाले, अभक्ष्य पदार्थ खाती हैं, तो उसके बालक का शरीर उसी तरह की उत्तेजनाओं से भर जाता है। ऐसा उत्तेजक-उष्ण आहार ही अक्सर बच्चों को क्रोधी, चिड़चिड़ा, झगड़ालू, जिद्दी स्वभाव का तथा शारीरिक दृष्टि से रक्तविकार, अपच, बवासीर जैसे रोगों से ग्रसित बनाता है, अतएव गर्भिणी का आहार सात्त्विक, हल्का, जल्दी पचने वाला, मिर्च-मसालों से रहित होना चाहिए। इन दिनों ब्रह्मचर्य का पालन अवश्य करना चाहिए। गर्भवती की मनोभूमि इन दिनों ईर्ष्या, द्वेष, काम, क्रोध, भय, चिन्ता, निराशा जैसे मनोभावों से बची रहनी चाहिए। पारिवारिक सदस्यों को भी यह ध्यान रखना चाहिए कि उसे किसी प्रकार का मानसिक क्षोभ न हो।

गर्भवती को अपने भीतर धैर्य, साहस, आशा, उत्साह के भाव रखने चाहिए। उसे हर समय हँसते-मुस्कराते रहना चाहिए। जो स्त्रियाँ प्रसन्नचित्त रहती हैं, उनके बालक विशेष रूप से सुन्दर एवं हँसमुख होते हैं। जहाँ शयन कक्ष हो, वहाँ आदर्श चारित्र महापुरुषों के चित्र एवं प्रेरणाप्रद शिक्षाएँ देने वाले आदर्श वाक्य टंगे रहने चाहिए। इन दिनों में जब भी यथोचित समय मिले उसे जाप,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दर्शन, स्वाध्याय आदि शुभ प्रवृत्तियों में रत रहना चाहिए। उपासना से अन्त:करण शुद्ध होता है और उसमें दिव्य प्रकाश बढ़ता है, इसलिए गर्भवती को नित्य नियमित परमात्म उपासना अवश्य करनी चाहिए।[12]

पति, परिवार का मुखिया होता है अत: उसे गर्भिणी की स्वस्थता एवं निर्मल मानसिकता का पूरा ध्यान रखना चाहिए। पुंसवन संस्कार के उपरान्त गर्भस्थ जीव को सुसंस्कारित एवं सुशिक्षित करने हेतु कुटुम्बियों को एवं पति को गर्भिणी के लिए पूर्वोक्त नियमों के समान ही अन्य नियम आदि का अवश्य ध्यान रखना चाहिए।

पुंसवन संस्कार की उपदिष्ट विधि

श्वेताम्बर– श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार पुंसवन संस्कार की विधि इस प्रकार है[13]–

• सर्वप्रथम गृहस्थ गुरु पूर्व कथित वेशभूषा को धारण कर पति के समीप आए। • फिर रात्रि के चतुर्थ प्रहर में जिस समय आकाश में तारे हों, उस समय सौभाग्यवती नारियों द्वारा मंगलगीत गाते हुए गर्भिणी स्त्री का तेलमर्दन और उबटन कर जल से स्नान कराया जाए। • उसके बाद प्रभात होने पर नवीन वस्त्र धारण की हुई गर्भवती की साक्षी में उसका पति, देवर या कुल पुरुष कोई भी गृह-चैत्य की प्रतिमा का बृहद् स्नात्राभिषेक करे। • फिर जिन प्रतिमा का सहस्रमूली से स्नान कराए। फिर समस्त तीर्थों के जल से स्नान कराए। • तदनन्तर सभी प्रकार के स्नात्र जल को सुवर्ण-चाँदी या ताम्र के पात्र में रखे। • उसके बाद शुभ आसन पर बैठी हुई गर्भिणी के सिर, स्तन एवं उदर को गृहस्थ गुरु स्नात्र जलसहित कुश द्वारा अभिसिंचित करें। • उस समय गुरु वेद मंत्र को आठ बार पढ़ें। वह मंत्र निम्न है–

"ऊँ अर्हं नमस्तीर्थंकरनामकर्मप्रतिबन्धसंप्राप्त-सुरासुरेन्द्र- पूजायांर्हते आत्मने त्वमात्मायु: कर्मबन्धप्राप्यं तं मनुष्य जन्मगर्भा-वासमवाप्तौसि, तद्भवजन्मजरामरणगर्भवासविच्छित्तये प्राप्तार्हद्धर्मोऽर्हद्भक्त: सम्यक्त्वनिश्चल: कूलभूषण: सुखेन तव जन्मास्तु। भवतु तव त्वन्मातापित्रो: कुलस्याभ्युदय:, तत: शान्ति: तुष्टिर्वृद्धि: ऋद्धि: कान्ति: सनातनी अर्हं ऊँ।।"

• उसके बाद वह गर्भिणी अपने आसन से उठकर सर्व जाति के आठ फल, स्वर्णादि की आठ मुद्राएँ जिन-प्रतिमा के समक्ष रखें। • फिर उस गुरु के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चरणों में नमस्कार कर वस्त्र की जोड़ी, सोने-चाँदी की आठ मुद्राएँ और पान सहित आठ सुपारी दें। • तत्पश्चात पौषधशाला में जाकर साधुजनों को वन्दना करें एवं यथाशक्ति उन्हें दान दें। • परिवार के वरिष्ठजनों को प्रणाम करें। फिर अपने कुलाचार के अनुसार कुल देवता आदि का पूजन करें।

दिगम्बर– दिगम्बर परम्परा के अनुसार जिस गर्भवती का प्रीति नामक दूसरा संस्कार सम्पन्न किया जा रहा हो, वह गर्भाधान संस्कार की भाँति जिनेन्द्रदेव की पूजा करे। उस दिन गृह चैत्य के दरवाजे पर तोरण बाँधे, दो पूर्ण कलश की स्थापना करे तथा उस दिन से लेकर निज वैभव के अनुसार प्रतिदिन नगाड़े आदि बजवाए।[14] आदिपुराण में इस संस्कार को सम्पन्न करने के लिए मंत्र का उल्लेख भी किया गया है, किन्तु वह मन्त्र किस समय बोला जाना चाहिए, इसका कोई निर्देश नहीं है।[15]

वैदिक– वैदिक परम्परा में इस संस्कार को निष्पन्न करने के लिए दो-तीन प्रकार की विधियाँ कही गई हैं। पारस्करगृह्यसूत्र के अनुसार गर्भधारण के बाद तीसरे या चौथे मास में या उसके भी बाद जब चन्द्र किसी पुरुष नक्षत्र अथवा पुष्य में संक्रमित होता था, उस समय यह संस्कार निष्पन्न किया जाता था।[16] एक मतानुसार इस संस्कार के दिन गर्भिणी को उपवास करना होता था। वह स्नान कर नए वस्त्र पहनती थी तथा रात्रि में वटवृक्ष की छाल को कूटकर और उसका रस निकालकर स्त्री की नाक के दाहिने रन्ध्र में छोड़ा जाता था।[17] कतिपय गृह्यसूत्रों के अनुसार विविध मन्त्रों के साथ कुशकण्टक और सोमलता नामक वनस्पति भी कूटी जाती थी।

इस संस्कार के बारे में एक निर्देश यह भी दिया गया है कि यदि पिता यह चाहता है कि उसका पुत्र वीर्यवान् तथा बलवान हो तो वह एक जलपात्र स्त्री की गोद में रख दें और उसके उदर का स्पर्श करते हुए 'सुपर्णोऽसि' आदि मन्त्र का उच्चारण करे।[19]

परवर्ती धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों में इस संस्कार की यही विधियाँ वर्णित है।

पुंसवन संस्कार सम्बन्धी विधि-विधानों के रहस्यात्मक प्रयोजन

श्वेताम्बर और वैदिक परम्परा में यह संस्कार पुत्र-प्राप्ति की कामना से किया जाता है, जबकि दिगम्बर परम्परा में इस संस्कार को पुत्रोत्पत्ति की कामना से न करके, गर्भ की पुष्टि एवं उत्तम सन्तान की प्राप्ति के निमित्त किया जाता है। इसके कुछ प्रयोजन निम्न हैं-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वटवृक्ष एवं गिलोय का रहस्य– वैदिक-धर्म में पुंसवन संस्कार सम्पन्न करते समय गर्भिणी की नाक में कुशकण्टक (गिलोय) सहित वट वृक्ष की छाल का रस डालने का जो विधान है, वह बड़ा अद्भुत है। इसके पीछे गर्भस्थ शिशु की महान कामनाएँ छिपी हुई हैं। यह सर्व विदित है कि वट वृक्ष विशालता, शक्तिवार्द्धक्यता एवं स्थिरता का प्रतीक है। गिलोय विकार विनाशक एवं बल वर्द्धक तत्वों से युक्त है। इस वनस्पति युक्त औषधि में स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों प्रकार के गुण रहते हैं।

स्थूल दृष्टि से देखें तो ये दोनों औषधियाँ गर्भिणी के लिए एवं गर्भस्थ शिशु के लिए शारीरिक आरोग्य बढ़ाने वाली हैं। गर्भावस्था में अपच, उल्टी, आलस्य, सिर दर्द, नींद कम आना, कमर में दर्द आदि की शिकायत रहती है। इनको दूर करने में ये औषधियाँ बड़ी उपयोगी मानी गईं हैं। इनका थोड़ा सा अंश अभिमंत्रित करके इसलिए पिला दिया जाता है कि माता एवं उसके उदरस्थ शिशु के शरीर में कोई हानिकारक रोग कीटाणु हो, तो वह नष्ट हो जाए, आत्मिक बल बढ़े तथा पोषण में सहायता मिले। इन्हें सुंघाया इसलिए जाता है कि उनके अन्दर जो प्रेरणा एवं भावना सन्निहित है, उसका प्रभाव गर्भिणी के एवं बालक के मस्तिष्क तक पहुँचे। यह प्राकृतिक देन है कि कोई भी वस्तु नाक के द्वार से ही मस्तिष्क में पहुँचती है। नाक में डालने का प्रयोजन यही है कि बरगद एवं गिलोय के गुण मस्तिष्क पर अपना प्रभाव पहुँचा सकने में सफल हों।

इसकी अन्य विशेषता यह है कि वट वृक्ष धीरे-धीरे बढ़ता है और दीर्घजीवी होता है। कार्य की व्यवस्था एवं परिपक्वता के लिए दृढ़ता, निष्ठा एवं धैर्य की आवश्यकता होती है, अतः शिशु निर्माण में धैर्य रखने की बड़ी उपयोगिता है। वट वृक्ष के रस द्वारा गर्भिणी के भीतर धैर्य आदि गुणों का प्रादुर्भाव होता है।

इसी प्रकार वटवृक्ष अपनी जड़ें जमीन में गहराई तक ले जाता है और अपने को हर दृष्टि से मजबूत और परिपुष्ट बनाता है। इसके सिवाय वट वृक्ष की अन्य भी अनेक विशिष्टताएँ हैं। वह स्वयं के विकास-विस्तार के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। वह अपने विस्तार का लाभ दूसरे अनेकों को देता है। कितने ही पक्षी उस पर घोंसले बनाकर रहते हैं, उसके फलों से अपना आहार प्राप्त करते हैं। कितने ही पशु उसकी छाया में विश्राम लेते हैं, कितने ही पथिक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उसकी घनीभूत छाया में सुस्ताते हैं। इन्हीं पारमार्थिक विशेषताओं के कारण उसे देव वृक्ष भी माना जाता है। गर्भस्थ शिशु उदारता, सहृदयता आदि गुण समूह से संयुक्त हो इसी लक्ष्य से वटवृक्ष की छाल का रस सुंघाया अथवा डाला जाता है।

गिलोय नामक वनस्पति की बेल भूमि पर ही नहीं फैलती, वरन किसी सुदृढ़ वृक्ष का सहारा लेकर ऊपर की ओर बढ़ती जाती है। इसके माध्यम से गर्भस्थ शिशु के लिए भी यही कामना की जाती है कि उसका जीवन भी उत्कर्षमय बने और आदर्शवादी पुरुषों का समागम प्राप्त कर ऊपर उठे, भले ही परिस्थितियाँ दुर्बल हों और शरीर, मन एवं अर्थ के साधन स्वल्प हों, तो भी सुयोग्य व्यक्तियों का सान्निध्य पाकर वह प्रगति का पथ प्रशस्त करे। गिलोय में रोगनिरोधक शक्ति सर्वाधिक होती है। वह बुखार जैसे दुष्ट रोगों के कीटाणुओं को भी अपने प्रभाव से दूर कर देती हैं, अतएव गर्भस्थ के भीतर रहे हुए कुविचारों एवं कुसंस्कारों को दूर करने के लिए एवं तद्योग्य बनाने के लिए इस औषधि का प्रयोग किया जाता है।

गिलोय में सौम्य, स्निग्ध एवं बलवर्द्धक गुण भी होते हैं। उसका रस चिकना होता है, उसी प्रकार गर्भस्थ बालक और उसकी माता का अन्तःकरण स्नेहसिक्त, सौम्य एवं मधुर हो-इस उद्देश्य से भी गिलोय का सेवन करवाया जाता है। इस तरह पुंसवन संस्कार के समय गर्भिणी को वट वृक्ष एवं गिलोय का रस पिलाया जाना विविध दृष्टियों से लाभकारी सिद्ध होता है।[20]

पुंसवन संस्कार का तुलनात्मक विश्लेषण

जब हम श्वेताम्बर, दिगम्बर एवं वैदिक परम्पराओं के आधार पर पुंसवन संस्कार विधि का तुलनात्मक विवेचन करते हैं तो निम्न संदर्भों में भेद-अभेद स्पष्ट होते हैं-

- श्वेताम्बर और वैदिक परम्परा में दूसरे संस्कार का नाम 'पुंसवन' रखा गया है, जबकि दिगम्बर परम्परा में 'प्रीति' नामक दूसरा संस्कार है।
- श्वेताम्बर एवं दिगम्बर आम्नाय में इस संस्कार का कर्ता जैन ब्राह्मण या क्षुल्लक माना गया है, किन्तु वैदिक धर्म में गर्भिणी के पति या देवर द्वारा यह संस्कार करवाए जाने का विधान है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

- श्वेताम्बर परम्परा में इस संस्कार को सम्पन्न करने के सम्बन्ध में शुभ नक्षत्र आदि की विस्तृत एवं प्रामाणिक चर्चा है। वैदिक परम्परा में भिन्न-भिन्न मत मतान्तरों के साथ शुभ नक्षत्र आदि का उल्लेख हुआ है दिगम्बर परम्परा में तत्सम्बन्धी कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है।
- श्वेताम्बर परम्परा में यह संस्कार गर्भधारण से आठ माह पूर्ण होने पर, दिगम्बर परम्परा में गर्भाधान से तीसरे माह में एवं वैदिक परम्परा में दूसरे महीने से लेकर आठवें महीने तक किए जाने का विधान है।
- श्वेताम्बर परम्परा में यह संस्कार-विधि गर्भिणी की शारीरिक शुद्धि एवं शारीरिक रक्षा और अरिहन्त परमात्मा की पूजा एवं साधुओं की भक्ति के साथ सम्पन्न की जाती है। दिगम्बर परम्परा में भी मुख्यतया जिनेन्द्रदेव की आराधना के साथ सम्पूर्ण की जाती है, जबकि वैदिक परम्परा में गर्भिणी के नाक में वट वृक्ष की छाल का रस डालने की क्रिया के साथ यह संस्कार पूर्ण किया जाता है।
- इस संस्कार को सफलतम एवं फलदायी बनाने के लिए तीनों परम्पराओं में कुछ मन्त्रों को बोले जाने का विधान है तथा वे मन्त्र तीनों परम्पराओं में भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं।
- पुंसवन संस्कार को सम्पादित करने के प्रयोजन तीनों परम्पराओं में पृथक्-पृथक् रहे हैं। श्वेताम्बर एवं वैदिक परम्परा पुत्र प्राप्ति की कामना से यह संस्कार विधि सम्पन्न करती है, जबकि दिगम्बर परम्परा में यह संस्कार उत्तम सन्तान की प्राप्ति हेतु किया जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तीनों परम्पराओं में यह संस्कार अपनी-अपनी प्रचलित एवं शास्त्रोक्त विधि के अनुरूप किया जाता है। प्राय: तीनों परम्पराओं में एक दूसरे के साथ कहीं समानता है, तो कहीं विषमता, कहीं एकरूपता है, तो कहीं विविधता, फिर भी हम यह कह सकते हैं कि सभी परम्पराओं में इस संस्कार विधि का अपनी-अपनी दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान है।

उपसंहार

स्त्री में गर्भाधान के चिह्न प्रकट होने पर दूसरे या तीसरे महीने से लेकर आठवें महीने तक परिष्कारात्मक या शुद्धिकरण सम्बन्धी वह संस्कार, जो पुत्रोत्पत्ति के उद्देश्य से किया जाता है पुंसवन कहलाता है। यदि हम प्रस्तुत संस्कार का समीक्षात्मक विवेचन करें, तो इस संस्कार विधि की उपादेयता का भलीभाँति ज्ञान हो सकता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस संस्कार द्वारा पुत्रैषणा की कामना पूरी होती है तथा विकसित हुए गर्भस्थ जीव को उत्तम संस्कार मिलते हैं। यह इसकी मुख्य उपादेयता है। यह अवधारणा इस संस्कार की आवश्यकता को भी पुष्ट करती है, क्योंकि पुंसवन संस्कार के समय गर्भिणी स्त्री जिनप्रतिमा दर्शन, गुरु दर्शन, स्वधर्मीभक्ति, सुपात्रदान आदि सुकृत करती है, जिनका प्रभाव गर्भस्थ शिशु पर अनन्य रूप से पड़ता है।

गृह्यसूत्रों के अनुसार यह संस्कार भ्रूण पुष्टि के लिए किया जाता है। सामान्य दृष्टि से बालक पर सुसंस्कारों की छाप डालने और माता-पिता एवं कुटुम्बियों को उत्तरदायित्त्व बताने के लिए यह विधान किया जाता है।

आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करें, तो यह संस्कार न केवल पुत्र प्राप्ति की कामना से किया जाता है, अपितु इस संस्कार द्वारा संसार को सही मार्ग दिखाने वाले, कर्तव्य एवं निष्ठा के पथ पर चलने वाले तथा समाज से बहुत कम लेकर बहुत अधिक देने वाले व्यक्तित्व की कामना की जाती है। यदि पुत्र की प्राप्ति के लिए ही पुंसवन संस्कार इष्ट हो, तो किसी लंगड़े, गूँगे, बहरे जातक से भी माता-पिता को सन्तुष्ट होना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं है।

वैदिक परम्परानुसार इस संस्कार के समय गर्भिणी के नाक के दाहिने छिद्र में मन्त्रोच्चारण के साथ वट, शुंग, कुश, दूर्वा आदि का रस डाला जाता है। इसका मूल कारण यह है कि नासिका के छिद्रों का शरीर अवयव संबंधी नसों के साथ गहरा सम्बन्ध है, जिनमें रक्त प्रवाहित होता है। दाहिने छिद्र से निकलती हुई वायु में उष्णता तथा बाए छिद्र वाली वायु में शैत्य की प्रधानता मानी गई है। उष्मा पुरुषत्व प्रधान है, अत: औषधियों के रस डालने का जो यहाँ विधान है, वह विज्ञान सम्मत है। गर्भस्थ बच्चे के जीवन में ऊष्माजन्य उत्साह भरा रहे-पुरुषत्व का बल बढ़ता रहे-इसी उद्देश्य से यह क्रिया की जाती है।

एक प्रश्न यह उठ सकता है कि यह संस्कार दूसरे माह से लेकर आठ मास तक के भीतर ही क्यों किया जाना चाहिए? शरीर शास्त्र का यह नियम है कि गर्भस्थ जीवन में दो-तीन माह तक स्त्री-पुरुष के रजोवीर्य के भ्रूणों में प्रतिस्पर्द्धा होती रहती है, उनमें जो प्रबल होता है, गर्भस्थ जीव में उसी भाव का उदय होता है। 'मनुस्मृति' में कहा गया है कि यदि जीव में पुरुष भ्रूण की प्रबलता हो तो पुरुष भाव और स्त्री भ्रूण की प्रबलता हो, तो स्त्री भाव का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आधान होता है, अतः पुरुष भ्रूण का पोषण करने हेतु यह अवधि निश्चित की गई है। इस प्रकार पुंसवन संस्कार विधि की उपादेयता अनेक दृष्टिकोणों से सुसिद्ध है।

सन्दर्भ-सूची

1. *संस्कारप्रकाश, भाग-1, पृ. 166*
2. *संस्कार अंक, पृ. 39*
3. *आचारदिनकर, भा. 1, पृ. 9*
4. *धर्मशास्त्र का इतिहास, भा. 1., पृ. 188*
5. *आचारदिनकर, पृ. 8*
6. *आदिपुराण, पर्व-38, पृ. 246*
7. *याज्ञवल्क्यस्मृति, श्रीरामशर्मा आचार्य, 1/2*
8. *शंखस्मृति, श्रीरामशर्मा आचार्य, 2/1*
8. *वीरमित्रोदयसंस्कार, भा. 1, पृ. 166*
9. *वही, भा. 1, पृ. 166*
10. *तृतीये मासे कर्त्तव्यं, गृष्टेरन्यत्र शोभनम्।*
    गृष्टेश्चतुर्थ मासे तु, षष्ठे मासेऽथवाऽष्ट मे।।
    वही, भा. 1 पृ. 168
11. *आचारदिनकर, पृ. 9*
12. *आधार-षोडशसंस्कारविवेचन, श्रीरामशर्मा आचार्य, पृ. 4/6*
13. *आदिपुराण, पृ. 9*
14. *वही, पर्व-38, पृ. 246*
15. *वही, पर्व-40, पृ 1. 303*
16. *पारस्करगृह्यसूत्र, पृ. 14/2*
17. *वही, पृ. 1/14/3*
18. *वही, पृ. 1/14/4*
19. *वही, पृ. 1/14/5*
20. *षोडशसंस्कारविवेचन, पृ. 4/4, 4/5*

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अध्याय - 4

जातकर्म संस्कार विधि का पारम्परिक स्वरूप

विश्व की विविध संस्कृतियों में बालक के जन्म को आनंद एवं उत्साह का अवसर माना जाता है। जन्म महोत्सव एक नए सदस्य के आगमन की सूचना जग जाहिर करने एवं उसे सम्मान पूर्वक स्वीकार करने का भी सूचक है। भारतीय परम्परा में इसे एक संस्कार का रूप प्रदान किया गया है। श्वेताम्बर परम्परानुसार तीसरा संस्कार 'जन्म' नाम का है।[1] दिगम्बर मत में तीसरा संस्कार 'सुप्रीति' नाम का है[2] तथा वैदिक धर्म में तीसरा संस्कार 'सीमन्तोन्नयन' नाम का माना गया है।[3] ये तीनों ही संस्कार भिन्न-भिन्न अर्थ को लिए हुए हैं। यदि हम तीनों परम्पराओं के आधार पर इस संस्कार का तुलनात्मक विवरण प्रस्तुत करना चाहें तो दिगम्बर-परम्परा का छठवां 'प्रियोद्भव' संस्कार एवं वैदिक-परम्परा का चौथा 'जातकर्म' संस्कार श्वेताम्बर मान्य जन्म-संस्कार के समकक्ष प्रतीत होते हैं। जन्म, प्रियोद्भव एवं जातकर्म-ये तीनों ही शब्द एकार्थवाची हैं तथा जन्म सम्बन्धी क्रियाकलापों से सम्बन्ध रखने वाले हैं। यहाँ एकार्थवाची शब्दों की दृष्टि से इस संस्कार का स्वरूप प्रतिपादित किया जा रहा है।

जातकर्म संस्कार का अर्थ

जातकर्म संस्कार से तात्पर्य गर्भस्थ शिशु के जन्म समय के अवसर पर किए जाने वाले विधि-विधान से है। यह संस्कार बालक के जन्म होने के साथ सम्पन्न किया जाता है। यहाँ 'जातकर्म' नाम से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिसका जन्म हुआ हो, उससे सम्बन्धित किए जाने वाले क्रिया कलाप अतः जो विधि-विधान स्त्री के प्रसव होने पर किए जाते हैं, वे जातकर्म संस्कार कहे जाते हैं।

जातकर्म संस्कार की आवश्यकता

यदि हम इस संस्कार की आवश्यकता के विषय में गहराई से चिन्तन करें और इतिहास के पृष्ठों पर नजर रखें तो कुछ तथ्य अवश्य उजागर होते हैं। संभवतः किसी काल में आदिम मानव के लिए शिशु का जन्म होना एक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रभावकारी घटना थी। उस युग के मानव ने कुछ संकटग्रस्त परिस्थितियाँ महसूस की होंगी, एतदर्थ शिशु की सुरक्षा निमित्त अनेक प्रकार के विधि-विधान अस्तित्व में आए होंगे। गर्भवती स्त्री और नवजात शिशु को विपदाग्रस्त स्थितियों से बचाना एक आवश्यक कर्तव्य था, साथ ही प्रसवजन्य अशुचि को धार्मिक दृष्टि से दूर करना भी अनिवार्य था। उस स्थिति में किन्हीं आसुरी शक्तियों का प्रभाव गर्भवती के लिए संहारक न बन जाए, इसी तरह के अन्य भी कई कारण रहे होंगे, जिनके निवारणार्थ जातकर्म से सम्बद्ध कुछ विधि-विधानों का किया जाना आवश्यक प्रतीत हुआ। तब से लेकर आज तक जन्म सम्बन्धी संस्कार के क्रिया कलाप न्यूनाधिक रूप से प्रवर्त्तित होते रहे हैं।

मूलतः इस संस्कार का प्रयोजन माता और पुत्र की सुरक्षा करना था। किसी प्रकार की अमंगल घटना से प्रसूता एवं प्रसूत को मुक्त करवाना था, दुष्ट शक्तियों को निरस्त करना था। इतना ही नहीं, माता एवं पुत्र को सुसंस्कारित करने के साथ-साथ उस अवसर को उत्सवमय बनाना भी था। इन्हीं कुछ कारणों के चलते इस संस्कार को सम्पन्न करने की आवश्यकता महसूस की गई। समन्वयात्मक-दृष्टिकोण से कहें तो इस संस्कार से गर्भस्रावजन्य सारे दोष नष्ट हो जाते हैं।

जातकर्म संस्कार करने योग्य अधिकारी

श्वेताम्बर परम्परामान्य आचारदिनकर में इस संस्कार को करने का अधिकारी जैन ब्राह्मण या क्षुल्लक को बतलाया गया है, किन्तु वर्तमान में ये क्रियाएँ हिन्दू ब्राह्मण ही करवाते हैं।[4] दिगम्बर परम्परा में गर्भाधान आदि संस्कारों को सम्पन्न कराने वाला द्विज ही इस संस्कार को करने के योग्य माना गया है।[5] वैदिक परम्परा में भी ब्राह्मण एवं शिशु का पिता इस संस्कार को करने के योग्य कहे गए हैं।

जातकर्म संस्कार के लिए मुहूर्त्त-विचार

जैन एवं वैदिक दोनों परम्पराओं में जन्म-संस्कार के लिए किसी भी शुभ दिन आदि का उल्लेख नहीं किया गया है। चूंकि वह जीव कर्म एवं काल के अधीन होता है अतः शुभ दिन आदि का तालमेल इस संस्कार के साथ करना असंभव है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हाँ, इतना उल्लेख अवश्य मिलता है कि यदि अशुभ नक्षत्रों– आश्लेषा, ज्येष्ठा, मूल, गंडांत या भद्रा तिथि आदि में बालक का जन्म हुआ हो तो दुष्प्रभावों को दूर करने के लिए शांतिक एवं पौष्टि कर्म अवश्य करना चाहिए, अन्यथा नवजात शिशु या उसके माता-पिता को दुःख, दारिद्र्य, शोक, मरण आदि कष्ट होते हैं।[6] दिगम्बर परम्परा में भी आदि में अशुभ नक्षत्र आदि में उत्पन्न दोषों को दूर करने के लिए शान्तिकर्म करने का निर्देश किया गया है।[7] इसी प्रकार का उल्लेख वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है।[8]

इससे यह फलित होता है कि शिशु का जन्म उत्तम नक्षत्र आदि के योग में होना चाहिए, ताकि वह कुल एवं वंश-परम्परा की वृद्धि करने वाला हो।

जन्म संस्कार का काल विचार

श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्परा में यह संस्कार गर्भ काल का समय पूर्ण होने पर अथवा गर्भ का प्रसव(जन्म) होने पर किया जाता है।[9] वैदिक परम्परा में इस सम्बन्ध में दो प्रकार की मान्यताएँ प्राप्त होती हैं। एक मान्यतानुसार यह संस्कार-कर्म नाभि बन्धन के पूर्व सम्पन्न किया जाना चाहिए।[10] दूसरी परम्परा के अनुसार यह संस्कार जन्मगत अशुचि को दूर करने के बाद किया जाना चाहिए। निष्कर्षतः तीनों परम्पराओं में यह संस्कार प्रसव होने के बाद ही किया जाता है।

भारतीय साहित्य में वर्णित जन्म संस्कार विधि

श्वेताम्बर– आचार्य वर्धमानसूरि ने जन्म संस्कार की यह विधि निर्दिष्ट की है-

• सर्वप्रथम गर्भकाल की अपेक्षित समयावधि पूर्ण होने पर गृहस्थ गुरु ज्योतिषी सहित एकान्त एवं शोरगुल रहित स्थान पर आएं, जो सूतिकागृह से अत्यन्त समीप हो। वहाँ घड़ी भर पंचपरमेष्ठी का जाप करें। • तदनन्तर बालक का जन्म होने पर गृहस्थ गुरु ज्योतिषी को जन्म समय की पूर्ण जानकारी लेने के लिए निर्देश करे। वह ज्योतिषी भी जन्म के सही समय का निर्धारण करे। • उसके बाद नवजात बालक के पिता, दादा, चाचा आदि जब तक नाल अखण्ड रहे, तब तक की अवधि में गृहस्थ गुरु एवं ज्योतिषी को वस्त्र, आभूषण एवं द्रव्य आदि प्रदान कर उनका सम्मान करें। नाल छिन्न होने पर सूतक प्रारम्भ हो जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

• फिर गृहस्थ गुरु बालक, पिता, दादा आदि को मंत्र पूर्वक आशीर्वाद दें। • फिर ज्योतिषी भी उन सभी को शुभाशीष प्रदान करे। फिर ज्योतिषी जन्मलग्न बताकर अपने घर चला जाए। • उसके बाद गृहस्थ गुरु प्रसूति का सूतिकर्म करने के लिए कुल की वृद्धाओं और दाईयों को आदेश दें। • तत्पश्चात नवजात शिशु को पवित्र करने की दृष्टि से जलाभिमंत्रण द्वारा सात बार जल को संस्कारित करें। अभिमन्त्रित जल के द्वारा कुल वृद्धाएँ बालक को स्नान कराएं और अपने-अपने कुलाचार के अनुसार नाल छेद करें।

• फिर गृहस्थ गुरु चन्दन, रक्तचन्दन, विल्व (बेल) नामक वृक्ष की लकड़ी आदि जलाकर भस्म बनाएं। उस भस्म में श्वेत सरसों और नमक को मिश्रित एक पोटली बनाए। उस पोटली को निर्दिष्ट रक्षा मन्त्र द्वारा सात बार अभिमन्त्रित करें। उसके बाद रक्षापोटली को काले धागे से बांधे। फिर लोहा, वरूणमूल एवं रक्त-चंदन का टुकड़ा और कौड़ी सहित वह रक्षापोटली कुल वृद्धाओं के द्वारा बालक के हाथ में बंधवाए।[11] श्वेताम्बर परम्परानुसार जन्म संस्कार की यह विधि जाननी चाहिए।

दिगम्बर– दिगम्बर परम्परा में जन्म संस्कार सम्बन्धी प्रियोद्भव नाम की क्रिया अरिहंत परमात्मा के स्मरण एवं विविध प्रकार के विधि-विधान पूर्वक की जाती है। आदिपुराण में यह निर्देश दिया गया है कि इस क्रिया में क्रिया मन्त्र आदि अवान्तर कितने ही विशेष कार्य कठिनतर हैं, इसलिए तत्सम्बन्धी मूलभूत जानकारी प्राप्त करने हेतु 'उपासकाध्ययन' का अवलोकन करना चाहिए।

सुप्रीति-संस्कार– दिगम्बर मतानुसार सुप्रीति नामक तीसरा संस्कार गर्भाधान से पाँचवें माह में, मन्त्रविद् एवं क्रियाविद् उत्तम श्रावकों द्वारा निष्पन्न किया जाता है। आदिपुराण के अनुसार इस संस्कार की समस्त विधि गर्भाधान की तरह ही अग्नि तथा देवता के साक्षी पूर्वक और अरिहन्त प्रतिमा की पूजा पूर्वक सम्पन्न करनी चाहिए।[12]

वैदिक– वैदिक परम्परा में जातकर्म संस्कार के संदर्भ में पृथक-पृथक विधियाँ प्राप्त होती हैं। जैसे-पूर्वकाल में पुत्र का जन्म होने पर यह माना जाता था कि पिता पितृ ऋण से मुक्त हो जाता है[13] एतदर्थ पुत्र का जन्म होने पर वह पुत्र का मुख देखने के लिए पत्नी के निकट जाता था। फिर पुत्र का मुख देखकर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वह सवस्त्र स्नान कर वयोवृद्धों को आमन्त्रित करता तथा नान्दीश्राद्ध और जातकर्म संस्कार सम्पन्न करता था।[14] श्राद्ध एक अशुभ कृत्य है, किन्तु हारीत लिखते हैं कि 'शिशु के जन्म के अवसर पर पितरों की प्रसन्नता से पुण्य बढ़ता है, अतः ब्राह्मणों को आमन्त्रित कर तिल और स्वर्ण पूर्ण पात्रों से उनका श्राद्ध करना चाहिए।[15] इस प्रकार पुत्र जन्म के अवसर पर प्रारम्भिक रूप में संस्कार की उक्त विधि की जाती थी।

परवर्तीकाल में नाल छेदन से पूर्व बालक को स्वर्ण शलाका से अथवा अनामिका अंगुली से असमान मात्रा में मधु और घृत चटाया जाता है। अन्य मतानुसार दही, भात, जौ तथा बैल के श्वेत-कृष्ण और लाल बाल भी दिए जाते हैं। साथ ही अमुक मन्त्र का उच्चारण किया जाता है-'मैं तुझमें भूः निहित करता हूँ।' यह जातकर्म का प्रथम कृत्य है। यहाँ जो पदार्थ शिशु को खिलाए जाते हैं, वे उसके मानसिक विकास में सहयोग करते हैं तथा पाचन शक्ति, स्मृति, बुद्धि, ध्वनि, वीर्य और आयुवर्द्धक हैं।[16] इसमें स्वर्ण त्रिदोषनाशक है। घृत आयुवर्द्धक और वातपित्तनाशक है तथा मधु कफनाशक है। इन तीनों का सम्मिश्रण आयु, लावण्य और मेधा शक्ति को बढ़ाने वाला और पवित्रता कारक होता है। गोभिलगृह्यसूत्र के अनुसार शिशु के कान में 'तू वेद है'-इस वाक्य का उच्चारण करते हुए शिशु का एक गुह्य नाम रखा जाता है, जिसे केवल माता-पिता ही जानते हैं। इस नाम को प्रकट नहीं किया जाता है क्योंकि यह आशंका रहती है कि[17] उस नाम पर कोई शत्रु अभिचार (जादू-टोना) का प्रयोग कर नवजात पुत्र को क्षति न पहुँचा दे।

जातकर्म का दूसरा कृत्य आयुष्य से सम्बन्धित है। यह कृत्य करते हुए शिशु का पिता उसकी नाभि अथवा दाहिने कान के निकट गुनगुनाता हुआ कहता है-'अग्नि दीर्घजीवी है, मैं इस दीर्घ आयु से तुझे दीर्घायु करता हूँ', आदि।[18] इस प्रकार के शब्दोच्चारण द्वारा यह विश्वास किया जाता है कि शिशु दीर्घायुष्य को प्राप्त करेगा। दीर्घायुष्य के लिए अन्य कृत्य भी किए जाते हैं।

जातकर्म के तीसरे कृत्य के रूप में पिता शिशु के दृढ़, वीरता पूर्ण और शुद्ध जीवन के लिए प्रार्थना करता है। कुल-माताओं की स्तुति भी की जाती है।[19] संस्कार की समाप्ति पर ब्राह्मणों को दक्षिणा रूप में दान दिया जाता है। व्यास के अनुसार पुत्र जन्म की रात्रि में दिए हुए दान से अक्षय पुण्य होता है।[20]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूर्व काल में पुत्रोत्पत्ति के बाद बारह विभिन्न पात्रों में पकायी रोटी को बलि के रूप में बाँटकर वैश्वानर को समर्पित किया जाता था। इस कृत्य का फल बताते हुए शास्त्रों में कहा गया है कि यह कर्म करने से जातक पवित्र, गौरवशाली एवं धन-धान्य से पूर्ण होता है। इन क्रियाकलापों पर गहराई से ध्यान दिया जाए तो कुछ विचारणीय तथ्य सामने आते हैं जैसे कि वह बलि वैश्वानर को बारह पात्रों में ही क्यों अर्पित की जाती है? उस बलि में अन्य पक्वान्न भी दिए जा सकते हैं? बलि के रूप में रोटी को ही स्वीकार क्यों किया जाता है? तात्पर्य यह है कि बारह बर्तन बारह मास के द्योतक हैं तथा बलि के रूप में दी जाने वाली रोटियाँ खाद्यान्न का प्रतिनिधित्व करती हैं।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि आदमी जब पैदा होता है तो सर्वप्रथम उसे हवा की आवश्यकता होती है, फिर पानी की और फिर रोटी की आवश्यकता होती है, अत: बलि के रूप में रोटी चढ़ाना विज्ञान सम्मत है।

एक अन्य कारण यह भी है कि रोटी ही एक ऐसी वस्तु है, जिसका सेवन राजा से रंक तक सभी कोई करते हैं अत: यह माना जा सकता है कि रोटी को बलि के रूप में दिया जाना अपने-आप में एक बहुत ही उदात्त-भावना तथा संयम की धारणा का संसूचक है। वैदिक-साहित्य में वैश्वानर को धन-धान्य, गौरव तथा पशु के देवता के रूप में स्वीकारा गया है अत: वैश्वानर को रोटी की बलि चढ़ाई जाती है।[21]

इस प्रकार ज्ञात होता है कि वैदिक परम्परा में जातकर्म सम्बन्धी विधि-विधान के अनेक रूप हैं और वे अपनी मान्यतानुसार सही और सार्थक प्रतीत होते हैं।

सीमन्तोन्नयन संस्कार– वैदिक परम्परा में मान्य यह तीसरा संस्कार गर्भाधान के बाद चौथे, छठवें तथा आठवें मास में सम्पन्न किया जाता है। आश्वलायनगृह्यसूत्र में इसे चौथे मास में करने का उल्लेख है-'चतुर्थे गर्भमासे सीमन्तोन्नयनम्।' सामान्यत: गर्भ के चौथे मास के बाद बालक के अंग-प्रत्यंग निर्मित हो जाते हैं। हृदय, मस्तिष्क आदि बन जाने के कारण गर्भ में चेतना आ जाती है, इसलिए उसमें इच्छाओं का उदय होने लगता है। वे इच्छाएँ माता की चेतना में प्रतिबिम्बित होकर प्रकट होती हैं, जो 'दोहद' कहलाती हैं। गर्भ में जब मन और बुद्धि में नूतन चेतना शक्ति का उदय होने लगता है, उस समय जो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संस्कार डाले जाते हैं, उनका बालक पर गहरा प्रभाव पड़ता है। इस समय गर्भ शिक्षण योग्य होता है। अभिमन्यु को चक्रव्यूह-प्रवेश का उपदेश इसी समय मिला था।

यह संस्कार गर्भिणी स्त्री के मन को सन्तुष्ट करने तथा उसके शरीर के आरोग्य और गर्भ की स्थिरता के निमित्त किया जाता है।

इस संस्कार में पति गर्भस्थ शिशु के स्वास्थ्य की कामना करते हुए गुलर आदि वनस्पति द्वारा पत्नी के सीमन्त(मांग) और बालों को संवारता है। सौभाग्यवती, वृद्धा एवं कुलीन स्त्रियाँ गर्भिणी को आशीर्वाद देती हैं। इस अवसर पर खिचड़ी खाने का रिवाज है।

ध्यातव्य है कि पूर्व काल में यह संस्कार जातकर्म सम्बन्धी वेद मन्त्रों के उच्चारण के साथ सम्पन्न होता था। आजकल प्रसव जन्य क्रियाएँ अस्पतालों या प्रसूति गृहों मे होने लगा हैं अत: इसकी उपयोगिता न्यून हो गई है।

विविध परम्पराओं में प्रचलित जन्म संस्कार का तुलनात्मक विवेचन

जब हम जन्म-संस्कार से सम्बन्धित विधि का तुलनात्मक विवेचन करते हैं, तो तीनों परम्पराओं में कहीं भिन्नता के, तो कहीं समरूपता के दर्शन होते हैं जो इस प्रकार हैं–

- श्वेताम्बर, दिगम्बर एवं वैदिक-तीनों परम्पराओं में जन्म संस्कार को माना गया है, किन्तु क्रम की दृष्टि से अन्तर है। श्वेताम्बर में जन्म संस्कार का तीसरा स्थान है, जबकि दिगम्बर में छठवां और वैदिक धर्म में चौथा स्थान है।
- श्वेताम्बर आदि परम्पराओं में जन्म संस्कार सम्बन्धी नामों को लेकर भी अन्तर है। श्वेताम्बर परम्परा में यह 'जन्म संस्कार' के नाम से प्रचलित है। दिगम्बर परम्परा में 'प्रियोद्भव संस्कार' के नाम से प्रसिद्ध है तथा वैदिक मत में 'जातकर्म' के नाम से जाना जाता है। ये तीनों संस्कार शाब्दिक दृष्टि से भिन्न होने पर भी अर्थ की दृष्टि से समान हैं।
- श्वेताम्बर परम्परा में इस संस्कार को करवाने का अधिकार जैन ब्राह्मण या क्षुल्लक को दिया गया है, दिगम्बर परम्परा में इसका अधिकारी द्विज को कहा गया है, जबकि वैदिक-मत में ब्राह्मण के साथ-साथ शिशु का पिता ही इस संस्कार के योग्य माना गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

• श्वेताम्बर, दिगम्बर एवं वैदिक इन तीनों परम्पराओं में लगभग पुत्र जन्म के अवसर पर या तुरन्त बाद यह संस्कार सम्पन्न किया जाता है।

• श्वेताम्बर-परम्परा में इस संस्कार विधि के अन्तर्गत नवजात शिशु को अभिमन्त्रित जल द्वारा स्नान करवाना, कुल-वृद्धाओं के द्वारा रक्षा पोटली बंधवाना, ज्योतिष द्वारा लग्न निलवाना तथा गुरु एवं ज्योतिषी को यथायोग्य दान देना इत्यादि कृत्य प्रमुख रूप से किए जाते हैं, अर्हत् पूजन या गुरु दर्शन आदि क्रियाएँ नहींवत की जाती हैं, जबकि दिगम्बर परम्परा में यह संस्कार अरिहंत परमात्मा के स्मरण पूर्वक, हवन, आशीर्वाद आदि विविध विधि-विधानों के साथ सम्पन्न किया जाता है। वैदिक-परम्परा में यह संस्कार विधि अनेक रूपों में की जाती है और उन विधियों का उद्देश्य बालक का दैहिक, मानसिक और बौद्धिक-विकास होना ही स्वीकारा गया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि तीनों परम्पराओं में यह संस्कार शिशु की सुरक्षा और प्रसवजन्य अशुचि को दूर करने के निमित्त ही किया जाता है, तथापि वैदिक-परम्परा में नवजात शिशु के तन-मन को पुष्ट करने एवं दुष्ट शक्तियों से उसका संरक्षण करने के प्रयोजन से भी किया जाता है।

• इस संस्कार को सम्पन्न करते समय जो वस्तुएँ आवश्यक मानी गईं हैं, उनका उल्लेख श्वेताम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में ही देखने को मिलता है, अन्य दोनों परम्पराओं में तत्सम्बन्धी कोई चर्चा दृष्टिगत नहीं होती है। इससे ज्ञात होता है कि श्वेताम्बर-परम्परा में यह संस्कार बहु प्रचलित रहा होगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यह संस्कार-विधि सभी परम्पराओं में अपनी-अपनी परिपाटी के अनुसार की जाती है तथा इस जातकर्म संस्कार द्वारा पुत्र संरक्षण एवं अशुचि-निवारण की महत्त्वपूर्ण क्रियाएँ सम्पन्न होती हैं।

उपसंहार

भारतीय-संस्कृति में जन्म संस्कार का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह संस्कार शिशु के जन्म के बाद नाल काटने से पहले होता है। सामान्यतया यह देखा जाता है कि यदि पुत्र का जन्म हो, तो पूरे परिवार में असीम आनन्द का वातावरण छा जाता है। अधिकांश परम्पराओं में तो छत के ऊपर थाली बजाकर पूरे गाँव में पुत्र जन्म की सूचना दी जाती है। अड़ोस-पड़ोस के लोग आकर बधाई देते हैं, यह एक सामान्य लोकाचार है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यदि हम जन्म संस्कार विधि का समीक्षात्मक विवेचन करते हैं, तो कई सार गर्भित विषय स्पष्ट होते हैं। आचारदिनकर में जन्म संस्कार सम्बन्धी जो-जो क्रियाकलाप वर्णित हैं, वे शरीर शुद्धि के साथ-साथ मन एवं आत्मा की शुद्धि पर भी जोर देते हैं। द्रव्य शुद्धि, भाव शुद्धि का प्रबल आधार है। जन्म के अवसर पर अभिमन्त्रित जल द्वारा स्नान कराना, रक्षापोटली बंधवाना, कुल वृद्धाओं द्वारा प्रसूति कर्म को सम्पन्न करवाना आदि कृत्य विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इस तरह की प्रक्रिया के द्वारा नवजात शिशु में बुद्धि, मन और शरीर आदि की अपेक्षा जो परिवर्तन होते हैं, वे अनुभूति के ही विषय हैं।

दिगम्बर परम्परा में जन्म संस्कार विधि का जो स्वरूप बताया गया है, वह नवजात शिशु के लिए शारीरिक एवं धार्मिक दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। वैदिक परम्परा में इस संस्कार-कर्म का सम्बन्ध नवजात शिशु की शारीरिक सुरक्षा एवं मानसिक विकास से जुड़ा हुआ है।

संक्षेप में कहें तो, तीनों परम्पराओं में यह संस्कार अभिनव बालक के सुयोग्य विकास के लिए किया जाता है। इस संस्कार का महत्व भौतिक और आध्यात्मिक-दोनों दृष्टियों से है।

सन्दर्भ-सूची

1. *आचारदिनकर, पृ. 10*
2. *आदिपुराण. पर्व-38, पृ. 246*
3. *हिन्दूसंस्कार, पृ. 78*
4. *आचारदिनकर, पृ. 5*
5. *आदिपुराण, पर्व.-38, पृ. 245*
6. *वही, पृ. 11*
7. *जैनसंस्कारविधि, पृ. 10*
8. *धर्मशास्त्र का इतिहास, भा.-1. पृ. 195*
9. *आचारदिनकर, पृ. 10*
10. *हिन्दूसंस्कार,पृ. 93*
11. *आचारदिनकर, पृ. 10*
12. *आदिपुराण, पर्व-38, पृ. 146*
13. *हिन्दूसंस्कार, पृ. 93*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

14. वीरमित्रोदयसंस्कार, भा.-1, पृ. 182
15. वही, भा.-1, पृ. 182
16. हिन्दूसंस्कार, पृ. 95
17. वही, पृ. 95
18. पारस्करगृह्यसूत्र, 1/16/6
19. वही, 1/16/14-15
20. हिन्दूसंस्कार, पृ. 98
21. षोडशसंस्कार, डॉ. बोधकुमार झा, पृ. 9-10

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अध्याय - 5

सूर्य-चन्द्र दर्शन संस्कार विधि का प्राचीन स्वरूप

सूर्य और चन्द्र-लौकिक जगत के दो मुख्य घटक हैं। इन्हीं के आधार पर भौतिक जगत के अधिकांश व्यवहार चलते हैं। चाहे आध्यात्मिक जगत हो या भौतिक जगत सभी में इनका विशिष्ट स्थान है। मानव के षोडश संस्कारों में भी इन्हें विशेष महत्त्व दिया गया है। श्वेताम्बर परम्परा में चौथा संस्कार सूर्य-चन्द्र दर्शन नाम का है। दिगम्बर परम्परा में चतुर्थ संस्कार धृति या सीमन्तोन्नयन नाम से प्रसिद्ध है तथा वैदिक परम्परा में जातकर्म नामक संस्कार को चौथा स्थान प्राप्त है। यदि हम अर्थ एवं साम्यता की दृष्टि से विचार करें तो दिगम्बर परम्परा का आठवाँ बहिर्यान नामक संस्कार और वैदिक परम्परा का सातवाँ निष्क्रमण नामक संस्कार श्वेताम्बर परम्परा में मान्य सूर्येन्दु दर्शन नामक संस्कार से मिलते-जुलते हैं। ये तीनों संस्कार प्रायः अर्थ की दृष्टि से समतुल्य हैं। हम अर्थ को केन्द्र में रखते हुए सूर्येन्दु दर्शन संस्कार का विवेचन करेंगे।

सूर्य-चन्द्र दर्शन संस्कार के विभिन्न पर्याय

इसका सीधा सा अर्थ है-सूर्य और चन्द्र के दर्शन करवाना। बहिर्यान-संस्कार का अर्थ है-बाहर की दुनिया से अवगत कराना। निष्क्रमण संस्कार का अर्थ है-बहिर्गमन अर्थात बच्चे को घर से बाहर ले जाना। यहाँ सूर्येन्दुर्शन, बहिर्यान एवं निष्क्रमण-तीनों के अर्थ में साम्यता है, यह प्रस्तुत प्रसंग से सुस्पष्ट है।

सूर्य-चन्द्र दर्शन संस्कार की मौलिक आवश्यकता

बालक को सूर्य-चन्द्र का दर्शन क्यों करवाया जाता है? इस विषय पर यदि गहराई से मनन और शास्त्र ग्रन्थों का मंथन करें तो बहुत से निगूढ़तम तथ्य सामने आते हैं। इस दुनिया में सूर्य एवं चन्द्र शक्तिशाली और प्रभावशाली तत्त्व माने जाते हैं। यह संसार इन दो तत्त्वों के आधार पर ही टिका हुआ है। दिन-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रात, वर्ष-महीना, भूत-भविष्य, सुबह-शाम, प्रकाश-अंधकार आदि प्रमुख क्रियाएँ इनके आधार पर ही की जाती हैं। इनके अभाव में समय, घंटा, काल, उम्र, अवधि आदि की परिकल्पना संभव नहीं है। ज्योतिषशास्त्र में भी इनका प्रमुख स्थान है, अतः इस धरती पर आए नवजात शिशु को शक्तिशाली तत्त्वों से सर्वप्रथम परिचित करवाना ही इस संस्कार का प्रमुख उद्देश्य रहा है। यूँ तो दुनिया के कई शक्तिशाली तत्त्व कहे गए हैं, किन्तु सूर्य एवं चन्द्र सृष्टि के अभिन्न अंग के रूप में हैं। इन दोनों तत्त्वों की कितनी आवश्यकता है, यह भी सर्व विदित है।

सामान्यतया प्रस्तुत संस्कार सम्पन्न करने के अनेकों प्रयोजन और उद्देश्य हैं। सर्वप्रथम शिशु को बाहरी संसार से अवगत करवाने के लिए सूर्य एवं चन्द्र का दर्शन कराया जाता है। अन्य हेतु यह है कि बच्चे का जीवन *'तमसो मा ज्योतिर्गमय'* के आदर्श से मण्डित हो। बालक में सूर्य जैसी तेजस्विता एवं अनवरत गतिमत्ता की शक्ति का शुभागमन हो तथा चन्द्र जैसी शीतलता, सौम्यता एवं मधुरता का भाव प्रकट हो इन शुभ भावों से भी यह विधान किया जाता है।

यह बात अनुभवसिद्ध है कि बालक के शारीरिक उत्थान में सूर्य और चन्द्र अनिवार्य अंग हैं। हम देखते हैं कि सूर्य-प्रकाश के अभाव में पौधे का स्वाभाविक रूप से बढ़ना, उसमें पत्ते, फूल एवं फल का लगना असंभव है। सूर्य की ऊर्जा किसी भी सजीव पदार्थ के लिए बहुत ही आवश्यक होती है, यहाँ तक कि वह प्राण के स्रोत के रूप में काम करती है। बच्चा भी एक पौधे के समान ही होता है, जिसे अनेक प्रकार के विटामिन, ऊर्जा तथा प्राकृतिक तत्त्वों की परमावश्यकता होती है। इन सभी की अजस्र धाराएँ सूर्य से प्रसृत होती हैं अतः वैज्ञानिक-दृष्टि से भी बच्चे को घर से बाहर निकालते ही सूर्य के सम्पर्क में लाना अत्यन्त लाभदायी प्रक्रिया है।

निष्क्रमण एवं सूर्य-चन्द्र दर्शन संस्कार का उद्भव एवं विकास

प्रश्न उठता है कि इस संस्कार का उद्भव किस स्थिति में और क्यों हुआ? वैदिक ग्रन्थों में यह वर्णन मिलता है कि जब प्रसूतिगृह में रहने की अवधि समाप्त हो जाती थी, उस समय माता पुनः पारिवारिक जीवन में भाग लेना प्रारम्भ कर देती थी। इसके साथ शिशु का संसार भी कुछ विस्तृत हो जाता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

था तथा उसे घर के किसी भी कोने में ले जाया जा सकता था। जब वह एक-दो महीने का हो जाता, तब उसके विभिन्न अंगों की गतिशीलता के लिए गृहांगन तक चलना-फिरना ही पर्याप्त न था? अपेक्षाकृत अधिक व्यापक क्षेत्र की आवश्यकता महसूस होने लगी और यह उपयुक्त समझा जाने लगा कि शिशु को बाहरी संसार से परिचित कराया जाए, किन्तु एकाएक बाहरी संकटों का उपद्रव न हो जाए, उसके लिए इष्ट देवताओं का पूजन करना, उनकी प्रार्थनाएँ करना तथा उनकी सहायता प्राप्त करना भी आवश्यक प्रतीत होने लगा। एतदर्थ देवताओं के अर्चन पूर्वक इस संस्कार का उद्‌भव हुआ और परवर्तीकाल तक आते-आते इसमें काफी कुछ परिवर्तन भी हुए। सार रूप में कहें तो इस संस्कार का उद्‌भव शिशु को बाहरी दुनिया से परिचित कराने एवं शिशु की गतिविधियों का विस्तार करने के दृष्टिकोण को लेकर हुआ है।

दूसरा तथ्य यह भी माना जा सकता है कि शिशु-जीवन का प्रत्येक चरण महत्त्वपूर्ण होता है। वह समय एवं वातावरण के अनुरूप अच्छे-बुरे कई प्रकार के परिवर्तन उपस्थित करता है तथा माता-पिता और परिवार के लिए हर्ष का अवसर प्रदान करता है। इन्हीं की अभिव्यक्ति के लिए इस संस्कार का उद्‌भव हुआ-ऐसा कहना भी अनुचित नहीं है।

सूर्य-चन्द्र दर्शन संस्कार करने का अधिकारी

श्वेताम्बर परम्परा में इस संस्कार को सम्पन्न करवाने का अधिकारी जैन-ब्राह्मण या क्षुल्लक को माना गया है।[2] दिगम्बर-परम्परा में वह द्विज इस संस्कार का अधिकारी कहा गया है जो सफेद वस्त्र पहने हुए हो, पवित्र हो और यज्ञोपवीत धारण किए हुए हो।[3]

वैदिक परम्परा में इस संस्कार को सम्पन्न करवाने के सम्बन्ध में कईं मत-मतान्तर हैं। गृह्यसूत्रों के अनुसार इस संस्कार के अधिकारी माता-पिता माने गए हैं।[4] मुहूर्त्तसंग्रह के मतानुसार इस संस्कार को सम्पन्न करने के लिए मामा को बुलाया जाता था।[5] इसका कारण अपनी बहन के शिशु के लिए उसके हृदय के स्नेहपूर्ण भाव ही प्रतीत होते हैं। जब संस्कारों को गृह्ययज्ञ माना जाता था, उस समय केवल पिता ही इस संस्कार का संस्कर्ता था, किन्तु जब देश-कालगत स्थितियों में परिवर्तन आया, तब इसका अधिकार पति-मामा-पिता तक ही सीमित

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं रहा, अपितु इतर व्यक्तियों को भी वह स्थान प्राप्त हो गया। संस्कारप्रकाश में कहा गया है कि पति की अनुपस्थिति में गर्भाधान को छोड़कर सभी संस्कार किसी सम्बन्धी द्वारा किए जा सकते हैं।[6] इस वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक-परम्परा में इस संस्कार का मूल कर्ता पति को माना गया है।

सूर्य-चन्द्र दर्शन संस्कार के लिए मुहूर्त्त विचार

श्वेताम्बर, दिगम्बर एवं वैदिक-तीनों परम्पराओं के अनुसार यह संस्कार किस शुभ दिन में करना चाहिए, इस सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं मिलता है, केवल समय की अवधि का निर्देश किया गया है।

सूर्य-चन्द्र दर्शन संस्कार का काल निर्णय

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार यह संस्कार जन्म के तीसरे दिन किया जाता है।[7] दिगम्बर परम्परा के अनुसार इस संस्कार को दो, तीन या चार माह के बाद किसी शुभ दिन में सम्पन्न करना चाहिए।[8] वर्तमान में यह संस्कार जन्म होने के बाद लगभग 15 दिन से 45 दिन के भीतर कर लेते हैं।[9] वैदिक परम्परा में इस संस्कार का काल जन्म के बाद बारहवें दिन से लेकर चतुर्थ मास तक माना गया है।[10] गृह्यसूत्रों एवं स्मृतियों में इसके काल सम्बन्धी भिन्न-भिन्न उल्लेख मिलते हैं। बृहस्पतिस्मृति में इस संस्कार का काल बारहवाँ दिन कहा गया है।[11] यह काल-गणना तभी संभव है, जब नामकरण के साथ यह संस्कार सम्पन्न किया जाता हो। गृह्यसूत्रों एवं स्मृतियों के अनुसार जन्म के तीसरे या चौथे महीने में यह संस्कार किया जाना चाहिए। यमग्रन्थ में यह निर्देश है कि तृतीय मास में शिशु को सूर्य का दर्शन कराना चाहिए और चतुर्थ मास में चन्द्र का दर्शन करवाया जाना चाहिए।[12] आश्वलायनगृह्य सूत्र में यह उल्लेख है कि किसी कारण वश यह संस्कार उपर्युक्त अवधि के भीतर सम्पन्न नहीं हो पाता है तो अन्नप्राशन संस्कार के साथ अवश्य किया जाना चाहिए।[13]

ज्योतिष के अनुसार आपत्तिजनक तिथियों को छोड़कर उक्त विकल्पों के साथ माता-पिता की सुविधा एवं बालक की स्वास्थ्य-रक्षा को ध्यान में रखते हुए यह संस्कार किया जाना चाहिए। हम देखते हैं कि तीनों परम्पराओं में इस संस्कार को निष्पन्न करने के भिन्न-भिन्न काल बताए गए हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूर्य-चन्द्र दर्शन संस्कार में उपयोगी मुख्य सामग्री

यह संस्कार सम्पन्न करते समय कौन-कौनसी वस्तुएँ अनिवार्य रूप से उपयोग में आती हैं? इस सम्बन्ध में श्वेताम्बर परम्परा के आचारदिनकर में अवश्य उल्लेख मिलता है किन्तु दिगम्बर एवं वैदिक-परम्परा में तत्सम्बन्धी कोई विवरण प्राप्त नहीं होता है।

आचारदिनकर[14] में इस संस्कार हेतु सूर्य और चन्द्र की मूर्ति, इनकी पूजा-सामग्री, जिन प्रतिमा की स्नात्रोपयोगी सामग्री, एक पवित्र कक्ष आदि वस्तुओं को जरूरी माना हैं।

सूर्य-चन्द्र दर्शन संस्कार विधि का साहित्यिक स्वरूप

श्वेताम्बर–आचारदिनकर में चतुर्थ संस्कार की विधि इस प्रकार वर्णित है[15]-

• सर्वप्रथम शिशु के जन्म के तीसरे दिन गृहस्थ गुरु समीपस्थ गृह में अर्हत्-पूजन करे। • फिर जिन प्रतिमा के आगे स्वर्ण, ताम्र या रक्त चंदन की सूर्य प्रतिमा को स्थापित करे। उसके बाद शरीर शुद्धि की हुई माता को बालक सहित सूर्य के सम्मुख लेकर जाए और वेद मंत्र का उच्चारण करते हुए माता एवं पुत्र को प्रत्यक्ष रूप से सूर्य के दर्शन कराए। सूर्य दर्शन करवाने का मन्त्र निम्न है -

"ॐ अर्हम् सूर्योऽसि, दिनकरोऽसि, सहस्र किरणोऽसि, विभावसुरसि, तमोऽपहोऽसि, प्रियंकरोऽसि, शिवंकरोऽसि जगच्चक्षुरसि, सुरवेष्टितोऽसि, मुनिवेष्टितोऽसि, विततविमानोऽसि, तेजोमयोऽसि, अरूणसारथिरसि, मार्तण्डोऽसि, द्वादशात्मासि चक्रवान्धवोऽसि, नमस्ते भगवन् प्रसीदास्य कुलस्य तुष्टिं पुष्टिं प्रमोदं कुरू कुरू सन्निहितो भव अर्हम् ॐ।"

• इस प्रकार मंत्रोच्चारण पूर्वक सूर्य के दर्शन करने के बाद माता शिशु सहित गृहस्थ गुरु को प्रणाम करे। • गुरु आशीर्वाद दे। • तदनन्तर गुरु अपने स्थान पर आकर जिन प्रतिमा के समक्ष स्थापित सूर्य प्रतिमा को विसर्जित करे। सूतक होने के कारण माता और शिशु को वहाँ नहीं ले जाते हैं।

• उसी दिन संध्याकाल के समय अन्य कक्ष में गृहस्थ गुरु जिनप्रतिमा की पूजा करके उनके समक्ष स्फटिक, चांदी या चन्दन की चन्द्र प्रतिमा को स्थापित करे तथा चन्द्र प्रतिमा का शांतिक-पौष्टिक कर्म आदि करे। फिर चन्द्र के उदय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हो जाने पर माता और शिशु को चन्द्र के सम्मुख ले जाए और वेद मंत्र का उच्चारण करते हुए चन्द्र के प्रत्यक्ष दर्शन करवाए। चन्द्र दर्शन का मन्त्र यह है–

"अर्हं चन्द्रोऽसि, निशाकरोऽसि, सुधाकरोऽसि, चन्द्रमाअसि, ग्रहपतिरसि, नक्षत्रपतिरसि, कौमुदीपतिरसि, निशापतिरसि, मदनमित्ररसि, जगज्जीवनमसि, जैवातृकोऽसि, औषधिगर्भोऽसि, वंद्योऽसि, पूज्योऽसि, नमस्ते भगवन् अस्य कुलस्य, ऋद्धिं कुरू, वृद्धिं कुरू, तुष्टिं कुरू, पुष्टिं कुरू जयं विजयं कुरू भद्रं कुरू, प्रमोदं कुरू श्री शशांकाय नमः अर्हं ॐ।"

- चन्द्र का दर्शन करने के बाद माता गुरु को नमन करे। गुरु आशीर्वाद प्रदान करे। उसके पश्चात वह गृहस्थ गुरु जिनप्रतिमा और चन्द्र प्रतिमा-दोनों को विसर्जित करे।

इस संस्कार के सम्बन्ध में इतना विशेष है कि यदि उस दिन चतुर्दशी या अमावस्या हो अथवा आकाश बादलों से आच्छादित होने के कारण चन्द्र दर्शन न हो पाया हो, तो भी पूजन उसी सन्ध्या में करना चाहिए। चन्द्र दर्शन चन्द्रमा के उदय होने पर अन्य रात्रि में भी किया जा सकता है।

बहिर्यान संस्कार विधि

दिगम्बर– दिगम्बर परम्परा के आदिपुराण में सूर्य-चन्द्र दर्शन करवाने सम्बन्धी कोई चर्चा नहीं है, केवल जन्मोत्सव (प्रियोद्भव) संस्कार के समय तीसरे दिन रात को *'अनन्तज्ञानदर्शीभव'*-यह मन्त्र पढ़कर नवजात शिशु को गोदी में उठाकर तारों से सुशोभित आकाश का दर्शन करवाना चाहिए[16]-ऐसा उल्लेख मिलता है। इस प्रक्रिया को किसी अपेक्षा से चन्द्र दर्शन विधि के अन्तर्गत रख सकते हैं किन्तु मूलतः सूर्य-चन्द्र दर्शन का कोई निर्देश नहीं है।

जिस बहिर्यान संस्कार को सूर्य-चन्द्र दर्शन के समकक्ष माना गया है, उस संस्कार विधि का वर्णन करते हुए यह कहा गया है कि द्विज को निम्न मन्त्रों का जाप करना चाहिए और इन मन्त्रों को बोलते हुए शिशु को आशीर्वाद देना चाहिए तथा अरिहन्त परमात्मा की पूजा आदि शेष विधि पूर्ववत जाननी चाहिए।[17]

आशीर्वाद मन्त्र इस प्रकार है–

"उपनयनिष्क्रान्तिभागी भव, वैवाह निष्क्रान्तिभागीभव, मुनीन्द्र-निष्क्रान्तिभागीभव, सुरेन्द्रनिष्क्रान्तिभागीभव, मन्दराभिषेक निष्क्रान्ति- भागीभव यौवराजयनिष्क्रान्तिभागीभव, महाराज्य निष्क्रान्तिभागीभव।"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस मन्त्र का तात्पर्य है - यज्ञोपवीत, विवाह, मुनिपद, सुरेन्द्रपद, युवराजपद, महाराजपद एवं अरिहंतपद की प्राप्ति के लिए निकलने वाला बन अर्थात इस दुनिया में कदम रखने के साथ ही क्रमशः युवराज आदि पदों को प्राप्त करता हुआ अरिहंतपद की प्राप्ति करना, बाहरी जगत का परिचय करने के साथ-साथ आभ्यन्तर रूप से आत्मजगत का परिचय प्राप्त करना। प्रस्तुत मन्त्रोल्लेख से सूचित होता है कि इस परम्परा में यह संस्कार भौतिक जगत के साथ-साथ आध्यात्मिक जगत में प्रवेश पाने हेतु किया जाता है।

इसी के साथ जब बालक को जिनालय के दर्शन करवाते हैं, उस समय दर्शन कराते हुए *'ॐ नमोऽर्हते भगवते जिन भास्कराय जिनेन्द्र प्रतिमा दर्शने अस्य बालकस्य दीर्घायुष्यं आत्मदर्शनं च भूयात्'*-यह मन्त्र पढ़ते हैं।[18] इस मन्त्र में भी आत्म दर्शन की बात कही गई है। दिगम्बर परम्परा में बहिर्यान-संस्कार की यही विधि है।

धृति संस्कार– दिगम्बर मत में प्रचलित धृति नामक चौथा संस्कार गर्भ की वृद्धि के लिए गर्भाधान से सातवें महीने में, सुयोग्य गृहस्थों द्वारा विधि पूर्वक सम्पन्न किया जाता है।

निष्क्रमण संस्कार विधि

वैदिक– बालक को सृष्टि के उन्मुक्त वातावरण में प्रवेश करवाने के लिए जो विधि या क्रियाकाण्ड किए जाते हैं, उन्हें वैदिक-परम्परा में निष्क्रमण संस्कार नाम दिया गया है। इस संस्कार विधि का प्राचीन स्वरूप इस प्रकार उपलब्ध होता है - मुहूर्त्तसंग्रह के अनुसार यह संस्कार सम्पन्न करने के निश्चित दिन में माता गृह आंगन के ऐसे वर्गाकार भाग को जहाँ से सूर्य दिखाई दे सके गोबर और मिट्टी से लीपती थी। फिर उस पर स्वस्तिक का चिह्न बनाकर धान्यकणों को बिखेरती थी।[19] परवर्तीकालीन ग्रन्थों के अनुसार बालक को भलीभाँति अलंकृत कर कुल देवता के समक्ष लाया जाता है। वाद्य-संगीत के साथ देवता की पूजा की जाती है। आठ लोकपालों, सूर्य, चन्द्र, वासुदेव और आकाश की स्तुति की जाती है। ब्राह्मणों को भोजन दिया जाता है और शुभ सूचक श्लोकों का उच्चारण किया जाता है। शंख ध्वनि एवं वैदिक मन्त्रों के उच्चारण के साथ शिशु को बाहर लाया जाता है। बाहर लाते समय पिता निम्न श्लोक का उच्चारण करता है-'यह शिशु अप्रमत्त हो या प्रमत्त, दिन हो या रात्रि, इन्द्र के नेतृत्व में सब देव इसकी रक्षा करें।'[20]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उसके बाद शिशु को किसी देवालय में ले जाया जाता है, जहाँ धूप, पुष्प द्वारा देवार्चन होता है। शिशु देवता को प्रणाम करता है और ब्राह्मण उसे आशीर्वाद देते हैं। इसके पश्चात बालक को मामा की गोद में दे देते हैं और वही शिशु को घर लेकर आता है।

गृह्यसूत्रों के अनुसार पिता बालक को बाहर लेकर आता था और *'तच्चक्षुर्देवहितम्'* आदि मन्त्र के साथ सूर्य के दर्शन करवाता था।[21] बृहस्पति में इससे कुछ भिन्न विधि कही गई है। उसमें शिशु को पिता द्वारा या मामा द्वारा बाहर लाया जाना, गोबर व मिट्टी से लीपे हुए आंगन पर बिठाना, पिता द्वारा *'त्र्यम्बकं यजामहे'* आदि मृतसंजीवन मन्त्र का जप करना, शिव-गणेश का पूजन करना और उसे फल आदि खाद्य पदार्थ दिए जाने का वर्णन है।[22]

इस प्रकार वैदिक परम्परा में यह संस्कार अपनी कुल- परम्परा के अनुरूप गृह शुद्धि, मन शुद्धि, देवार्चन, मन्त्र-जाप और ब्राह्मण दान की विधि के साथ सम्पन्न किया जाता है।

सूर्य-चन्द्र दर्शन संस्कार सम्बन्धी विधि-विधानों के प्रयोजन

नवजात शिशु को बाहरी दुनिया से परिचित करवाने हेतु कुछ विधि-विधान निम्न प्रयोजनों से सम्पन्न किए जाते हैं।

बहिर्यान-निष्क्रमण संस्कार का काल चतुर्थ मास क्यों? दिगम्बर एवं वैदिक परम्परा में यह संस्कार लगभग तीसरे या चौथे महीने में किया जाता है। इसके पीछे बच्चे की असहिष्णु त्वचा को कारण माना जा सकता है, क्योंकि उसकी तात्कालिक त्वचा में इतनी ग्राह्यता एवं सहनशीलता नहीं होती है कि बाह्य प्राकृतिक प्रभाव को सहन कर सके। यह प्रमाण पुरस्सर है कि नवीन-पौधा सूर्य के प्रभाव से मृतप्राय सा हो जाता है, उसी प्रकार चतुर्थ मास से पूर्व सूर्य के सम्पर्क में लाने से बच्चे की शारीरिक स्वस्थता पर कुछ विपरीत परिणाम पड़ सकते हैं।

इस संस्कार को चतुर्थ मास में करने के पीछे यह प्रयोजन भी माना जा सकता है कि प्राचीनकाल में आज के वैज्ञानिक युग के अनुरूप लोगों की सुरक्षा व्यवस्था पर्याप्त नहीं थी। तब बस्तियों के आस-पास जंगल भरा क्षेत्र रहता था, जिसमें हिंसक जीव-जन्तु रहा करते थे। इनके द्वारा उस असहाय एवं अज्ञानी शिशु की रक्षा, खासकर घर से बाहर, अपेक्षा के अनुरूप संभव नहीं हो पाती

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

थी, अतः जन्म के बहुत दिनों बाद तक उसे घर की चारदीवारी के अन्दर ही रखा जाता था और उसकी सुरक्षा के अनेकानेक प्रबन्ध किए जाते थे। यह इस संस्कार पर दृष्टि देने से ज्ञात होता है।[23]

श्वेताम्बर परम्परा में तीसरे दिन ही सूर्य-चन्द्र दर्शन करवाने का जो निर्देश है, उसका रहस्य मार्मिक है। जैन आगम ग्रन्थों में भी *'तइए दिवसे चंद-सूरदंसणयं करिंति'* का ही उल्लेख है।

मन्त्र जाप एवं मंत्रोच्चारण का प्रयोग क्यों? यह संस्कार सम्पादित करते समय किसी न किसी रूप में मंत्रोच्चारण निश्चित रूप से किए जाते हैं। इसके कुछ कारण ये हैं-सर्वप्रथम भारतीय संस्कृति तंत्र-मंत्र पर कुछ अधिक विश्वास करने वाली संस्कृति है। फलतः किसी भी मांगलिक अवसर पर मन्त्रोच्चार का होना नितान्त ही स्वाभाविक है। इस मन्त्रोच्चार के पीछे केवल परम्परा को स्वीकारना ही पर्याप्त नहीं है, इसमें और भी तथ्य दृष्टिगोचर होते हैं। मंत्रों का वर्ण-संयोजन, उसका क्रम-निर्धारण एवं उसकी ध्वनियाँ सामान्य और लौकिक वाक्य से भिन्न हुआ करती हैं।

मन्त्रों का सम्बन्ध मनोवैज्ञानिक तथा चिकित्साशास्त्रीय तथ्यों से भी है। आज के विकसित युग में हम देखते हैं कि मनोवैज्ञानिक चिकित्सा का क्षेत्र मानसिक एवं शारीरिक रोगाकुल जगत में व्यापक होता जा रहा है। दुःसाध्य रोगों का इलाज भी इस पद्धति के द्वारा आसानी से संभव हो रहा है। जहाँ औषधियों का प्रयोग सफल नहीं होता है, वहाँ मनोवैज्ञानिक चिकित्सा द्वारा रोग विनिर्मुक्ति होने लगी है।

मन्त्र ध्वनि भी एक ऐसी तरंग है, जो कर्णेन्द्रिय द्वारा शरीर के अन्दर संस्पर्श से प्रभावित करती है तथा उस प्रकार की क्रियाओं में गति प्रदान करती है।

कुछ मन्त्रों का प्रयोग अमुक-अमुक समय में ही किया जाता है। यदि मन्त्रों का उच्चार असमय में किया जाए तो हानिकारक परिणाम भी उपस्थित हो सकते हैं। जिस प्रकार गहरी निद्रा में सोए हुए व्यक्ति को उच्च स्वर द्वारा प्रबोधित करने से उसके मन-मस्तिष्क पर गलत प्रभाव पड़ता है, वह पागल भी हो सकता है। इसी तरह मन्त्रोच्चार का दार्शनिक-स्वरूप भी बहुत ही रहस्यमय है, जिसके अन्तर्गत निश्चित शब्दों द्वारा, निश्चित समय एवं निश्चित शैली में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मन्त्रों का प्रयोग किया जाता हैं, उसका बुद्धि एवं आत्मा पर भी स्वाभाविक रूप से अच्छे परिणाम होते हैं। इन्हीं सब कारणों को दृष्टि में रखते हुए प्रत्येक संस्कार के समय मन्त्रोच्चार किया जाना लाभकारी है।[24]

ब्राह्मणों को भोजन दान क्यों ? वैदिक मान्यतानुसार इस संस्कार को सम्पन्न करते समय ब्राह्मणों को भोजन करवाया जाता है एवं उनकी पूजा पूर्वक यह विधि पूर्ण की जाती हैं। इस विषय में यह भी कह सकते हैं कि वह नन्हा-सा बालक सर्वप्रथम अपने घर की चौखट के बाहर ज्यों ही बाहरी दुनिया के सम्पर्क में आता है, त्यों ही अपनी पारिवारिक सम्पदा को लोगों के बीच बाँटता है। इसके द्वारा चार माह के बच्चे में सम्पूर्ण संसार की कौटुम्बिक भावना को दर्शाया जाता है तथा एक समतामूलक सामाजिक सरंचना की कल्पना शिशु के माध्यम से की जाती है। ब्राह्मण को भोजन करवाने का यही प्रयोजन सिद्ध होता है।

सूर्य-चन्द्र का ही दर्शन क्यों ? श्रीराम शर्मा आचार्य का कहना है कि सूर्य निरन्तरता, गतिशीलता, तेज प्रकाश एवं उष्णता का प्रतीक है। उसकी किरणें इस संसार में जीवन संचार करती हैं, अतएव बालक में भी इन गुणों का विकास हो। सूर्य निरन्तर चलता रहता है, वह अपने कर्तव्यों से एक क्षण के लिए भी विमुख नहीं होता, उसी तरह यह बालक भी निरन्तर पारिवारिक एवं सामाजिक कर्तव्यों का निर्वहन करता रहे। सूर्य एवं चन्द्र दर्शन के साथ-साथ बालक को यह शिक्षा दी जाती हैं कि उसे भावी जीवन में आलसी, ढीला-पोला या अनियमित नहीं होना है अत: वह सूर्य को देखे और उसकी रीति-नीति का अनुसरण करे।

सूर्य प्रकाशवान एवं तेजस्वी होता है तथा चन्द्रमा सौम्य एवं शीतल होता है, उसका दर्शन करने वाला बालक भी तेजस्वी एवं शीतल स्वभावी बने।

सूर्य में गर्मी होती है। हमारी नस-नाड़ियों में भी गरम रक्त बहता रहे, हमारे हौसले बढ़ते रहें। यह संस्कार प्रेरणा देता है कि परिस्थितियाँ भले ही प्रतिकूल हों पर हमें आदर्शों की रक्षा के लिए गरम(तत्पर) ही रहना चाहिए। जिस प्रकार सूर्य स्वयं गरम रहता है, दूसरों को भी गरम रखता है। वैसे ही इस संस्कार के माध्यम से बालक स्वयं सक्रिय रहे और दूसरों को भी गतिशील बनाए रखे यह अभिसिप्त है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूर्य की किरणें प्राण संचारक मानी गईं हैं। संसार की सजीवता इसी के कारण है। वनस्पति, जीव- जन्तु, कीट-पतंग आदि विविध प्रकार के जीव सूर्य से प्राप्त होने वाली प्राण शक्ति के कारण ही सजीव हैं अतः सूर्य-दर्शन करते हुए बालक के प्राणवान रहने एवं उसके सजीव बने रहने की आकांक्षा की जा सकती है।

सूर्य-चन्द्र की एक विशेषता यह है कि ये अकेले परिभ्रमण नहीं करते, अपितु परिवार के सारे ग्रहों और उपग्रहों को साथ लेकर चलते हैं। सबको अपनी आकर्षण शक्ति से बांधे रखते हैं, सबको गति देते हैं, उसी प्रकार यह बालक अपनी शक्ति-सामर्थ्य से परिवार को साथ लेकर चले, सबके कल्याण और उत्थान की बात सोचे।

इस तरह सूर्य-चन्द्र दर्शन की प्रक्रिया के पीछे ऐसी अनेक शिक्षाएँ समाविष्ट हैं, जो बालक के जीवन में विकास को सुनिश्चित करती हैं और उनके गुणों को गुणान्तरित करती है। इसी उद्देश्य की सम्पूर्ति हेतु सूर्य-चन्द्र का दर्शन करवाया जाता है।

बहिर्यान या निष्क्रमण संस्कार से होने वाले लाभ

बालक के जन्म लेने के बाद उसे कम-से-कम तीन चार महीनों तक घर के वातावरण में ही रखा जाता है। निष्क्रमण संस्कार के द्वारा प्रथम बार उसे बाह्य प्राकृतिक वातावरण के सम्पर्क में लाया जाता है। बालक पर इसका प्रभाव विविध दृष्टियों से देखा जाता है।

इस संस्कार से बालक का मानसिक विकास होता है। उसमें बाह्य जगत को जानने के लिए बौद्धिक स्फुरणा पैदा होती है। वह घर से लेकर ननिहाल तक अपना सामाजिक दायरा बढ़ाता है। इस प्रकार इस संस्कार द्वारा शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक आदि अनेकशः लाभ प्राप्त होते हैं।[25]

यदि वर्तमान परिप्रेक्ष्य में इस संस्कार का मूल्यांकन करें तो किसी अपेक्षा से इस संस्कार के प्रयोजन एवं उसकी अर्थवत्ता निरर्थक सिद्ध होती है, क्योंकि आजकल अधिकांश बच्चों का जन्म हॉस्पीटल में होता है माताएँ नवजात बच्चे को साथ लेकर समुद्र तट, होटल, सिनेमाघर एवं देश-विदेश की यात्रा आदि पर भी ले जाती हैं। घर के वातावरण में सुरक्षित रखने की भावना नहींवत रह गई है। एकल परिवार संस्कृति भी इसका एक मुख्य कारण है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूर्य-चन्द्र दर्शन संस्कार का तुलनात्मक चिन्तन

जब हम श्वेताम्बर, दिगम्बर एवं वैदिक परम्परा में मान्य पूर्वोक्त संस्कारों का तुलनात्मक विवेचन करते हैं तो परस्पर कईं प्रकार की समानताएँ और असमानताएँ विभिन्न अपेक्षाओं से दृष्टिगत होती हैं

क्रम की अपेक्षा– श्वेताम्बर, दिगम्बर और वैदिक तीनों परम्पराओं में किसी न किसी रूप में सूर्य-चन्द्र के दर्शन कराने सम्बन्धी परम्परा को मान्यता मिली है, परन्तु क्रम की दृष्टि से विचार करें तो श्वेताम्बर में सूर्य-चन्द्र-दर्शन संस्कार का स्थान चौथा है, जबकि दिगम्बर में आठवाँ एवं वैदिक-धर्म में सातवाँ स्थान है।

नाम की अपेक्षा– उक्त परम्पराओं में बालक को प्रथम बार बाहरी दुनिया से परिचित करवाने हेतु जो संस्कार किए जाते हैं उनके नामों को लेकर अन्तर देखा जाता है। श्वेताम्बर में यह 'सूर्येन्दुदर्शन' के नाम से कहा जाता है, दिगम्बर परम्परा में 'बहिर्यान' के नाम से प्रचलित है तथा वैदिक परम्परा में 'निष्क्रमण' के नाम से स्वीकृत है। वस्तुतः, ये तीनों संस्कार नाम की दृष्टि से भिन्न होने पर भी अर्थ की दृष्टि से समानता रखते हैं।

अधिकारी की अपेक्षा– श्वेताम्बर परम्परा में इस संस्कार को करवाने का योग्यधिकारी जैन ब्राह्मण या क्षुल्लक को माना गया है। दिगम्बर परम्परा में गुण सम्पन्न द्विज को इसका अधिकारी बतलाया गया है तथा वैदिक-धर्म में शिशु के पिता या उसके मामा को इस संस्कार का अधिकार दिया गया है।

काल की अपेक्षा– श्वेताम्बर परम्परा में यह संस्कार जन्म से तीसरे दिन किया जाता है। दिगम्बर परम्परा में दूसरे से लेकर चौथे महीने के बाद किसी भी शुभ दिन में किए जाने का निर्देश है तथा वैदिक परम्परा में, इस संस्कार का काल बारहवें दिन से लेकर चार मास तक माना गया है।

विधि की अपेक्षा– श्वेताम्बर परम्परा में इस संस्कार के समय माता एवं शिशु को मन्त्र पूर्वक सूर्य और चन्द्र के दर्शन करवाए जाते हैं। गृहस्थ गुरु उस दिन जिनप्रतिमा की स्नात्रपूजा करता है, उसके सम्मुख सूर्य एवं चन्द्र का आकार बनाकर रखता है तथा क्रिया विधि पूर्ण होने के बाद स्थापित सूर्य-चन्द्र का विसर्जन किया जाता है। इस प्रकार इस संस्कार के सभी कृत्य सूर्य-चन्द्र दर्शन से ही सम्बन्धित होते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दिगम्बर परम्परा में इस संस्कार के समय द्विज द्वारा शिशु को मन्त्र पूर्वक आशीर्वाद दिया जाता है तथा जिनालय के दर्शन करवाकर उसके दीर्घायुष्य की प्रार्थना की जाती है। वैदिक परम्परा में संस्कार किए जा रहे बालक को कुल-देवता का दर्शन करवाना, लोकपाल आदि देवों की स्तुति करना, शुभ मन्त्रों का उच्चारण करना, शिशु को देवालय में ले जाना इत्यादि क्रियाएँ सम्पन्न की जाती हैं।

उपसंहार

यदि हम इस संस्कार पर गहराई से विचार करते हैं, तो अनेक मौलिक-तत्त्व सामने आते हैं। साथ ही इस संस्कार की फलश्रुति क्या है ? इसका बोध भी भलीभाँति हो जाता है।

निष्क्रमण संस्कार लोकाचार की सत्प्रवृत्ति का परिचायक है। यह नवजात शिशु को घर से बाहर ले जाने का संस्कार है। इसका अभिप्राय बच्चे को असत् के गर्भ से सत् के प्रकाश में लाना है। विद्वानों ने इस संस्कार का फल आयु की वृद्धि बताया है। इसके पीछे मुख्य कारण सूर्य एवं चन्द्रादि देवताओं का पूजन करना तथा बालक के पिता द्वारा पंचभूतों के अधिष्ठाता देवताओं से बालक के कल्याण की कामना करना रहा है। पूर्व काल में इस संस्कार के समय बालक को अपने बड़ों का आशीर्वाद मिला करता था- *'जीवेद् शरदः शतम्'*। अब इस संस्कार का महत्त्व इसलिए घट गया है, क्योंकि अधिकतर बालकों का जन्म प्रायः घर के बाहर ही होता है।

सुस्पष्ट है कि यह संस्कार बालक की सुषुप्त शक्तियों को जागृत करने, शिशु को बाहर की दुनिया का यथार्थ परिचय कराने एवं सामाजिक प्राणी होने का बोध करने के निमित्त किया जाता है।

सन्दर्भ सूची

1. *हिन्दूसंस्कार, पृ. 110*
2. *आचारदिनकर, भाग-1, पृ. 11*
3. *आदिपुराण*
4. *हिन्दूसंस्कार, पृ. 112*
5. *वीरमित्रोदयसंस्कार, भाग-1, पृ. 253*
6. *धर्मशास्त्र का इतिहास, भा. 1., पृ. 182*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

7. आचारदिनकर, पृ. 11
8. आदिपुराण, पर्व-38, पृ. 247
9. जैनसंस्कारविधि, पृ. 11
10. पारस्करगृह्यसूत्र, 1/17/5-6
11. वीरमित्रोदयसंस्कार, भा. 1, पृ. 250
12. ततस्तृतीये कर्त्तव्यं, मासि सूर्यस्य दर्शनम्।
    चतुर्थमासि कर्त्तव्यं, शिशोरचन्द्रस्य दर्शनम्।।

    हिन्दूसंस्कार, पृ.111
13. हिन्दूसंस्कार, पृ. 111
14. आचारदिनकर, पृ. 12
15. आचारदिनकर, पृ. 11-12
16. आदिपुराण, पर्व 39, पृ. 306
17. आदिपुराण, पर्व 39, पृ. 307
18. जैनसंस्कारविधि, पृ. 11
19. हिन्दूसंस्कार, पृ. 112
20. हिन्दूसंस्कार पृ. 113
21. पारस्करगृह्यसूत्र, 1/17/5-6
22. वीरमित्रोदयसंस्कार, भा.-1, पृ. 254
23. षोडशसंस्कार, डॉ. बोधकुमार झा, पृ. 20
24. षोडशसंस्कार, पृ. 20-21
25. आधार-यज्ञों एवं संस्कारों पर एक दृष्टिकोण, डॉ. राजमन,पृ. 41

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अध्याय - 6

क्षीराशन(दुग्धपान) संस्कार विधि का क्रियात्मक स्वरूप

भारतीय संस्कृति उच्च आदर्शों की संस्कृति रही है। इसमें प्रत्येक मानव को सुसंस्कृत बनाने के लिए कई प्रकार के नियम-उपनियम, विधि-विधान प्रचलित हैं। यह सर्वविदित है कि बाल्यकाल या शैशवकाल में दिए गए संस्कार बालक को सम्पूर्ण जीवन की यात्रा में प्रभावित करते हैं। बाल्यकाल कच्ची मिट्टी की भाँति होता है। जिस प्रकार मिट्टी को मनचाहे आकार में परिवर्तित किया जा सकता है, उसी प्रकार बच्चे के भावी जीवन के निर्माण का आधार भी बाल्यकाल ही होता है।

हमारे ऋषि-महर्षियों की सूझबूझ कितनी गहरी होगी? उनका चिन्तन कितना व्यापक होगा? उनकी भावनाएँ कितनी परोपकारयुक्त होंगी? कि उन्होंने शिशु द्वारा माता के स्तनपान किए जाने की प्रक्रिया को भी संस्कार की श्रृंखला में रखा। इस संस्कार का रहस्य गूढ़ार्थ को लिये हुए हैं।

श्वेताम्बर परम्परा में इस संस्कार का अपना विशिष्ट स्थान है। इस नाम का संस्कार श्वेताम्बर परम्परा में ही उपलब्ध होता है दिगम्बर एवं वैदिक परम्परा में इस नाम का कोई संस्कार नहीं है। यदि हम क्षीराशन संस्कार की तुलना दिगम्बर और वैदिक परम्परा से करना चाहें तो दिगम्बर में मान्य छठवां प्रियोद्भव संस्कार और वैदिक धर्म में मान्य चौथे जातकर्म संस्कार को क्षीराशन संस्कार के समानार्थक रखा जा सकता है, क्योंकि दिगम्बर परम्परा में प्रियोद्भव संस्कार के समय और वैदिक परम्परा में जातकर्म संस्कार के समय माता के स्तनपान की क्रिया भी कर दी जाती है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि यह संस्कार तीनों परम्पराओं में किसी न किसी रूप में अवश्य स्वीकार किया गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्षीराशन संस्कार का शाब्दिक पर्याय

क्षीर=दूध, अशन=भोजन अर्थात नवजात बालक को विधि- विधान एवं मंत्रोच्चार पूर्वक दुग्धपान कराना क्षीराशन संस्कार है।

क्षीराशन संस्कार की नैतिक आवश्यकता

यदि हम शरीर शास्त्र एवं चिकित्सा शास्त्र की दृष्टि से विचार करें तो इस संस्कार की नितांत अनिवार्यता सिद्ध होती है।

दूध एक तरल, मधुर एवं पौष्टिक आहार है। इसका सेवन सभी के लिए लाभकारी माना गया है। इसे चबाने की एवं पचाने की जरूरत नहीं रहती है। यह बिना दाँतों के ग्रहण किया जा सकने वाला आहार है तथा इस आहार को हजम करने के लिए पाचनतंत्र की पूर्ण सक्रियता भी अपेक्षित नहीं होती है। जैन दर्शन की मान्यतानुसार दूसरा पक्ष यह है कि संसारी प्राणी बिना आहार के टिक नहीं सकता है। माँ के गर्भ में आते ही उसकी आहार प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है, तब जन्म लेने के बाद तो आहार की अनिवार्यता स्वत:सिद्ध है। तीसरा तथ्य यह है कि नवजात शिशु के दाँत नहीं होते और उसका पाचनतंत्र भी पूर्ण विकसित नहीं होता है। ये शक्तियाँ क्रमश: बढ़ती हैं, तब उस स्थिति में दूध ही एक ऐसा पदार्थ बचता है, जो उस शिशु के लिए पौष्टिक, शक्तिशाली एवं आरोग्यवर्धक होता हैं अत: नवजात शिशु की पुष्टता एवं आरोग्यता की वृद्धि के लिए यह संस्कार किया जाता है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि नवजात शिशु को माता के स्तनपान द्वारा ही दुग्धाहार क्यों करवाया जाता है? इस प्रश्न के समाधान में बहुत बड़ा मनोविज्ञान छिपा हुआ है। सर्वप्रथम यह प्रणाली स्वाभाविक या प्राणीय प्रकृति के अनुरूप है। दूसरा तथ्य है कि व्यक्ति के हार्मोन्स एवं उसकी भावनाएँ आस-पास के वातावरण में विद्युत् वेग का कार्य करती है। व्यक्ति के आचार-विचार एवं क्रियाकलाप द्वारा उसका आभामण्डल निर्मित होता है। सुयोग्य एवं उत्तम विचारों का प्रवाह होने पर उसी प्रकार का प्रभावी आभामण्डल तैयार होता है और उस आभामण्डल के सन्निकट आने वाले प्रत्येक व्यक्ति की जीवन शैली न्यूनाधिक मात्रा में ही सही, उससे अवश्य प्रभावित होती है। यही बात स्तनपान के सम्बन्ध में लागू होती है। माता के स्तन द्वारा न केवल बालक का शारीरिक-विकास होता है, अपितु माता-पिता के अंगीय गुणों जैसे- शूरवीरता, सात्त्विकता, धीरता,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सहनशीलता, गंभीरता आदि का भी बालक में विकास होता है। यह विकास या परिवर्तन माता-पिता के हार्मोन्स एवं बच्चे के प्रति उमड़ रहे वात्सल्य भावों के आधार पर होता है। एक दृष्टि से कहें, तो माता के स्तनपान द्वारा बालक का सम्पूर्ण जीवन ही निर्मित होता है। ये संस्कार बोतल के दूध या अन्य दूध के द्वारा नहीं दिए जा सकते हैं। वर्तमान युग में स्तनपान का कार्यक्रम शनैः शनैः समाप्त होता जा रहा है तो उसके विपरीत परिणाम भी हमें साक्षात् देखने को मिल रहे हैं। आजकल के बच्चों में विनम्रता, सरलता, समर्पण, दयालुता, आज्ञानिष्ठता आदि के गुण देखना चाहें तो निराशा ही नजर आएगी। इनके स्थान पर उद्दण्डता, अहंकारिता, आज्ञाहीनता, उच्छृंखलता आदि दुर्गुणों ने अपना डेरा जमा लिया है। इन दुर्गुणों के प्रवेश होने के अन्य कई कारण और भी हो सकते हैं, किन्तु उनमें एक कारण बालक को माता के स्तनपान से वंचित रखना भी है। वर्तमान युग में इस प्रक्रिया को असभ्यता की कोटि में जाना जाता है।

यह पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव है, परन्तु मानव विकास के लिए यह बहुत हानिकारक सिद्ध हो रहा है। यदि हमारी माताएँ सन्तान के उज्ज्वल भविष्य के लिए पुनर्विचार करें तो यह संस्कार पुनर्जीवित हो सकता है। इस संस्कार प्रयोजन का तीसरा कारण यह है कि नवजात शिशु के लिए माता के स्तनपान द्वारा प्राप्त होने वाला दूध अपेक्षाकृत अन्य माध्यमों से प्राप्त दूध से अधिक सुपाच्य एवं गुणकारी होता है, जिससे शिशु उस दूध को आसानी से पचा सकता है और उसका उत्तम शारीरिक विकास होता है। इस संस्कार की आवश्यकता का एक कारण यह माना जा सकता है कि दूध को अमृत के समान कहा गया है। उत्तम भावों द्वारा पिलाया गया एवं पिया गया दूध अमृत का कार्य करता है अतः बालक का जीवन अमृतमय (आयुष्मान्) बने, यह हेतु भी इस संस्कार की आवश्यकता को पुष्ट करता है। इस प्रकार क्षीराशन संस्कार की आवश्यकता अनेक बिन्दुओं से सुस्पष्ट है।

क्षीराशन संस्कार करवाने के शास्त्र सम्मत अधिकारी

श्वेताम्बर परम्परा में इस संस्कार को करवाने का अधिकारी जैन ब्राह्मण या क्षुल्लक को माना गया है।[1] दिगम्बर परम्परा में इस संस्कार को माता-पिता द्वारा कराए जाने का निर्देश है।[2] वैदिक परम्परा में यह संस्कार पिता द्वारा किए जाने का उल्लेख है।[3]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्षीराशन संस्कार सम्बन्धी शुभ मुहूर्त्त विचार

यह संस्कार किस शुभ दिन में किया जाना चाहिए-इस सम्बन्धी कोई विवेचन किसी भी परम्परा में उपलब्ध नहीं होता है, केवल समयावधि का उल्लेख पढ़ने को मिलता है।

क्षीराशन संस्कार हेतु उपयुक्त काल

श्वेताम्बर परम्परा में इस संस्कार को जन्म के तीसरे दिन अर्थात चन्द्र-सूर्य-दर्शन के दिन करने का निर्देश किया गया है।[4] दिगम्बर परम्परा में यह संस्कार प्रियोद्भव(जातकर्म) नामक संस्कार के साथ जन्म के प्रथम दिन ही किया जाता है[5] तथा वैदिक-परम्परा में इस संस्कार को जातकर्म संस्कार के साथ जन्म के प्रथम दिन ही सम्पन्न करने का उल्लेख है।[6]

क्षीराशन संस्कार में प्रयुक्त सामग्री

इस संस्कार में प्रयुक्त होने वाली सामग्री का निर्देश श्वेताम्बर, दिगम्बर एवं वैदिक तीनों परम्पराओं में नहीं है। दिगम्बर एवं वैदिक परम्परा में तो इस नाम का अलग से कोई संस्कार ही नहीं है, अतः उनमें इस सामग्री का पाया जाना असंभव ही है, परन्तु आचारदिनकर में भी तत्सम्बन्धी सामग्री का उल्लेख नहीं हुआ है। हम इस संस्कार विधि का सम्यक् परिचय ज्ञात कर आवश्यक सामग्री का सूचन कर सकते हैं। वह इस प्रकार है - 1. एक बड़ा पात्र 2. विविध तीर्थों के जल। ये दो सामग्रियाँ ही इस संस्कार हेतु अपेक्षित होती हैं।

क्षीराशन संस्कार की शास्त्रोक्त विधि

श्वेताम्बर– श्वेताम्बर परम्परा में क्षीराशन संस्कार की विधि इस प्रकार निर्दिष्ट है[7]– • सर्वप्रथम पूर्वोक्त गुण सम्पन्न गृहस्थ गुरु अमृत मंत्र द्वारा तीर्थोदक को एक सौ आठ बार अभिमंत्रित करे। • फिर उस अभिमंत्रित जल द्वारा बालक को और माता के दोनों स्तनों को अभिसिंचित करे। उसके बाद माता की गोद में स्थित शिशु की नासिका को माता के स्तन से लगाए। फिर स्तन का पान करते हुए बालक को विधिकारक गुरु मंत्रोच्चार पूर्वक तीन बार आशीर्वाद दें। आशीर्वाद मन्त्र निम्न है -

“अर्हं जीवोऽसि, आत्मासि, पुरूषोऽसि, शब्दज्ञोऽसि, रूपज्ञोऽसि, रसज्ञोऽसि, गन्धज्ञोऽसि, स्पर्शज्ञोऽसि, सदाहारोऽसि, कृताहारोऽसि, अभ्यस्ताहारोऽसि, कावलिकाहारोऽसि, लोभाहारोऽसि औदारिक शरीरोऽसि,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनेहाहारेण तवांङ् वर्द्धतां, बलं वर्द्धतां, तेजो वर्द्धतां, पाटवं वर्द्धतां, सोष्ठवं वर्द्धतां, पूर्णायुर्भव, अर्हं ऊँ।''

दिगम्बर– दिगम्बर-परम्परा में क्षीराशन संस्कार की पृथक् रूप से कोई विधि नहीं दी गई है। इसमें प्रियोद्भव (जातकर्म)नामक संस्कार विधि के अन्तर्गत ही इसकी चर्चा की गई है। तदनुसार शिशु का पिता मन्त्रोच्चार पूर्वक यह कहता है - 'तू तीर्थंकर की माता के स्तन का पान करने वाला हो।' ऐसा कहते हुए माता के स्तन को अभिमन्त्रित कर, उसे बालक के मुँह में लगा दे।

- उसके बाद प्रीति पूर्वक दान करते हुए जन्मकाल की क्रिया को समाप्त करे।[8]

दिगम्बर परम्परा में इस संस्कार की इतनी ही विधि दृष्टिगत होती है।

वैदिक– वैदिक-परम्परा में भी क्षीराशन संस्कार विधि की पृथक् रूप से कोई चर्चा नहीं है। जातकर्म संस्कार के अवसर पर इस संस्कार को सम्पन्न करने का वर्णन उपलब्ध होता है। वैदिक परम्परा में जातकर्म संस्कार के दिन प्रमुख रूप से दस प्रकार के कृत्य किए जाते हैं। उनमें एक कृत्य स्तन-प्रतिधान या स्तनप्रदान से सम्बन्धित होता है। यह चर्चा बृहदारण्यकोपनिषदपारस्कर, वाजसनेयीसंहिता, आपस्तब, भारद्वाज आदि ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से हुई है तथा इस संस्कार कर्म द्वारा बच्चे को स्तनपान कराने की क्रिया की जाती है। इनमें इतना भेद अवश्य है कि कहीं एक स्तन के लिए और कहीं दोनों स्तनों के लिए मन्त्रोच्चारण का उल्लेख हुआ है।[9]

क्षीराशन संस्कार का तुलनात्मक विवेचन

यदि हम क्षीराशन संस्कार विधि का तुलनात्मक विवेचन करते हैं तो निष्कर्ष के रूप में अग्र लिखित बिन्दु और अधिक स्पष्ट हो जाते हैं।

नाम विषयक– क्षीराशन नामक संस्कार की चर्चा केवल श्वेताम्बर परम्परा के आचारदिनकर में ही उपलब्ध होती है, इसके सिवाय दिगम्बर, वैदिक या श्वेताम्बर परम्परा के अन्य किसी भी ग्रन्थ में इसका वर्णन नहीं है। इसका मतलब यह नहीं है कि दिगम्बर एवं वैदिक परम्परा में इस संस्कार को स्वीकार ही नहीं किया गया हो। इन परम्पराओं में यह संस्कार विशिष्ट कृत्य के रूप में किया जाता है तथा जातकर्म संस्कार में इस संस्कार का अन्तर्भाव कर लिया गया है।

अधिकारी विषयक– श्वेताम्बर परम्परा में इस संस्कार को जैन ब्राह्मण या क्षुल्लक द्वारा कराए जाने का निर्देश दिया गया है, जबकि दिगम्बर एवं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वैदिक परम्परा में यह संस्कार शिशु के माता-पिता द्वारा किए जाने का सूचन है।

काल विषयक– श्वेताम्बर परम्परा के मतानुसार यह संस्कार जन्म के तीसरे दिन किया जाना चाहिए किन्तु दिगम्बर एवं वैदिक मत में अपनी कुल-परम्परा के अनुरूप जन्म के दिन ही इसे सम्पन्न करने का उल्लेख है।

मन्त्र विषयक– श्वेताम्बर, दिगम्बर एवं वैदिक-तीनों परम्पराओं में स्तनपान से सम्बन्धित मन्त्रों का उल्लेख किया गया है, किन्तु मन्त्रोच्चार एवं मन्त्र-प्रक्रिया की पद्धतियाँ भिन्न-भिन्न हैं।

श्वेताम्बर परम्परा में तीर्थोदक को अमृत मंत्र द्वारा अभिमन्त्रित कर उससे माता के स्तनों को अभिसिञ्चित करने हेतु कहा गया है। वह अमृत मंत्र इस प्रकार है-*"अमृते अमृतोद्भवे अमृतवर्षिणी अमृतं श्रावय-श्रावय स्वाहा।"*[10]

दिगम्बर परम्परा में 'विश्वेश्वरीस्तन्यभागी भूया:' इस मन्त्रोच्चार द्वारा माता के स्तन को मन्त्रित करने का संकेत है।[11]

वैदिक परम्परा में स्तनों को अभिमन्त्रित करने का विवरण तो उपलब्ध होता है, किन्तु वह मन्त्र कौनसा है ? यह अस्पष्ट है[12]।

इस प्रकार तीनों परम्पराओं में प्रथम स्तनपान करने की प्रक्रिया को उपयोगिता के साथ स्वीकारा गया है।

विधि विषयक– श्वेताम्बर परम्परा में क्षीराशन संस्कार की अति संक्षिप्त विधि दर्शाई गई है। इसमें योग्य जल को अधिवासित करना, माता के स्तनों का सिंचन करना तथा दूध पीते हुए बालक के लिए मंत्रोच्चारपूर्वक आशीर्वाद प्रदान करना आदि कृत्य प्रमुख रूप से होते हैं। दिगम्बर एवं वैदिक परम्परा में इस संस्कार की अलग से कोई विधि नहीं दी गई है, केवल मन्त्रोच्चार पूर्वक माता द्वारा बालक को स्तनपान कराने की बात कही गई है।

हम देखते हैं कि श्वेताम्बर परम्परा में क्षीराशन संस्कार का पृथक अस्तित्व माना गया है जबकि दिगम्बर एवं वैदिक मत में इस संस्कार का कोई अलग स्थान नहीं है।

उपसंहार

जैन परम्परा के संस्कारों में क्षीराशन संस्कार का अद्वितीय स्थान रहा हुआ है। इस संस्कार विधि द्वारा नवजात शिशु को सर्वप्रथम माता का स्तनपान करवाया जाता है। विधि-विधान एवं मंत्रोच्चार की प्रक्रिया द्वारा माता के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्तर्भावों एवं स्तनपान की प्रक्रिया को सक्रिय एवं सशक्त किया जाता है। स्तनपान से झरने वाले दूध को अमृत की संज्ञा दी गई है। अमृत का गुण शरीर को हृष्ट-पुष्ट एवं मजबूत करना है। बालक का शरीर भी हृष्ट-पुष्ट एवं बलवान् हो, इसी उद्देश्य को लेकर यह संस्कार सम्पन्न किया जाता है।

नवजात शिशु के लिए दुग्धाहार उत्तम गुणकारी माना गया है। यही आहार आसानी से पचता है और बलवृद्धि भी करता है। चिकित्सकों एवं आधुनिक डाक्टरों का भी यह अभिमत है कि शरीर, मन एवं विचारों की आरोग्यता बनाए रखने के लिए जीवन की प्रारम्भिक वय में माता के स्तनों के दुग्ध का पान कराया जाना चाहिए। आधुनिक जीवन-प्रणाली में भी इस आहार की आवश्यकता और अनिवार्यता प्रत्यक्षतः देखी जाती है। इस दुनियाँ में जीने वाला लगभग प्रत्येक मानव प्रातःकाल सबसे पहले दुग्ध का सेवन अवश्य करता है, फिर वह बाल हो या वृद्ध, पुरूष हो या नारी, रोगी हो या निरोगी- इस आहार की उपादेयता सभी के लिए समान रूप से स्वीकारी गई है।

सन्दर्भ-सूची

1. *आचारदिनकर, पृ. 12*
2. *आदिपुराण, पर्व-40, पृ. 304-305*
3. *हिन्दूसंस्कार, पृ. 94*
4. *आचारदिनकर, पृ. 12*
5. *आदिपुराण, पर्व-40, पृ. 305*
6. *धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ. 194*
7. *आचारदिनकर, पृ. 12*
8. *आदिपुराण, पर्व-40, पृ. 305*
9. *धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ. 193-94*
10. *आचारदिनकर, पृ. 12*
11. *आदिपुराण, पर्व-40, पृ. 305*
12. *धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ. 194*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अध्याय - 7

षष्ठी संस्कार विधि का व्यावहारिक स्वरूप

आर्य संस्कृति में देवी-देवताओं की आराधना का विशेष महत्त्व प्राच्य काल से ही रहा है। विविध सन्दर्भों में भिन्न-भिन्न निमित्तों से विभिन्न देवी-देवताओं का स्मरण किया जाता है। यह संस्कार षष्ठी नामक देवी से सम्बन्ध रखता है। इस संस्कार में प्रमुख रूप से देवी-माताओं की पूजा की जाती है। श्वेताम्बर परम्परा में षष्ठी संस्कार का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह संस्कार श्वेताम्बर परम्परा में ही उपलब्ध होता है, दिगम्बर एवं वैदिक परम्परा में इस नाम का एक भी संस्कार उपलब्ध नहीं होता है। यद्यपि वैदिक परम्परा में मातृकादेवी पूजन का उल्लेख अवश्य है, किन्तु संस्कार के नाम से पृथक पूजन करने का कोई वर्णन नहीं है। इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि षष्ठी नामक यह संस्कार श्वेताम्बर परम्परा का निजी संस्कार है। किन्तु इस संस्कार पर अन्य परम्परा का कोई प्रभाव नहीं हो यह कहना भी कठिन है, क्योंकि पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार में षष्ठी माता के पूजन का प्रचलन आज भी है।

षष्ठी संस्कार का अर्थ

आचारदिनकर में इस संस्कार का तात्पर्य ब्राह्मी आदि आठ माताओं एवं अंबिकादेवी के पूजन से है।[1] यहाँ षष्ठी शब्द संस्कार अर्थ को द्योतित नहीं करता है। संभवतः यह शब्द कालवाची अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

दिगम्बर परम्परा में इस नाम का कोई संस्कार ही नहीं है। वैदिक परम्परा में भी षष्ठी नामक संस्कार का अभाव ही है, परन्तु मातृका-पूजन करने का वर्णन अवश्य उपलब्ध होता है। गोभिलस्मृति (1/13) में कहा गया है कि सभी कृत्यों के आरम्भ में गणाधीश(गणपति) के साथ मातृका की पूजा होनी चाहिए।[2] गोभिलस्मृति (1/11-12) में चौदह मातृकाओं के नाम भी गिनाए गए हैं। वे इस प्रकार हैं - गौरी, पद्मा, शची, मेधा, सावित्री, विजया, जया, देवसेना, स्वधा, स्वाहा, धृति, पुष्टि, तुष्टि एवं इष्टदेवी। मार्कण्डेय (88/11-20 एवं 33) में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मातृगण के नाम से सात माताओं के नाम निर्दिष्ट हैं। मत्स्यपुराण (179/9-32) में शताधिक देवियों के नामों का उल्लेख हैं जैसे-माहेश्वरी, ब्राह्मी, कौमारी, चामुण्डा आदि।[3] इस प्रकार वैदिक-परम्परा के ग्रन्थों में मातृका पूजन एवं मातृका के नामों की सुस्पष्ट चर्चा प्राप्त होती है।

हिन्दू परम्परा में षष्ठी का अभिप्राय षष्ठी देवी से है। वह देवी कात्यायनी के नाम से प्रसिद्ध है और दुर्गा का ही एक रूप मानी जाती है। साथ ही सोलह विद्या देवियों में से एक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन एवं हिन्दू परम्परा में षष्ठी देवी का अर्थ भिन्न-भिन्न हैं।

षष्ठी संस्कार की आवश्यकता क्यों और कब से?

इस संस्कार को प्रारम्भ करने की आवश्यकता क्यों और किस स्थिति में हुई? इस संस्कार को सम्पादित करने का मुख्य प्रयोजन क्या रहा होगा? इत्यादि बिन्दुओं पर विचार करते हैं, तो चिन्तन का निष्कर्ष यह कहता है कि नवजात शिशु पर किसी प्रकार का अमंगलकारी, अनिष्टकारी एवं अकल्याणकारी उपद्रव न हो, किसी भी प्रकार की आसुरी शक्तियों का आक्रमण न हो, कोई दुष्ट देव कुपित होकर शिशु का अपहरण न कर ले, एतदर्थ माताओं का पूजन किया जाता है। प्राचीनकाल में उपद्रव आदि की संभावनाएँ विशेष रहती होंगी, अशुभ शक्तियों का प्रभाव मुख्य तौर पर देखा जाता होगा अथवा किसी प्रकार की अमंगलकारी घटनाएँ घटित हुई होंगी, अतः इन परिस्थितियों में इस संस्कार का प्रादुर्भाव हुआ-ऐसा जान पड़ता है। आज भी ग्रामीण इलाकों में आसुरी-शक्तियों द्वारा होने वाले उपद्रवों की घटनाएँ सुनने में आती हैं। यह उपद्रव किसी दुष्ट देवता द्वारा ईर्ष्या के वशीभूत होकर या स्वयं के पूर्वकृत कर्मों के परिणामस्वरूप या मनोरंजन करने की दृष्टि से हुआ करता है।

जैन दर्शन की एक अवधारणा यह है कि यदि किसी के साथ बुरा किया है, तो उसका फल भोगना ही पड़ता है, किन्तु जैन दृष्टि की दूसरी विचारणा यह भी है-यदि कोई विशुद्ध रीति से धर्म साधना करता है, तो कृत पाप कर्म निर्जरित हो जाते हैं। यहाँ माताओं के पूजन करने का हार्द यही है।

किसी मानव मन में यह प्रश्न तरंगित हो सकता है कि यदि पाप कर्मों का क्षरण करना है, तो उसका मातृकाओं की आराधना से क्या सम्बन्ध है? ये मुक्तिगामिनी तो है नहीं, अतः तीर्थंकर भगवन्तों की आराधना-अर्चना करनी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चाहिए। बात बिल्कुल सत्य है, परन्तु इस संस्कार में कुल परम्परा को विशिष्ट स्थान दिया गया है। यह बात जैन आगम ग्रन्थों में भी स्पष्ट रूप से पढ़ने को मिलती है। पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आ रही परम्परा को कुल-परम्परा कहते हैं। कुल परम्परा का पालन करना भी अनिवार्य होता है, अतः इस संस्कार में कुल परम्परा का निर्वाह करने के लिए माताओं का पूजन किया जाता है। इन माताओं को अपार शक्ति का पुंज माना गया है तथा इन माताओं की अर्चना करने से अनिष्ट का निवारण होता है और इष्ट कार्य की प्राप्ति होती है ऐसा भी स्वीकारा गया है। इसी हेतु इनका पूजन-विधान किया जाता है।

उक्त वर्णन के आधार पर यह सिद्ध होता है कि अमंगलकारी शक्तियों का निवारण एवं मंगलकारी शक्तियों की प्राप्ति के लिए यह संस्कार किया जाता है। इस संस्कार का दूसरा प्रयोजन यह भी माना जा सकता है कि नवजात का अविकसित मस्तिष्क बहुत कोमल होता है। वह कोमल अंग किसी प्रकार की अशुभ शक्तियों से उपहत न हो जाए, इससे बचने के लिए यह संस्कार किया जाता है। इस संस्कार की आवश्यकता कुल-परम्परा का निर्वाह करने के लिए भी स्वीकारी गई है। ऐसे कई कारण षष्ठी संस्कार की आवश्यकता और उपादेयता को सुसिद्ध करते हैं।

जन्म के छठवें दिन ही षष्ठी संस्कार क्यों?

षष्ठी देवी विशेष का नाम है। जैन धर्म में षष्ठी देवी का आशय ब्राह्मी आदि आठ माताओं एवं अंबिका नाम की देवी से है। जबकि हिन्दू धर्म में षष्ठी का अर्थ-षष्ठी नाम की देवी से ही है।

पुराण साहित्य में षष्ठी देवी को शिशुओं की अधिष्ठात्री देवी के रूप में निरूपित किया है। इस संस्कार का अभिप्राय, बालकों को दीर्घायु प्रदान करते हुए उनका संरक्षण एवं भरण-पोषण करना जो षष्ठी देवी का स्वाभाविक गुण है।

यह मान्यता है कि शिशु जन्म की छठवीं रात्रि में बालक के लिए विशेष अरिष्ट-योग रहता है, अनेक भूत बाधाएँ उपस्थित होने की संभावनाएँ रहती हैं, अतएव बालक की रक्षा के लिए ही जन्म के छठवें दिन षष्ठी देवी की आराधना की जाती है। हिन्दू अवधारणा में यह बात भी स्वीकारी गई है कि भगवती षष्ठी देवी अपने योग के प्रभाव से शिशुओं के पास सदैव वृद्ध माता के रूप में विद्यमान रहती हैं। बालकों को स्वप्न में खिलाती, हंसाती, दुलारती एवं अभूतपूर्व वात्सल्य प्रदान करती रहती हैं, इसी कारण सभी शिशु अधिकांश

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समय सोना ही पसंद करते हैं। आंख खुलते ही बालक की दृष्टि से भगवती ओझल हो जाती है, अत: कभी-कभी शिशु बहुत जोर से रोने भी लगते हैं।

यह मननीय है कि बालक के जन्म होने के साथ ही घर में दस दिन का सूतक लग जाता है। इस अवधि में घर में प्रतिष्ठित देवताओं का पूजन परिवार के असगोत्रीय सदस्य (बहन-बेटी के परिवार) या ब्राह्मण द्वारा करवाया जाता है इसी कारण नामकरण संस्कार और हवन-पूजन का विधान ग्यारहवें दिन सम्पन्न किया जाता है, किन्तु पुराणों के अनुसार षष्ठी देवी का पूजन बालक के माता-पिता द्वारा छठवें दिन किया जाता है, इसमें जनना शौच का विचार नहीं माना गया है।

षष्ठी देवी का पूजन प्राय: शाम को करने की परम्परा है, तदनन्तर रात्रिभर जागरण करते हैं।

इसमें जैन परम्परा की भांति षष्ठी देवी की प्रतिमा किसी काष्ठ पीठ या दीवार पर बनाई जाती है अथवा सुपारी, अक्षत पुन्ज आदि पर भी पूजा करने की परिपाटी है।

हिन्दू परम्परा षष्ठी पूजा की एक सुव्यवस्थित विधि भी है।[4] आज बालकों के जन्म के छठवें दिन प्रसूतिगृह में षष्ठी-पूजन संस्कार का विधान प्रचलित है। इस वर्णन से सुसिद्ध है कि षष्ठी देवी की उपासना का महत्त्व वैदिक परम्परा में भी पुरातनकाल से रहा हुआ है।

षष्ठी संस्कार करवाने का अधिकारी

यह संस्कार श्वेताम्बर परम्परा में ही मान्य है अत: आचारदिनकर में इस संस्कार को सम्पन्न करने का अधिकार जैन ब्राह्मण या क्षुल्लक को प्रदान किया गया है।

षष्ठी संस्कार के लिए मुहूर्त्त विचार

यह संस्कार किसी शुभ दिन या शुभ नक्षत्र आदि में सम्पन्न किया जाता हो-ऐसा नहीं है। इस संस्कार कर्म के लिए शुभ दिन को अपेक्षित नहीं माना गया है। यह किसी निश्चित दिन विशेष में सुसम्पन्न किया जाता है।

षष्ठी संस्कार हेतु श्रेष्ठ काल

श्वेताम्बर परम्परा में यह संस्कार जातक के जन्म से छठवें दिन संध्या के समय किया जाता है।[5] दिगम्बर एवं वैदिक परम्परा में षष्ठी नाम का संस्कार ही प्रचलित नहीं है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

षष्ठी संस्कार के लिए आवश्यक सामग्री

षष्ठी संस्कार को सम्पन्न करने के लिए अग्रलिखित सामग्री आवश्यक मानी गई है- (1) चंदन (2) दही (3) दूर्वा (4) अक्षत (5) कुंकुम (6) लेखिनी(खडिया) (7) हिंगुलादिवर्ण (8) पूजा के उपकरण (9) नैवेद्य (10) सधवा स्त्रियाँ (11) दर्भ(कुश-घास) (12) भूमि लेपन और (13) षष्ठी जागरण हेतु अपेक्षित अन्य सब वस्तुएँ।[6]

विभिन्न ग्रन्थों में षष्ठी संस्कार विधि

श्वेताम्बर परम्परा में षष्ठी संस्कार की विधि इस प्रकार दर्शाई गई है[7] –

• सर्वप्रथम यह संस्कार सम्पन्न करने के लिए जन्म से छठवें दिन की संध्या में गृहस्थ गुरु प्रसूतिकक्ष के समीप आए। षष्ठी पूजन में सूतक का दोष नहीं लगता है। • फिर सधवा स्त्रियाँ सूतिकागृह के भित्ति भाग एवं भूमि भाग पर अपने हाथों से गोबर का लेप करें। • उसके बाद शुक्र-बृहस्पति किस दिशा की ओर भ्रमण कर रहे हैं, ऐसा ज्योतिष के आधार पर देखकर शुक्र-बृहस्पति के भ्रमण करने की दिशा वाले भित्ति भाग को खड़िया मिट्टी(सफेद मिट्टी) आदि से सफेद कराए। • फिर उस भूमि भाग को चारों तरफ से सुशोभित कराए। • तदनन्तर भित्ति के सफेद वाले भाग पर सधवा स्त्रियाँ हाथों से कुंकुम-हिंगुल आदि लाल वर्णों द्वारा आठ खड़ी हुई, आठ बैठी हुई एवं आठ सोई हुई माताओं का आलेखन करें। • उसके बाद सौभाग्यवती नारियाँ मंगल गीत गाएं। • तत्पश्चात गृहस्थ गुरु चौकोर शुभ आसन पर बैठकर निम्न क्रम से माताओं की मंत्र पूर्वक पूजा करें।

• इस पूजा के क्रम में खड़ी हुई माताओं में से सर्वप्रथम सरस्वतीदेवी का आह्वान करे, संनिधान करे, फिर उसकी स्थापना करे और फिर चन्दन, धूप, दीप, अक्षत, नैवेद्य आदि को मंत्र पूर्वक अर्पित करें। इसी प्रकार शेष सात माताओं की भी निर्दिष्ट मंत्र पूर्वक चन्दन आदि द्वारा पूजा करें। उसके बाद बैठी हुई एवं सोई हुई माताओं का भी पूर्वोक्त मन्त्रों द्वारा तीन बार पूजन करें। कहीं-कहीं चामुण्डा और त्रिपुरा को छोड़कर छः माताओं का ही पूजन किया जाता है।

आठ माताओं के नाम ये हैं - (1) सरस्वती (2) माहेश्वरी (3) कौमारी (4) वैष्णवी (5) वाराही (6) इन्द्राणी (7) चामुण्डा और (8) त्रिपुरा।

• इन आठ माताओं की आलेखित आकृतियों का पूजन कर लेने के बाद मातृ-स्थापना के अग्रभूमि भाग पर चन्दन का लेप करे और उस पर अंबिका रूप

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

षष्ठी माता की स्थापना करे। • फिर दधि, चंदन, अक्षत, दूर्वा आदि द्वारा षष्ठी माता की पूजा करे। • उसके बाद आठ माताओं की तरह पुनः षष्ठी माता का पूजन करे। तत्पश्चात नवजात बालक की माता सहित कुल वृद्धाएँ, सधवा स्त्रियाँ आदि गीत गाते हुए एवं वाद्य यन्त्र बजाते हुए षष्ठी रात्रि का जागरण करें।

• दूसरे दिन प्रातःकाल में गृहस्थ गुरु प्रत्येक माता का नाम लेकर आठ माताओं एवं षष्ठी माता का विसर्जन करे। • फिर नमस्कार मंत्र से मंत्रित किए हुए जल द्वारा बालक को अभिसिंचित करे तथा वेदमंत्र का उच्चारण करते हुए आशीर्वाद प्रदान करे।

इस प्रकार यह संस्कार विधि आठ माताओं एवं षष्ठी माता के आह्वान, स्थापन, पूजन एवं विसर्जन पूर्वक सम्पन्न की जाती है।

षष्ठी संस्कार विधि का तुलनात्मक विश्लेषण

षष्ठी संस्कार कर्म का तुलनात्मक विवेचन जैन ग्रन्थों (श्वेताम्बर ग्रन्थों) के आधार पर ही किया जा सकता है क्योंकि अन्य परम्पराओं में इस नाम का संस्कार ही नहीं है। जैन ग्रन्थों के साथ भी यह समस्या है कि षष्ठी नाम से इस संस्कार का उल्लेख एक मात्र आचारदिनकर नामक ग्रन्थ में ही उपलब्ध होता है, इसके सिवाय प्राचीन या अर्वाचीन किन्हीं भी ग्रन्थों में इस नाम के संस्कार का कोई उल्लेख नहीं है। यद्यपि इतना अवश्य जानने योग्य है कि जैन आगम ग्रन्थों में इस संस्कार का उल्लेख धर्म जागरण या रात्रि जागरण के नाम से प्राप्त होता है और उनमें संस्कार के काल का यत्किंचित् हेर-फेर भी है। ज्ञाताधर्मकथासूत्र[8] में दूसरे दिन रात्रि जागरण करने का निर्देश दिया गया है, जबकि औपपातिक,[9] राजप्रश्नीय[10] एवं कल्पसूत्र[11] में जन्म से छठवी रात्रि में धर्म जागरण करने का सूचन किया गया है। आचारदिनकर में षष्ठी संस्कार का काल जन्म से छठवां दिन ही बताया गया है।

जब हम वर्धमानसूरिकृत षष्ठीसंस्कारविधि का अवलोकन करते हैं, तो यह पक्ष भी सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य वर्धमानसूरि ने इस संस्कार को आगमिक परम्परा एवं कुल परम्परा- दोनों से जोड़े रखा है। आचारदिनकर में रात्रि जागरण करने का जो उल्लेख है, यह आगम-परम्परा का अनुसरण है तथा आठ माताओं सह षष्ठी माता का विधिपूर्वक पूजन आदि करना यह कुल परम्परा का निर्वाहन है। यह संस्कार आगम एवं कुल-दोनों परम्पराओं का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संमिश्रित रूप होने से इसका महत्त्व शतगुना बढ़ जाता है। इससे सुस्पष्ट है कि षष्ठी संस्कार का अस्तित्व स्वतन्त्र और सर्व ग्राह्य है।

श्वेताम्बरमान्य आचारदिनकरकृत षष्ठी संस्कार की अपनी कई विशिष्टताएँ हैं-

नाम की दृष्टि से– इस संस्कार का 'षष्ठी' नाम रखने के पीछे कई रहस्य हैं। सामान्यतया यह संस्कार जन्म से छठवें दिन में किया जाता है और इसमें षष्ठी माता(अंबिकादेवी) की पूजन पूर्वक आराधना की जाती है। कुछ लोग चामुण्डा और त्रिपुरा को छोड़कर शेष छः माताओं का ही पूजन करते हैं। इस प्रकार 'षष्ठी' नाम में अनेक अर्थ अन्तर्निहित किए गए हैं।

काल की दृष्टि से– इस संस्कार का काल कुलोचित व्यवहार का परिपालन एवं दैहिक शुद्धि की दृष्टि से सर्वथा उचित लगता है। यह काल निर्धारण आगम सम्मत भी है।

मन्त्र की दृष्टि से– आचार्य वर्धमानसूरि ने इस संस्कार को मन्त्र प्रधान बना दिया है। इसमें प्रत्येक माताओं के आह्वान, संनिधान, स्थापन एवं पूजन करने सम्बन्धी पृथक्-पृथक् मन्त्र दिए गए हैं। साथ ही आशीर्वाद मन्त्र का भी उल्लेख है। मन्त्र प्रयोग के आधार पर संस्कार कर्म का प्रभाव और परिणाम दोनों का अतिशय बढ़ जाता है।

विधि की दृष्टि से– श्वेताम्बर परम्परा में मान्य यह संस्कार विधि पूर्णतः आगमिक एवं कुल परम्परा से जुड़ी हुई है। इस विधि का प्रत्येक चरण अपनी-अपनी परम्परा का निर्वाह करने को उत्प्रेरित करता है तथा परम्परा का पालन करना एक बहुत बड़ा सूत्र है।

श्वेताम्बर आम्नाय में स्वीकृत यह संस्कार विधि अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण एवं सर्वांगीण है। इस संस्कार विधि का स्वतन्त्र अस्तित्व पूर्ण सुरक्षित एवं अनुकरणीय है।

उपसंहार

जैन परम्परा में बालक के जन्म से छठवें दिन में विधि-विधान एवं मंत्रोच्चार पूर्वक सुसम्पन्न किए जाने वाला षष्ठी संस्कार अत्यन्त प्राचीन मालूम होता है। इस संस्कार के बीज आगम ग्रन्थों में सुस्पष्ट देखने को मिलते हैं। इससे निश्चित है कि इस संस्कार का प्रादुर्भाव आगमयुग में हो चुका था। यद्यपि इतना अवश्य है कि जैन आगम साहित्य के काल में इस संस्कार का स्वरूप सामान्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

था। उस समय यह संस्कार किस रूप में और किस प्रकार सम्पन्न किया जाता था, इस विषय में कोई विवरण पढ़ने को नहीं मिलता है। षष्ठी संस्कार की क्या विधि थी? यह भी अज्ञात है, परन्तु पन्द्रहवीं शती तक आते-आते इस संस्कार का कायाकल्प ही बदल गया हो ऐसा प्रतीत होता है। आचारदिनकर में षष्ठी संस्कार विधि समुचित एवं विस्तृत रूप में देखने को मिलती है।

इस संस्कार विधि का मुख्य प्रयोजन अनिष्ट शक्तियों का निवारण करना एवं अभीप्सित कार्य की पूर्ति करना रहा है। इस संस्कार के अन्य प्रयोजन कुल परम्परा का निर्वहन करना, कुल देवियों को सन्तुष्ट रखना, कुल माताओं को शिशु रक्षणार्थ जागृत रखना, कुल माताओं की महिमा को बढ़ाते रहना इत्यादि भी माने जा सकते है।

वस्तुतः यह संस्कार पारिवारिक, लौकिक एवं व्यावहारिक जीवन को सुखी-सम्पन्न बनाए रखने के लिए अति उपयोगी एवं लाभदायी है। सुखी-सम्पन्न एवं प्रसन्नचित्त रहना गृहस्थ धर्म का आवश्यक गुण माना गया है। यही कारण है कि इस संस्कार को धर्म संस्कार की कोटि में रखा गया है।

सन्दर्भ-सूची

1. *आचारदिनकर, पृ. 12-13*
2. *धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ. 186*
3. *वही, पृ. 187*
4. *संस्कारअंक, जनवरी सन् 2006, पृ. 293-296*
5. *आचारदिनकर, पृ. 12*
6. *वही, पृ. 12-13*
7. *वही, पृ. 13*
8. *ज्ञाताधर्मकथासूत्र, अंगसुत्ताणि, 1/81*
9. *औपपातिकसूत्र, मधुकरमुनि, सू. 106*
10. *राजप्रश्नीयसूत्र, मधुकरमुनि, सू. 280*
11. *कल्पसूत्र, 101*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अध्याय - 8

शुचिकर्म संस्कार विधि का ऐतिहासिक स्वरूप

भारतीय परम्परा में जन्म एवं मृत्यु के पश्चात शोक निवारण या शुचि निवारण की विशेष परम्परा रही है। हर्ष या शोक के अतिरेक से मुक्ति पाने हेतु यह श्रेष्ठ उपाय है। जन्म के पश्चात अशुचि निवारण हेतु शुचि संस्कार किया जाता है। यह संस्कार दैहिक शुद्धि, स्थान शुद्धि एवं वातावरण शुद्धि के निमित्त किए जाने वाले विधि-विधानों से सम्बन्धित है। इस संस्कार द्वारा प्रसूता नारी, प्रसूत बालक एवं प्रसव स्थल– इन तीनों की शुद्धि की जाती है। यह संस्कार पवित्रता-स्वच्छता की दृष्टि से विशिष्ट महत्त्व रखता है। श्वेताम्बर परम्परा में इस संस्कार को शुचिकर्म संस्कार के नाम से अभिहित किया है। दिगम्बर एवं वैदिक परम्परा में इस नाम का स्वतन्त्र रूप से कोई संस्कार नहीं है। इन दोनों परम्पराओं में इस संस्कार सम्बन्धी क्रियाकलापों को जातकर्म संस्कार के साथ समाहित कर दिया गया है।

यदि हम सामान्य दृष्टि से विचार करें तो यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि भारतीय संस्कृति की सभी परम्पराओं में इस संस्कार से सम्बन्धित क्रियाकलाप किये जाते हैं। सभी परम्पराएँ किसी न किसी रूप में प्रसव क्रिया से उत्पन्न होने वाली अशुद्धि को अवश्यमेव दूर करती हैं। इस सम्बन्ध में इतना विशेष है कि श्वेताम्बर परम्परा में प्रसव विषयक अशुद्धि को दूर करने की एक सुव्यवस्थित एवं सुनिश्चित विधि प्राप्त होती है। प्रत्येक जैन व्यक्ति इस संस्कार कर्म को विधि पूर्वक एवं क्रम पूर्वक सम्पादित करने के बाद ही धर्म स्थान में आने का और धर्माराधना करने का अधिकारी बन सकता है। श्वेताम्बर परम्परा की यह संस्कार विधि धार्मिक दृष्टि से भी कम मूल्य नहीं रखती है।

दिगम्बर एवं वैदिक धारा में इस संस्कार की स्वतंत्र विधि का अभाव है। वहाँ भी अशुचि दूर करने सम्बन्धी कुछ विधि-विधान तो निरूपित हुए हैं किन्तु उन्हें जातकर्म में ही समाहित कर दिया गया है जबकि श्वेताम्बर परम्परा में षष्ठी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संस्कार की तरह शुचिकर्म संस्कार का भी स्वतन्त्र एवं मौलिक स्थान है। यही इस संस्कार की अद्वितीय विशिष्टता है।

शुचिकर्म संस्कार का अर्थपरक विश्लेषण

शुचि शब्द अनेकार्थवाची है। शुचि शब्द के विभिन्न अर्थ होते हैं-विमल, विशुद्ध, स्वच्छ, सद्गुणी, उज्ज्वल, पवित्रात्मा, पुण्यात्मा, निष्पाप, निष्कलंक, शुद्धता, यथार्थता, सच्चा, निर्मल किया हुआ, पुनीत किया हुआ आदि।[1]

प्रस्तुत अध्याय में शुचि शब्द से तात्पर्य-स्वच्छता, पवित्रता, विशुद्धता, निर्मलता आदि अर्थों से है अर्थात प्रसूति सम्बन्धी अशुद्धि का निवारण करना, प्रसूता नारी की दैहिक शुद्धि करना, प्रसूति स्थल को स्वच्छ करना, प्रसवमय वातावरण को पवित्र करना शुचिकर्म संस्कार है। यह संस्कार विधि-विधान पूर्वक किया जाता है।

शुचिकर्म संस्कार की लौकिक आवश्यकता

जब हम यह विचार करते हैं कि शुचिकर्म संस्कार का मुख्य प्रयोजन क्या हो सकता है? इस संस्कार की आवश्यकता क्यों महसूस की गई? इस संस्कार का उद्देश्य क्या रहा होगा? तो हमारे सामने अनेक तथ्य प्रस्तुत होते हैं।

सर्वप्रथम तो प्रसव अशुचि दूर करना गृहस्थ धर्म का एक आवश्यक अंग है। जैन एवं जैनेतर सभी परम्पराओं में अशुचि निवारण का उपक्रम अपने-अपने कुलाचार एवं अपनी-अपनी परम्परा के अनुरूप प्राच्य काल से किया जा रहा है अत: इस संस्कार की आवश्यकता निर्विवाद सिद्ध है। यह संस्कार बाह्य शुद्धि पर आधारित है।

गहराई से चिंतन करें तो जैन दर्शन की द्रव्य शुद्धि एवं भाव शुद्धि की अवधारणा भी पूर्ण रूप से लागू होती है। बाह्य शुद्धि (द्रव्य शुद्धि) के आधार पर ही आभ्यन्तर शुद्धि(भावशुद्धि) अवलम्बित है अर्थात इस संस्कार कर्म द्वारा बाह्य शुद्धि करने वाला साधक ही आभ्यन्तर शुद्धि की ओर अग्रसर हो सकता है। इस दृष्टि से यह संस्कार धार्मिक जीवन का भी एक अंग माना जा सकता है। जैन परम्परा में इस संस्कार का मुख्य उद्देश्य भी यही रहा है। इस संस्कार की आवश्यकता वैयक्तिक, पारिवारिक, व्यावहारिक एवं धार्मिक दृष्टि से भी प्रत्यक्षत: सिद्ध होती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संक्षेप में कहें तो इस संस्कार विधि के माध्यम से न केवल दैहिक शुद्धि की जाती है अपितु स्थान, वातावरण, मन, बुद्धि एवं आत्मा की भी किसी न किसी रूप में विशुद्धि होती है।

इस संस्कार के सम्बन्ध में यह बात भी विचारणीय है कि जहाँ प्रसव होता है, उस स्थल संबंधी अशुचि का निवारण तत्काल कर दिया जाता है। फिर दसवें या बारहवें या अन्य दिनों में पुन: यह प्रक्रिया क्यों की जाती है ? इसका सटीक जबाव यह है कि नाल का उच्छेदन करने के कारण बालक की एवं रक्तस्राव के कारण माता की अशुचि अनेक दिनों तक बनी रहती है। इसके पीछे एक कारण यह भी कहा जा सकता है कि प्रसव काल की अशुचि का पूर्णतया निवारण न किए जाने पर माता एवं शिशु-दोनों ही किसी प्रकार के संक्रामक रोग या अन्य व्याधि से ग्रसित हो सकते हैं। इसी के साथ अपनी-अपनी परम्परानुसार सूतक का जितना काल बताया गया है, उसका परिपालन करना भी इसका मुख्य हेतु है। इसमें सूतक-काल पूर्ण होने पर विधि पूर्वक अशुचि को दूर करना चाहिए इसीलिए यह संस्कार विधि अन्य दिनों में भी की जाती है। श्वेताम्बर परम्परानुसार प्रसव के दिन दूर की गई अशुद्धि का इस संस्कार के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता है।

शुचिकर्म संस्कार करने के शास्त्र निर्दिष्ट अधिकारी

इस संस्कार की सुव्यवस्थित विधि श्वेताम्बर परम्परा में ही प्रचलित है। अन्य परम्पराओं में इस संस्कार सम्बन्धी यत्किंचित् क्रियाकलाप ही देखे जाते हैं, अत: तदनुसार इस संस्कार सम्बन्धी विस्तृत जानकारी दे पाना असंभव है। श्वेताम्बर आम्नाय में यह संस्कार कर्म करवाने का पूर्ण अधिकारी जैन ब्राह्मण (गृहस्थ गुरु) या क्षुल्लक को माना गया है।[2]

शुचिकर्म संस्कार योग्य मुहूर्त्त विचार

इस संस्कार कर्म को निष्पन्न करने के लिए किसी शुभ दिन को आवश्यक नहीं माना गया है। यह तो अपनी-अपनी कुल परम्परा द्वारा निश्चित किए गए दिन में किया जाता है। इस सम्बन्ध में ब्राह्मण आदि भिन्न-भिन्न वर्णों की कुल परम्पराएँ भिन्न-भिन्न मत रखती हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शुचिकर्म संस्कार विषयक काल विमर्श

श्वेताम्बर परम्परा में इस संस्कार का कोई निश्चित काल नहीं बताया गया है। वर्धमानसूरिकृत आचारदिनकर में इतना लिखा गया है कि अपने-अपने वर्ण के अनुसार निर्धारित दिनों के व्यतीत होने पर शुचिकर्म संस्कार करना चाहिए। इसके साथ यह भी निर्दिष्ट किया है कि ब्राह्मणों को दसवें दिन, क्षत्रियों को बारहवें दिन, वैश्य को सोलहवें दिन और शूद्र को एक महीने में शुचिकर्म करना चाहिए।[3]

यदि हम जैन आगम साहित्य का अवलोकन करते हैं तो उसमें ज्ञाताधर्मकथा[4], औपपातिक[5], राजप्रश्नीय [6] एवं कल्पसूत्र आदि[7] में बारहवें दिन अशुचिकर्म सम्बन्धी क्रियाकलाप करने का निर्देश दिया गया है। इससे ज्ञात होता है कि आगमिक दृष्टि से अशुचिकर्म निवारण विधि जन्म से बारहवें दिन की जानी चाहिए। यदि हम प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन करते हैं तो विधिमार्गप्रपा[8] में पुत्र का सूतक काल सात दिन और पुत्री का सूतक काल आठ दिन माना गया है। इसके आधार पर शुचिकर्म संस्कार की विधि आठवें या नौवें दिन की जानी चाहिए। यदि दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों को देखा जाए तो उनमें सूतक का काल दस दिन माना गया है।[9] वैदिक परम्परा के ग्रन्थों को पढ़ते हैं तो उनमें भी सूतक का काल दस दिन स्वीकार किया गया है।[10] यदि हम वर्तमान युग पर नजर डालें तो जैन परम्परा में यह संस्कार दसवें दिन सम्पन्न किया जाता है।

सामाहारतः काल की दृष्टि से इस संस्कार को सम्पन्न करने के सन्दर्भ में भिन्न-भिन्न अवधारणाएँ रही हैं तथा देशकालगत स्थितियों के आधार पर इनमें परिवर्तन भी होते हुए देखे जाते हैं। सच्चाई के साथ कहें तो आधुनिक युग में यह संस्कार विधि विलुप्त सी हो चुकी है। किन्तु लौकिक न्याय के अनुसार प्रसव-क्रिया चिकित्सालय में होने के बावजूद भी परम्परा के अनुसार घर पर शुचिकर्म संस्कार विधि अवश्यमेव करनी चाहिए। यही युक्ति संगत और धर्म संगत है।

शुचिकर्म संस्कार संपादन में उपयोगी सामग्री

श्वेताम्बर परम्परा के आचारदिनकर में इस संस्कार के लिए निम्न सामग्री आवश्यक मानी गई है- (1) जिनप्रतिमा पूजन की सर्व सामग्री (2) पंचगव्य (3) स्वगोत्रजन (4) सर्वोषधिजल (5) तीर्थोदक (6) नए वस्त्र

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(7) शिशु के आभूषण (8) वादिंत्र (9) साधु को देने योग्य आहार-वस्त्र-पात्र आदि (10) संस्कारकर्त्ता को देने योग्य वस्त्र-आभूषण-मुद्रा आदि।[11]

भारतीय साहित्य में वर्णित शुचिकर्म संस्कार विधि

श्वेताम्बर– श्वेताम्बर-परम्परा के आचार्य वर्धमानसूरि ने शुचिकर्म संस्कार की निम्न विधि प्रस्तुत की है–

सर्वप्रथम गृहस्थ गुरु निज-निज कुल के अनुसार सूतक के दिन व्यतीत होने पर सोलह पुरूषों तक उनके वंशजों का आह्वान करें, क्योंकि सोलह पीढ़ियों तक सूतक का दोष लगता है-ऐसी मान्यता है। • फिर आमन्त्रित किए गए सभी कुटुम्बियों एवं सगोत्रियों को पूर्ण स्नान एवं वस्त्र प्रक्षालन के लिए कहे। • उसके बाद शरीर शुद्धि किए हुए, पवित्र वस्त्र पहने हुए, वे सभी गोत्रज गुरु को साक्षी मानकर जिनप्रतिमा की पूजा करें। • उसके बाद बालक के माता-पिता पंचगव्य से मुख शुद्धि कर स्नान करें। शिशु सहित अपने नाखून काटें। फिर ग्रन्थि से बंधे हुए दंपति जिन-प्रतिमा को नमस्कार करें। सधवा स्त्रियाँ मंगलगीत गाएं, जिनप्रतिमा के आगे नैवेद्य आदि अर्पित करें। साधुओं को यथाशक्ति दान दें। संस्कार कर्त्ता गुरु को वस्त्र-मुद्रा आदि दें। • शुचिकर्म संस्कार के दिन जन्म, चंद्र सूर्य दर्शन, क्षीराशन, षष्ठी-इन संस्कारों से सम्बन्धित दक्षिणा भी दे देनी चाहिए। उस दिन सभी गोत्रजन, स्वजन एवं मित्रजन को भोजन करवाएं। • तदनन्तर गृहस्थ गुरु उसके कुल के आचार के अनुसार शिशु को पंचगव्य, जिनस्नात्रजल, सर्वोषधिजल एवं तीर्थजल से स्नान कराए। फिर बालक को वस्त्राभरण पहनाएं। यह शुचिकर्म संस्कार विधि है।

यहाँ यह विशेष ध्यातव्य है कि सूतक के दिन पूर्ण होने पर भी यदि उस दिन आर्द्र नक्षत्र हों, सिंहयोनि एवं गजयोनि नक्षत्र हों तो स्त्री को सूतक का स्नान नहीं करवाना चाहिए। 1. कृतिका 2. भरणी 3. मूल 4. आर्द्र 5. पुष्य 6. पुनर्वसु 7. मघा 8. चित्रा 9. विशाखा और 10. श्रवण– ये दस आर्द्र नक्षत्र माने गए हैं। यदि इन नक्षत्रों में सूतक स्नान कर लिया जाता है तो फिर प्रसव नहीं होगा, ऐसी मान्यता है। धनिष्ठा और पूर्वाभाद्रपद-ये दो सिंहयोनि के नक्षत्र तथा भरणी और रेवती– ये दो गजयोनि के नक्षत्र समझने चाहिए।[12]

दिगम्बर– इस परम्परा में शुचिकर्म संस्कार की स्वतन्त्र विधि का अभाव है। यहाँ प्रियोद्भव(जातकर्म) नामक संस्कार विधि के साथ उसके साथ ही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शुचिकर्म की चर्चा की गई है। आदिपुराण में वह चर्चा इस प्रकार उपलब्ध होती है- 'उसके जरायुपटल को नाभि की नाल के साथ-साथ किसी पवित्र जमीन को खोदकर मन्त्र पढ़ते हुए गाड़ देना चाहिए। नाभि की नाल को गाढ़ने का मन्त्र यह है– "सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे सर्वमातः सर्वमातः वसुन्धरे वसुन्धरे स्वाहा।" इस मन्त्र द्वारा भूमि भाग को मन्त्रित कर भूमि में जल और अक्षत डालकर पाँच प्रकार के रत्नों के नीचे गर्भ का मल रख देना चाहिए और फिर "त्वत्पुत्रा इव मत्पुत्राः चिरंजीविनो भूयासुः" (हे पृथ्वी! तेरे पुत्र कुल पर्वतों के समान मेरे पुत्र भी चिरंजीवी हों)– यह कहकर धान्य उत्पन्न होने योग्य खेत में भूमि पर वह मल डाल देना चाहिए। तदनन्तर क्षीर-वृक्ष की डालियों से पृथ्वी को सुशोभित कर उस पर उस पुत्र की माता को बिठाकर मन्त्रित किए हुए सुहाते गरम जल से स्नान कराना चाहिए। माता को स्नान कराने का मन्त्र यह है–

"सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे, आसन्नभव्ये आसन्नभव्ये, विश्वेश्वरि विश्वेश्वरि ऊर्जितपुण्ये ऊर्जितपुण्ये जिनमातः जिनमातः स्वाहा।"

इस मन्त्र का भावार्थ यह है कि स्नान करते समय शिशु का पिता यह चिन्तन करे - जिस प्रकार जिनेन्द्रदेव की माता पुत्र के कल्याणों को देखती है, उसी प्रकार यह मेरी पत्नी भी मेरे पुत्र के कल्याण को देखें।[13] आदिपुराण में शुचिकर्म संस्कार की यही विधि उपदर्शित है।

वैदिक– यद्यपि वैदिक परम्परा शुचिकर्म संस्कार को स्वतन्त्र रूप से स्वीकार नहीं करती है, तथापि वैदिक ग्रन्थों में शुचिकर्म से सम्बन्धित विधि का स्वरूप इस प्रकार उपलब्ध होता है– वैदिक मान्यतानुसार प्राचीनकाल में शिशु के जीवित उत्पन्न होने पर और प्रसव क्रिया आसानी से होने पर बर्तनों को गरम करने एवं माता और शिशु को धूम से पवित्र करने के लिए कमरे में अग्नि प्रदीप्त की जाती थी।[14] कुछ दिनों तक यह अग्नि प्रदीप्त रखी जाती थी। विविध प्रकार के भूत-प्रेतों को दूर करने के लिए उपयुक्त मन्त्रों के साथ उसमें धान्य के कण तथा सरसों के बीजों की आहुति दी जाती थी। सूतिकाग्नि अशुद्ध मानी जाती थी और दसवें दिन माता और शिशु की शुद्धि के पश्चात् गृह्य अग्नि का व्यवहार आरम्भ हो जाता था, यह शान्त कर दी जाती थी।[15] इस प्रकार वैदिक धर्म में शुचिकर्म संस्कार की यह विधि प्राप्त होती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हिन्दू परम्परा के गृह्यसूत्रों एवं स्मृतियों में प्रसव क्रिया होने के पूर्व की भी एक सुनिश्चित विधि का निरूपण है। हम उक्त वर्णन के आधार पर इतना निश्चित कह सकते हैं कि वैदिक परम्परा में भी शुचिकर्म संस्कार विधि का सम्यक् स्वरूप उल्लिखित है तथा यह विधि पूर्ण रूपेण वैज्ञानिक है।

तुलनात्मक दृष्टि से शुचिकर्म संस्कार की महत्ता

यदि हम शुचिकर्म संस्कार विधि का तुलनात्मक दृष्टि से विवेचन करते हैं, तो इस संस्कार की मूल्यवत्ताएँ एवं विशिष्टताएँ प्रत्यक्षत: अवलोकित होती हैं। सामान्यतया जैन धर्म की श्वेताम्बर परम्परा का यह महत्त्वपूर्ण संस्कार है तथा भारतीय दर्शन की सभी परम्पराओं में इस संस्कार के हेतु को युक्ति पूर्वक स्वीकारा गया है। यह संस्कार पवित्रता, स्वच्छता एवं शुद्धता से सम्बन्ध रखता है। विभिन्न दृष्टियों से इसका तुलनात्मक विवरण इस प्रकार अवलोकनीय है–

नाम की दृष्टि से– सामान्यत: श्वेताम्बर, दिगम्बर एवं वैदिक तीनों परम्पराओं ने शुचिकर्म क्रिया को स्वीकार किया है किन्तु इसे संस्कार के रूप में श्वेताम्बर-परम्परा ने ही मान्य किया है और इसका नाम शुचिकर्म संस्कार रखा है।

अधिकारी की दृष्टि से– श्वेताम्बर परम्परा में जैन ब्राह्मण को इस संस्कार का कर्त्ता बताया है। दिगम्बर परम्परा में इस संस्कार का कर्त्ता पति को माना गया है तथा वैदिक परम्परा में सूतक सम्बन्धी अशुद्धि को दूर करने का अधिकार ब्राह्मण को दिया गया है।

काल की दृष्टि से– श्वेताम्बर परम्परा में अपने-अपने कुल के अनुसार इस संस्कार का काल भिन्न-भिन्न बताया गया है। जैन आगमों में इस संस्कार को बारहवें दिन करने हेतु कहा गया है। दिगम्बर एवं वैदिक परम्परा में सूतक का काल दस दिन माना गया है, परन्तु शुद्धि कर्म की क्रिया जातकर्म संस्कार के साथ-साथ प्रथम दिन ही कर ली जाती है।

मन्त्र की दृष्टि से– श्वेताम्बर परम्परा में शुचिकर्म संस्कार से सम्बन्धित किसी प्रकार के मन्त्र का उल्लेख नहीं हुआ है। दिगम्बर परम्परा में नाल गाढ़ने एवं स्नान करने विषयक दो प्रकार के मन्त्रों का निर्देश है। वैदिक परम्परा में भी सूतक क्रिया के समय कुछ मन्त्रों का प्रयोग अवश्य होता है किन्तु वे मन्त्र कौनसे हैं? पढ़ने में नहीं आए हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विधि की दृष्टि से– श्वेताम्बर परम्परा में यह संस्कार सोलह पीढ़ियों तक के पुरूषों के आह्वान पूर्वक सगोत्रीजन, माता-पिता एवं बालक के स्नान द्वारा एवं स्नेहीजन मित्रजन आदि को भोजन करवाकर सम्पन्न किया जाता है तथा इस संस्कार को सम्पन्न करने के सम्बन्ध में कुछ विशेष निर्देश दिए गए हैं। दिगम्बर परम्परा में सूतक की अशुचि को दूर करने के लिए नाल गाढ़ने की विधि दर्शाई गई है तथा माता की स्नान क्रिया का वैज्ञानिक एवं चिकित्सकीय दृष्टि से वर्णन किया है। ये दोनों प्रक्रियाएँ मननीय एवं जानने योग्य हैं।

वैदिक परम्परा में सूतक की अशुद्धि को दूर करने के लिए अग्नि प्रदीप्त करने का प्रयोग दिखलाया गया है और उस अग्नि को दस दिनों तक प्रज्वलित रखने का सूचन किया गया है। इसके साथ ही उन दिनों में भूत-प्रेत आदि की बाधा उपस्थित न हो, उसके लिए धान्य के कणों एवं सरसों के बीजों की आहुति देने का विधान बतलाया है। वैदिक ग्रन्थों की यह प्रक्रिया भी महत्त्वपूर्ण मालूम होती है।

इस तरह हम देखते हैं कि भले ही शुचिकर्म क्रिया को श्वेताम्बर परम्परा में संस्कार के रूप में स्थान प्राप्त है किन्तु दिगम्बर एवं वैदिक परम्परा में भी इसे जातकर्म संस्कार में सामान्यतया स्वीकार कर लिया गया है और वह कई दृष्टियों से उपयोगी प्रतीत होता है अतः यह संस्कार अपरिहार्य है।

उपसंहार

जैन धर्म भावना प्रधान धर्म है। यहाँ बाह्य शुद्धि की अपेक्षा आभ्यन्तर शुद्धि को विशिष्ट महत्त्व दिया गया है, किन्तु बाह्य को भी सर्वथा गौण नहीं किया है। जैन दर्शन की मान्यतानुसार बाह्य और आभ्यन्तर, द्रव्य और भाव, व्यवहार और निश्चय सभी का अपना-अपना स्थान है। वे एक-दूसरे के पूरक तत्त्व हैं। इस संस्कार में बाह्य शुद्धि की प्रधानता है, किन्तु उस शुद्धि का उद्देश्य आभ्यन्तर शुद्धि से है।

वस्तुतः दैहिक शुद्धि, स्थान शुद्धि, वस्त्र शुद्धि के साथ-साथ भावनाओं की शुद्धि करना, वातावरण को निर्मल करना शुचिकर्म संस्कार है। इस संस्कार की उपादेयता क्या है? इस संस्कार की आवश्यकता क्यों हुई? इत्यादि बिन्दुओं को इस अध्याय के प्रारम्भ में सुस्पष्ट कर चुके हैं।

यहाँ यह स्मरणीय है कि यह संस्कार अत्यन्त प्राचीन और गृहस्थ जीवन के लिए परम उपयोगी है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सन्दर्भ-सूची

1. *संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ. 1023*
2. *आचारदिनकर, पृ. 14*
3. *वही, पृ. 14*
4. *ज्ञाताधर्मकथा, मधुकरमुनि, 1/93*
5. *औपपातिक, अंगसुत्ताणि, 106*
6. *राजप्रश्नीय, मधुकरमुनि, 280*
7. *कल्पसूत्र, सू. 101*
8. *विधिमार्गप्रपा, पृ. 41*
9. *जैनसंस्कारविधि, पृ. 9*
10. *हिन्दूसंस्कार, पृ. 93*
11. *आचारदिनकर, पृ. 13-14*
12. *वही, पृ. 14*
13. *आदिपुराण, पर्व-40, पृ. 305-306*
14. *(क) पारस्करगृह्यसूत्र, 1/16/23 (ख) बौधायनगृह्यसूत्र, 1/8 यूनानी कर्मकाण्ड में जल का शुद्धिकर प्रभाव स्वीकृत है। वहाँ शक्ति तथा गति के लिए शिशु को अग्नि के चारों ओर ले जाया जाता है।*
15. *हिन्दूसंस्कार, पृ. 93*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अध्याय - 9

नामकरण संस्कार विधि का प्रचलित स्वरूप

नाम व्यक्ति की पहचान और उसके अस्तित्व होने का प्रमाण होता है। नाम के इसी महत्त्व को ध्यान में रखते हुए भारतीय परम्परा में नामकरण संस्कार को विशिष्ट स्थान दिया गया है। यह संस्कार विधि पूर्वक बालक का नाम रखने से सम्बन्धित है। इस संस्कार द्वारा जन्म लेने वाले बालक का सार्थक नामकरण किया जाता है। नामकरण एक ऐसा संस्कार है, जिसका सम्बन्ध व्यक्ति की जीवितावस्था से ही नही, अपितु मरणोत्तर अवस्था से भी है। एक बार जो नामकरण कर दिया जाता है, वह नाम उस व्यक्ति के व्यक्तित्व का अटूट भाग बन जाता है, जिसको उससे सर्वथा अलग नहीं किया जा सकता। भौतिक जगत में नाम का महत्त्व पग-पग पर देखने को मिलता है। चाहे वह कोई प्राणी हो या कोई पदार्थ, नाम के बिना उसका अस्तित्व बोधगम्य नहीं हो पाता। नाम की सार्थकता सर्वत्र देखी जाती है। बिना नाम के यह दुनिया चल ही नहीं सकती। बिना नाम के किसी व्यक्ति या वस्तु को पहचाना ही नहीं जाता है। नामकरण का दायरा अति विस्तृत है। संसार के प्राय: सभी व्यवहार नाम के आधार पर ही चलते हैं। यदि हम नाम की मूल्यवत्ता को गौण कर दें तो इस विश्व का सारा वचन व्यवहार ही समाप्त हो जाएगा अत: नामकरण संस्कार का अपने आप में विशिष्ट महत्त्व है।

यह ध्यातव्य है कि श्वेताम्बर, दिगम्बर एवं वैदिक– तीनों परम्पराओं में नामकरण-संस्कार को स्वीकार किया गया है। श्वेताम्बर-परम्परा में नामकरण संस्कार का आठवाँ स्थान है, दिगम्बर परम्परा में इसका स्थान सातवाँ है तथा वैदिक परम्परा में इसको पाँचवां स्थान प्राप्त है। तीनों परम्पराओं में क्रम की दृष्टि से अन्तर होने पर भी अर्थ की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। सभी परम्पराओं ने नामकरण के महत्त्व, प्रयोजन, उद्देश्य आदि को समानरूप से मान्य किया है केवल संस्कार सम्बन्धी विधि-विधानों में हेर-फेर और अन्तर है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नामकरण संस्कार का व्यापक पारिभाषिक निरूपण

नाम एक संज्ञावाची शब्द है। नाम शब्द का कोई अर्थ नहीं होता। हाँ! किसी का सार्थक नामकरण कर दिया जाए तो उसका अर्थ निकाला जा सकता है। जैसे-जितेन्द्र, धमेन्द्र, वीरेन्द्र आदि। इन शब्दों के अवश्य कोई अर्थ होते हैं अत: नाम किस प्रकार के दिए जाने चाहिए? नाम रखने का औचित्य क्या है? नाम कितने प्रकार के होते हैं? इन प्रश्नों पर संक्षेप में चर्चा करेंगे।

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि मनुष्य को जिस तरह के नाम से पुकारा जाता है, उसमें उसी प्रकार की एक छोटी-सी अनुभूति होती है। यदि किसी को चुगलीखोर, चोरमल, आलसी, निठल्ला आदि नामों से पुकारा जाएगा तो उसमें उसी प्रकार के तुच्छ भाव जागृत होंगे अत: सार्थक और उच्चादर्श प्रतीत वाला नाम रखना ही नामकरण संस्कार है। नामकरण प्रक्रिया में निम्न बातों का विशेष ध्यान रखा जाना चाहिए-

1. नाम उच्चरित करने में सरल और श्रुति मधुर हो।
2. वह नाम लिंग भेद का बोधक हो।
3. यश, ऐश्वर्य और शक्ति का बोधक हो।
4. नाम वर्ण की स्थिति का अभिज्ञापक भी हो।
5. जन्मकालिक वार, नक्षत्र एवं उसके अधिदेवता का आशीर्वाद दिलाने वाला हो।
6. कुल देवता के प्रति भक्ति विज्ञापित करने वाला हो।
7. किसी विशिष्ट संत-महापुरुष की स्मृति दिलाने वाला हो।
8. राष्ट्रीय स्वाभिमान और अस्मिता को उद्दीप्त करने वाला हो।
9. बालक का नाम सम संख्यात्मक एवं बालिका का नाम विषम संख्यात्मक अक्षरों वाला हो। इसी के साथ-साथ गुणवाचक आदि नाम भी रखे जाएं।

जैसे-सुन्दरलाल, सत्यप्रकाश, धर्मवीर, विजयसिंह, विद्याभूषण, मनमोहन आदि। इसी तरह बालिकाओं के नाम-प्रीति, क्षमा, प्रभा, करूणा, सुशीला, शान्ति, प्रतिभा, विद्या आदि।

महापुरुषों एवं देवताओं के नाम पर भी नामकरण किया जाए। जैसे-रामावतार, कृष्णचन्द्र, शिवकुमार, लक्ष्मण, भरत, जगदीश, सुभाष, रवीन्द्र, बुद्ध, महावीर, गणेश आदि तथा बालिकाओं के नाम- कौशल्या, सीता, लक्ष्मी, सरस्वती, पद्मावती, कमला आदि।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राकृतिक विभूतियों के आधार पर भी नाम रखे जा सकते हैं। जैसे-कमल, हेमन्त, गुलाब, चन्दन, पराग, रजनीकान्त आदि तथा बालिकाओं के नाम-उषा, रजनी, सरिता, मधु, सुषमा आदि।

नामकरण संस्कार की मूल्यवत्ता को बनाए रखने के लिए बालक और बालिकाओं के नामों की एक लम्बी सूची बनानी चाहिए, उसमें से चुनकर यथायोग्य उत्साहवर्द्धक, सौम्य एवं प्रेरणादायक नाम रखना चाहिए। बालकों को समय-समय पर यह बोध भी कराते रहना चाहिए कि उनका अमुक नाम है। इस प्रकार इन्हें प्रेरित करते हुए उनमें नाम के अनुरूप गुण पैदा करना चाहिए।

सायण के मतानुसार नामकरण संस्कार के समय शिशु के चार प्रकार के नाम रखे जा सकते हैं-1. नक्षत्र नाम 2. गुप्त नाम 3. सर्वसाधारण नाम 4. यज्ञप्रयुक्त नाम।[1] बौधायन के अनुसार नक्षत्र पर आधारित नाम गुह्य रखा जाता है। यह वयोवृद्धों का सत्कार करने के लिए द्वितीय नाम होता है तथा उपनयन के काल तक यह नाम केवल माता-पिता को विदित रहता है। कतिपय आचार्यों के मतानुसार यह गुह्यनाम जन्म के दिन ही रखा जाता है।[2] संस्कारप्रकाश में निम्न चार प्रकार के नाम रखने का उल्लेख मिलता है-1. देवता नाम 2. मास नाम 3. व्यावहारिक नाम और 4. नक्षत्र नाम।

मनुस्मृति के अनुसार ब्राह्मण का नाम मंगल और आनन्दसूचक, क्षत्रिय का नाम बल रक्षा और शासन क्षमता का सूचक, वैश्य का नाम धन-ऐश्वर्य सूचक तथा शूद्र का नाम आज्ञाकारिता सूचक रखना चाहिए।[3] इसके सिवाय हिन्दू ग्रन्थों में नाम चयन को लेकर काफी गहरी चर्चा हुई है। पिता, पुत्र, पुत्री, माता आदि का नाम कितने अक्षरों वाला, कौनसे पदान्त वाला एवं किन अर्थों वाला होना चाहिए? इत्यादि संकेतों पर लम्बी विचारणा की गई है। इसका अभिप्राय यह है कि जातक का नाम दो अक्षरों वाला या चार अक्षरों वाला होना चाहिए। दो प्रकार के नाम दिए जाते हैं-एक, जन्म नक्षत्र का नाम जो गुह्य होता है। दूसरा, पुकार का नाम जो व्यवहार के लिए है। किसी-किसी गृह्यसूक्त के अनुसार कन्या का नाम तीन या पाँच अक्षर का होना चाहिए। नाम को संस्कार मानना भारतीय चिन्तन का द्योतक है। इसके लिए नाम केवल शब्द ही नहीं, एक कल्याणमय विचार भी है। नाम देते समय यह भी ध्यान देना अपेक्षित है कि संतान के पिता या पितामह का एकाध नामाक्षर भी उसमें आ जाए, जिससे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वह नाम एक सातत्य का सूचक हो। 'कृत्' प्रत्यय में नाम का अन्त होना चाहिए, जिससे बच्चे के जीवन में क्रियाशीलता आए। कहा गया है-जो शब्द कृदन्त हो, तद्धितान्त नहीं हो, किसी दुश्मन से सम्बन्ध रखने वाला न हो और प्रारम्भ की तीन पीढ़ियों के नाम का स्मारक हो, वही नाम संस्कार के योग्य होता है।[4]

वर्तमान युग की स्थिति चिन्ताजनक है। अब नामकरण की अर्थवत्ता का कोई मूल्य नहीं रह गया है। पाश्चात्य सभ्यता के अन्धानुकरण की दौड़ में आज नामकरण एक संस्कार नहीं रहकर वाचिक विकार का रूप धारण करता जा रहा है। व्यक्ति पाश्चात्य संस्कृति का इतना गुलाम बन चुका है कि नाम के महत्त्व को बिल्कुल भूल गया है। अपनी सुविधा और दुनियाँ की अन्धी दौड़ में पागल बना व्यक्ति बालक-बालिकाओं के ऐसे नाम रखने लगा है, जिनका न कोई अर्थ निकलता है और न ही उस नाम की सार्थकता समझ में आती है। प्रायः हर घर में रिंकी, रिंकू, डबलू, बबलू, पिन्टू, मिन्टू, जैक, जॉन, डॉली जैसे नामों की आंधी बह रही है। पिता तो 'डैड' हो गए हैं और माता भी 'ममी' हो गई हैं और यही कह-कहकर हम बड़ा गौरव महसूस कर रहे हैं।

भारतीय संस्कृति का स्पष्ट उद्घोष है कि बालक का नाम कुल, जाति, वंश की परम्परा को शोभायमान करने वाला, चित्त को प्रसन्न करने वाला, गुणों का आविर्भाव करने वाला, विशिष्ट अर्थ का बोध कराने वाला तथा सरल-सुगम होना चाहिए, वही नामकरण संस्कार की उपादेयता को सिद्ध करता है।

नामकरण संस्कार की त्रैकालिक आवश्यकता

नामकरण संस्कार की आवश्यकता विषयक चिन्तन करने पर ज्ञात होता है कि नाम प्रत्येक व्यक्ति की पहचान का आवश्यक अंग है। नाम समस्त व्यवहार का हेतु है। नाम समस्त पदार्थों का बोधक है। सृष्टि के समस्त क्रियाकलापों को गतिशील बनाए रखने का अनन्यतम कारण है। यह शुभ का वहन करने वाला तथा भाग्य नियोजक है। नामकरण की आवश्यकता को सिद्ध करने के सम्बन्ध में काफी कुछ हेतु दिए जा सकते हैं-

नाम से वस्तुओं की पहचान होती है। नाम के द्वारा ही व्यक्ति की उपयोगिता एवं उसका विशिष्ट ज्ञान सबके लिए सहज बना रहता है। नाम के ही आधार पर व्यक्ति का इतिहास पृष्ठों पर अंकित रहता है। नाम के ही बल पर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मनुष्य सामाजिक बनता है। मनुष्य अपने जीवन के व्यवहारों में सहूलियतें भी नाम के बलबूते पर पाता है। नाम ही सभी प्रकार के विश्वासों का स्तम्भ होता है। इस विश्व में मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो नाम के महत्त्व को समझ सकता है और व्यक्ति को उनके नाम से जान सकता है। नाम के अर्थों का बोधक मनुष्य को माना गया है अत: जीवन यात्रा की समस्त गतिविधियों का सम्यक् संचालन करने के लिए वस्तु हो या व्यक्ति, पदार्थ हो या प्राणी, नाम अवश्य दिया जाना चाहिए, अन्यथा जीवन व्यवहार समाप्त हो जाएगा। दूसरा उल्लेखनीय यह है कि नाम राशि के आधार पर ही व्यक्ति के भावी जीवन के शुभाशुभत्व एवं सत्यासत्य की भविष्यवाणी की जाती है। मनुष्य नाम से ही यश और कीर्ति प्राप्त करता है। इस संस्कार का फल आयु और तेज की वृद्धि तथा लौकिक व्यवहार की सिद्धि बताया गया है। इस प्रकार नामकरण संस्कार की आवश्यकता अनेक दृष्टियों से ज्ञात होती है।

नामकरण संस्कार का सर्वांगीण प्रयोजन

नामकरण संस्कार का प्रयोजन बालक को समाज से और समाज को इस नूतन आगन्तुक से परिचित करवाना है। किस नाम से उसे समाज जाने? इस समस्या का निराकरण करने के लिए ही जातक का नामकरण किया जाता है। नामकरण के पीछे भावों की ऐसी स्फुरणा होनी चाहिए कि समाज द्वारा बालक को श्रेष्ठ स्थान मिले। नाम केवल शब्दों का समूह ही नहीं होता, उन शब्दों के पीछे भावना भी संलग्न रहती है। शब्दों का जो अर्थ होता है, उससे स्मृति का एक ताना-बाना जुड़ा रहता है जैसे-किसी को गधा, कुत्ता, दुष्ट, कसाई आदि कहा जाए तो इन शब्दों के अर्थ से जिन जानवरों या कुकर्मियों का सम्बन्ध जुड़ा है, उनकी स्मृति सामने आ जाती हैं, फलस्वरूप जिनके लिए इन शब्दों का प्रयोग किया जाता है, उनके लिए भी निकृष्टता एवं घृणा का भाव पैदा हो जाता है।

यह मनोविज्ञान का सिद्धान्त है कि अच्छे या बुरे शब्द जो अपने लिए एक बार भी कहे जाते हैं, वे मन पर अच्छा या बुरा असर जरूर डालते हैं। जिसने कहा है, जिसने सुना है या जिसके प्रति कहा गया है, उन सभी पर उच्चरित शब्दों का प्रभाव पड़ता है, इसलिए हर व्यक्ति का अर्थप्रधान एवं गुण प्रधान नाम दिया जाना चाहिए, ताकि सामाजिक जीवन में उसका मान-सम्मान बढ़ता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रहे, वह स्वयं नामानुरूप गुणों को उपलब्ध करता रहे। यदि नाम का महत्त्व न हो और सामाजिक जीवन में उसका मूल्य न हो तो अपशब्द सुनकर किसी को अप्रसन्नता और अच्छे शब्द सुनकर किसी को प्रसन्नता नहीं होनी चाहिए, किन्तु ऐसा होता नहीं है।[5]

नामकरण इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए करना चाहिए। बच्चों के नाम ऐसे रखने चाहिए, जिससे समाज में उनका गौरव, साहस एवं स्तर ऊँचा उठता हो। लाड़-प्यार में भी गोलु-पीलु आदि नाम नहीं रखना चाहिए अन्यथा बच्चों की कोमल मनोभूमि पर उसका बुरा प्रभाव पड़ता है। विश्व बन्धुत्व की भावना यह कहती है कि हर आत्मा का सम्मान होना चाहिए, भले ही वह अभी छोटे बालक के शरीर में ही क्यों न हो। उक्त वर्णन से यह निर्णीत होता है कि नामकरण का मुख्य प्रयोजन सामाजिकता एवं संघीय सदस्यता से भी है।

नामकरण संस्कार करने का अधिकारी

श्वेताम्बर आम्नाय में जैन ब्राह्मण या क्षुल्लक को इस संस्कार का अधिकार दिया गया है।[6] दिगम्बर परम्परा में इस संस्कार का अधिकारी पूर्व निर्दिष्ट ब्राह्मण को माना गया है।[7] वैदिक मत में इस संस्कार का कर्त्ता पिता एवं ब्राह्मण दोनों को स्वीकार किया गया है।[8]

नामकरण संस्कार के लिए मुहूर्त्तादि का विचार

वर्धमानसूरिकृत आचारदिनकर में इस संस्कार के लिए शुभ नक्षत्र एवं शुभ वार आदि का निर्देश इस प्रकार है– मृदु, ध्रुव, क्षिप्र एवं चर संज्ञा वाले नक्षत्रों में बालक का नामकरण करना चाहिए अथवा गुरु या शुक्र चतुर्थ स्थान में हो उस समय नाम संस्कार करना चाहिए।[9] दिगम्बर परम्परामूलक आदिपुराण में शुभ नक्षत्र आदि के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं है। वैदिक परम्परा इस संस्कार के लिए शुभ तिथि आदि को स्वीकार करती है, किन्तु वैदिक विद्वानों में इस सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है। उनके प्राचीन ग्रन्थों, सूत्रों एवं स्मृतियों में अनेक तिथियों की चर्चा है। गोभिल एवं खादिर के अनुसार सोष्यन्तीकर्म में नाम रखना चाहिए। बृहदारण्यकोपनिषद्, आश्वलायन, शंखायन आदि के मतानुसार जन्म के दिन नाम रखा जाना चाहिए। मनुस्मृति (2/30) के मत से दसवीं, बारहवीं, अठारहवीं कोई शुभ तिथि के दिन नामकरण करना चाहिए। भविष्यत्पुराण ने दसवीं, बारहवीं, अठारहवीं या एक मास के उपरान्त की तिथि को नामकरण के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लिए उत्तम माना है।[10] इस प्रकार भिन्न-भिन्न तिथियों का निर्देश है। आशय इतना है कि वैदिक मत में इस संस्कार हेतु शुभ तिथि आदि को निर्विवादत: स्वीकारा गया है।

नामकरण संस्कार हेतु वर्णित सुयोग्य काल

यह संस्कार किस दिन किया जाना चाहिए, इस सम्बन्ध में तीनों परम्पराओं का भिन्न-भिन्न मत है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार यह संस्कार शुचि कर्म के दिन अथवा उसके दूसरे या तीसरे दिन में अथवा किसी शुभ दिन में शिशु का चंद्रबल देखकर किया जाना चाहिए।[11]

दिगम्बर परम्परा के मतानुसार जन्मदिन से बारह दिन के बाद[12] अथवा जन्म के बारहवें, सोलहवें या बत्तीसवें दिन में यह संस्कार करना चाहिए।[13] वैदिक परम्परा में इस विषयक विभिन्न मत प्राप्त होते हैं। गृह्यसूत्रों के नियमानुसार नामकरण संस्कार शिशु के जन्म के बाद दसवें या बारहवें दिन सम्पन्न किया जाना चाहिए।[14] इसका एक अपवाद नियम भी मिलता है वह था गुह्यनाम जो कुछ आचार्यों के मत से जन्म के दिन रखा जाता है।

परवर्तीकालीन ग्रन्थों के अनुसार यह संस्कार जन्म से दसवें दिन से लेकर द्वितीय वर्ष के प्रथम दिन तक सम्पन्न किया जा सकता है। किन्हीं मतानुसार नामकरण संस्कार दसवें, बारहवें, सौवें दिन या प्रथम वर्ष के समाप्त होने पर करना चाहिए।[15] इस व्यापक विकल्प का कारण पारिवारिक सुविधा या माता और शिशु का स्वास्थ्य हो सकता है। बृहस्पति के मतानुसार जन्म से दसवें, बारहवें, तेरहवें, सोलहवें, उन्नीसवें या बत्तीसवें दिन सम्पन्न करना चाहिए। इसी प्रकार बौधायन, पारस्कर और भारद्वाज ने दसवाँ, याज्ञवल्क्य ने ग्यारहवाँ, हिरण्यकेशि ने बारहवाँ दिन इस संस्कार के लिए योग्य माना है।[16] संक्षेप में इतना कह सकते हैं कि गुह्यनाम के विकल्प को छोड़कर जन्म के बाद दसवें दिन से लेकर द्वितीय वर्ष के प्रथम दिन तक यह संस्कार यथासुविधा एवं यथा शुभ दिन कभी भी किया जा सकता है।

ज्योतिषशास्त्र के अनुसार संक्रान्ति, ग्रहण या श्राद्ध के दिनों में यह संस्कार कदापि नहीं किया जाना चाहिए। वैदिक परम्परा में आजकल यह संस्कार जन्म के बारहवें दिन बिना किसी वैदिक- मन्त्रोच्चारण के कर लेते हैं। उसमें स्त्रियाँ एकत्र होती हैं और पुरुषों से परामर्श कर नाम घोषित कर देती हैं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तथा बच्चे को पालने में झुलाती हैं। कहीं-कहीं अब भी यह संस्कार विधिवत किया जाता है, किन्तु अब इसका प्रचलन एक प्रकार से समाप्त-सा हो गया है।

यदि हम जैनागमों पर दृष्टिपात करते हैं तो उनमें ज्ञाताधर्मकथा, औपपातिक, राजप्रश्नीय, कल्पसूत्र आदि में जन्म से बारहवें दिन यह संस्कार किए जाने का निर्देश प्राप्त होता है।[17]

नामकरण संस्कार में उपयोगी आवश्यक सामग्री

श्वेताम्बर परम्परा में नामकरण संस्कार हेतु कुछ सामग्री अनिवार्य कही गई है। सामग्री सूची यह है- 1. विविध प्रकार के सुरीले वादिंत्र 2. मांगलिक गीत-गान करने वाली नारियां 3. ज्योतिषी 4. संस्कार करवाने वाला गृहस्थ गुरु 5. प्रचुर मात्रा में फल 6. स्वर्ण और रजत की मुद्राएँ 7. विभिन्न प्रकार के वस्त्र 8. वासचूर्ण 9. चंदन 10. दूर्वा 11. नारियल 12. जिन-प्रतिमा की पूजा-सामग्री और 13. मुद्राएँ।[18]

दिगम्बर एवं वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में इस संस्कार के लिए अपेक्षित सामग्री का उल्लेख हुआ हो ऐसा देखने में नहीं आया है।

नामकरण संस्कार विधि का शास्त्रीय स्वरूप

श्वेताम्बर– आचार दिनकर में नामकरण संस्कार की विधि इस प्रकार कही गई है [19] –

जिस दिन यह संस्कार सम्पन्न करना हो उस दिन सर्वप्रथम ज्योतिषी सहित गृहस्थ गुरु नवजात बालक के घर में शुभ आसन एवं शुभ स्थान पर नमस्कार मन्त्र का स्मरण करते हुए बैठे रहें। • उस समय बालक के पिता, पितामह आदि करयुगल में पुष्प-फल लेकर ज्योतिषी सहित गुरु को साष्टांग प्रणाम करके कहें- 'हे भगवन् ! पुत्र का नामकरण कीजिए।' तब गुरु उस बालक के कुल पुरुषों (पिता-दादा आदि) और कुल स्त्रियों को आगे बिठाकर ज्योतिषाचार्य को जन्म लग्न कहने का आदेश करें। तब ज्योतिषी शुभ पट्ट पर खड़िया मिट्टी से बालक के लग्न को लिखे और यथास्थान ग्रहों को स्थापित करें। • उसके बाद पिता-पितामह आदि जन्म लग्न की पूजा करें। इस पूजा में 12 स्वर्णमुद्रा, 12 रौप्यमुद्रा, 12 ताम्रमुद्रा, 12 सुपारी, 12 अन्य फल, 12 नारियल और 12 नागरवेल के पान– इस प्रकार 12-12 वस्तुओं द्वारा बारह लग्न की पूजा करें। फिर इसी प्रकार इन्हीं 9-9 द्रव्यों से नवग्रह की पूजा करें।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

• तदनन्तर ज्योतिषी लग्न का सम्पूर्ण वर्णन कुंकुम अक्षर से पत्र में लिखकर कुल ज्येष्ठ को अर्पित करें तथा जन्म नक्षत्र के अनुसार नामाक्षर बताएं। उस समय बालक का पिता अपनी शक्ति के अनुसार वस्त्र आदि प्रदान कर ज्योतिषी का सम्मान करें। • तत्पश्चात् गृहस्थ गुरु सर्वानुमति से परमेष्ठी मंत्र का स्मरण करते हुए कुल वृद्धा के कान में जाति एवं कुलोचित नाम कहे। फिर परमात्मा के समक्ष बालक का नाम प्रकट करे। यदि चैत्य न हो, तो गृहमन्दिर की प्रतिमा के आगे यह विधि करनी चाहिए।

• उसके बाद सभी पौषधशाला में जाएं। वहाँ भोजन मंडली के स्थान पर मंडलीपट्ट को स्थापित कर उसकी पूजा करें। मंडलीपट्ट की पूजा विधि यह है- पुत्र की माता 'श्री गौतमाय नमः' ऐसा उच्चारण करती हुई गंध, नैवेद्य आदि द्वारा पट्ट की पूजा करें। फिर मंडलीपट्ट के ऊपर 10 स्वर्णमुद्रा, 10 रौप्यमुद्रा, 108 सुपारी, 29 नारियल, 29 हाथ वस्त्र रखे। फिर पुत्र सहित गुरु की तीन प्रदक्षिणा देकर नमस्कार करें। नौ स्वर्ण एवं नौ रौप्य मुद्राओं द्वारा गुरु की नवांगी पूजा करें। • फिर माता गुरु भगवन्त से वासदान करने का निवेदन करें। तब गुरु ऊँकार, ह्रींकार, श्रींकार से वासचूर्ण को सन्निहित कर, वर्धमानविद्या एवं कामधेनु मुद्रा पूर्वक अभिमन्त्रित कर माता-पुत्र के मस्तक पर डालें तथा शिशु के मस्तक पर 'ऊँ ह्रीँ श्रीँ' के अक्षरों का सन्निवेश कर उसका नामकरण करे। • फिर गुरु को आहार आदि तथा विधिकारक गुरु को वस्त्र, अलंकार आदि प्रदान कर गृहगमन करे।

दिगम्बर– दिगम्बर मतानुसार आदिपुराण में नामकरण संस्कार की निम्न विधि प्राप्त होती है-बालक के जन्मदिन से बारह दिन के बाद जो दिन माता-पिता एवं पुत्र के लिए अनुकूल हो, सुख देने वाला हो, उस दिन यह संस्कार सम्पन्न करें। इस संस्कार में अपनी संपदा के अनुसार अरिहन्त परमात्मा और गुरुजनों की पूजा करें। फिर विधिकारक ब्राह्मण का यथायोग्य सत्कार करें। उसके बाद नवजात शिशु वंश की वृद्धि करने वाला हो– ऐसा उत्तम नाम रखें अथवा घटपत्र की विधि पूर्वक बालक का नामकरण करें। घटपत्र की विधि इस प्रकार ज्ञातव्य है-प्रथम भगवान् के एक हजार आठ नामों का एक हजार आठ कागज के टुकड़ों पर स्वर्ण अथवा अनार की कलम से अष्ट गन्ध द्वारा लिखें। फिर उनकी गोली बना लें और पीले वस्त्र तथा नारियल आदि से ढके हुए एक घड़े

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में उन्हें भर दें। कागज के एक टुकड़े पर 'नाम' ऐसा शब्द लिखकर उसकी गोली बनाएं। इसी प्रकार एक हजार सात कोरे टुकड़ों की गोलियाँ बनाकर इन सबको एक दूसरे घड़े में भर दें। तदनन्तर किसी अन्य बालक द्वारा दोनों घड़ों में से एक-एक गोली निकलवाते जाएं। जब किसी नाम चिह्नित गोली के साथ 'नाम' ऐसा लिखी हुई गोली निकले, तब वही नाम बालक का रखना चाहिए।[20] यह घट पत्र विधि है। कोई सुयोग्य नाम अथवा घट पत्र की विधि पूर्वक प्राप्त हुआ नाम रखना ही नामकरण संस्कार है।

वैदिक– वैदिक परम्परा में गृह्यसूत्रों के आधार पर नामकरण संस्कार के दिन निम्न विधि की जाती है-उस दिन घर को प्रक्षालित कर शुद्ध करते हैं। शिशु और माता को स्नान करवाया जाता है। उसके बाद माता शिशु को शुद्ध वस्त्र से ढँककर तथा उसके सिर को गीला कर पिता को हस्तान्तरित करती है। उसके बाद प्रजापति, अग्नि, सोम आदि को आहुतियाँ दी जाती हैं। पिता शिशु के श्वास-प्रश्वासों का स्पर्श करता है, जिसका उद्देश्य संभवत: शिशु का ध्यान संस्कार की ओर आकृष्ट करना है। उसके बाद नाम रखा जाता है। परवर्ती ग्रन्थों में नामकरण की निम्नलिखित विधि प्राप्त होती है-पिता शिशु के दाहिने कान की ओर झुकता हुआ इस प्रकार सम्बोधित करता है-'हे शिशु, तु कुलदेवता का भक्त है, तेरा नाम .... है, तू इस नक्षत्र में जन्मा है, अत: तेरा नाम .... है तथा तेरा लौकिक नाम .... है।' वहाँ पर एकत्रित हुए ब्राह्मण कहते हैं- 'यह नाम प्रतिष्ठित हो।' फिर पिता औपचारिक रूप से शिशु द्वारा ब्राह्मणों को अभिवादन करवाता है, फिर वही अभिवादनीय नाम रखा जाता है। ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता है तथा देवताओं और पितरों को आदर पूर्वक अपने-अपने स्थान की ओर संप्रेषित करते हैं।[21] यहीं पर नाम संस्कार समाप्त हो जाता है।

तुलनात्मक दृष्टि से नामकरण संस्कार के विविध पक्ष

यदि हम तुलनात्मक दृष्टि से नामकरण संस्कार विधि का विवेचन करें, तो श्वेताम्बर, दिगम्बर एवं वैदिक-तीनों परम्पराओं में इस संस्कार की विविध विशिष्टताएँ दृष्टिगत होती हैं। वह निम्नानुसार है-

- श्वेताम्बर, दिगम्बर एवं वैदिक-इन तीनों परम्पराओं में इस संस्कार के नाम को लेकर समानता है, किन्तु संस्कार क्रम की अपेक्षा भिन्नता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

• श्वेताम्बर परम्परा में नामकरण संस्कार का क्रम आठवाँ, दिगम्बर परम्परा में सातवाँ एवं वैदिक परम्परा में पाँचवा क्रम है।

• श्वेताम्बर आम्नाय में जैन ब्राह्मण, दिगम्बर में जैन द्विज एवं वैदिक मत में शिशु का पिता एवं ब्राह्मण इस संस्कार के अधिकारी बतलाए गए हैं अत: तीनों परम्पराओं में अधिकारी सम्बन्धी प्राय: समानता है।

• श्वेताम्बर परम्परा के प्राचीन ग्रन्थों में इस संस्कार का काल बारहवाँ दिन तथा अर्वाचीन ग्रन्थों में बारहवाँ, सोलहवाँ आदि दिनों के विकल्प बताए गए हैं। दिगम्बर परम्परा में जन्म से बारहवें दिन या उसके बाद किसी शुभ दिन यह संस्कार करने का उल्लेख है। वैदिक मत में दसवें दिन से लेकर एक वर्ष की अवधि तक कोई भी काल इस संस्कार के लिए उपयुक्त माना गया है। इस प्रकार बारहवें दिन की अपेक्षा तुलना कर देखें तो तीनों परम्पराओं में संस्कार काल को लेकर समानता ही प्रतीत होती है, विकल्प की दृष्टि से भेद भी हैं।

• श्वेताम्बर परम्परा में वासचूर्ण को अभिमन्त्रित करने हेतु 'वर्धमानविद्यामन्त्र' के स्मरण का उल्लेख है, किन्तु दिगम्बर एवं वैदिक परम्परा में इस संस्कार को लेकर किसी मन्त्र का निर्देश नहीं हुआ है।

• श्वेताम्बर एवं दिगम्बर-इन दोनों परम्पराओं में इस संस्कार को सम्पन्न करने के लिए जिनप्रतिमा का दर्शन-पूजन एवं गुरु का दर्शन-वंदन आवश्यक माना गया है। साथ ही ज्योतिषी एवं विधिकारक गुरु का यथायोग्य सत्कार करना भी जरूरी बतलाया है। यह बात दोनों में समान है, किन्तु आचारदिनकर में ज्योतिषी द्वारा लग्नकुंडली बनवाना, लग्न-कुंडली की बहुमूल्य द्रव्य द्वारा पूजा करना, उपाश्रय में मंडलीपट्ट की पूजा करना, गृहस्थ गुरु द्वारा कुल वृद्धा के कान में बालक का नाम कहना, जिनप्रतिमा एवं गुरु के समक्ष नूतन नाम का उच्चारण करना आदि विधियाँ विशेष है तथा आदिपुराण (दिगम्बर) में घटीपात्र की विधि अतिरिक्त कही गई है, अत: इन दोनों परम्पराओं में नामकरण संस्कार विधि को लेकर कुछ समानता तो कुछ असमानताएँ हैं। वैदिक परम्परा में मान्य संस्कार विधि जैन परम्परा से सर्वथा भिन्न है।

उपसंहार

चराचर जगत नाम रूपात्मक है। जगत की कोई भी वस्तु नाम और रूप की परिधि से परे नहीं है। रूप चक्षु ग्राह्य होता है और नाम श्रुति संवेद्य। रूप के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साक्षात्कार से किसी वस्तु का आभास किया जा सकता है, किन्तु उसका स्पष्ट अभिज्ञान नाम से ही होता है। नामोच्चारण करते हुए उसकी गुण राशि भी स्पष्ट होती है जैसे- मृत, गंगा, शंकर, आदि। 'नाम' शब्द का अर्थ ही है-'नम्यते अभिधीयते अर्थोऽनेन इति नाम' अर्थात जिससे अर्थ का अभिज्ञान हो, वही नाम है। रूप के सम्मुख रहने पर भी नाम को जाने बिना स्पष्ट ज्ञान नहीं होता है अतः जगत्-व्यापार में नाम का अत्यधिक महत्त्व है। यह मानव की भाषिक-संरचना है। मनुष्यों की तो बात ही क्या? पशु-पक्षी भी अपना नाम सुनकर उल्लसित, उत्कण्ठित होते हैं।

सन्त मनीषी कहते हैं-'नाम अखिल व्यवहार एवं मंगलमय कार्यों का हेतु है।' इसी कारण नामकर्म अत्यन्त प्रशस्त है।

संतों के नाम की महिमा तो इतनी अधिक है कि नाम लेते ही पुण्य की प्राप्ति हो जाती है। जय महावीर, जय जिनेन्द्र, जय श्रीराम इत्यादि कहते ही हमारे अंग-प्रत्यंग में एक विशिष्ट प्रकार की संतुष्टि एवं समाधि का संचार हो जाता है। अस्तु, भूतल पर अवतरित प्राणी को पृथक् अस्तित्व एवं विशिष्ट स्वरूप प्रदान करने वाला पहला चरण है-नामकरण संस्कार।[22]

यदि हम इस संस्कार का समीक्षात्मक पहलू से विचार करें, तो कुछ रहस्य उद्घाटित होते हैं। जैसे–बारहवें दिन या बारहवें दिन के बाद ही पुत्र का नामकरण संस्कार इसलिए किया जाता है कि नवजात शिशु के प्रारम्भिक 10-11 दिन बहुत ही नाजुक एवं आशंकाओं से भरे हुए होते हैं, यदि इसी अन्तराल में शिशु का नामकरण कर लिया जाए और आपाततः उसकी मृत्यु हो जाए तो अत्यन्त कोमल एवं संवेदनशील जनमानस को उस शब्द (नाम) के प्रति घृणा हो सकती है।

नाम शिशु जीवन का महत्त्वपूर्ण पक्ष है। भावी जीवन की लम्बी यात्रा उस नाम के आधार पर ही पूरी करनी होती है अतः नामकरण के दिन को उत्सव-महोत्सव पूर्वक मनाना चाहिए और वह महोत्सव जन्म के 10-12 दिन बाद ही संभव हो सकता है, क्योंकि 10-12 दिन के पूर्व माता एवं शिशु-दोनों ही प्रसूति कक्ष से बाहर निकलने की स्थिति में नहीं होते हैं। माता के पास प्रसवोपरान्त प्रारम्भिक दिनों में रक्तस्राव आदि की अशुद्धि रहती है, इस कारण भी नामकरण संस्कार के लिए बारहवाँ दिन योग्य माना गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अधिकांश परम्पराओं में प्रारम्भ के दस दिन सूतक काल के रूप में कहे गए हैं अतः इस स्थिति में बारहवें दिन के पूर्व नामकरण संस्कार को सम्पन्न नहीं कर सकते हैं।

वैदिक परम्परा के अनुसार पिता द्वारा ही नामकरण किया जाए, इस बाध्यता से यह स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समय में स्त्रियाँ अपेक्षाकृत अनपढ़ हुआ करती थीं, जिन्हें शब्दों का समुचित ज्ञान नहीं होता था, इसलिए नामकरण का अधिकार पिता या ब्राह्मण पुरुष वर्ग को ही दिया गया है।

नामकरण के दिन जिनप्रतिमा का दर्शन करना, बहुमूल्य सामग्री चढ़ाना, गुरु महाराज की नवांगी पूजा करना, उनका आशीर्वाद प्राप्त करना इत्यादि विधि-विधानों को सम्पन्न करने का प्रयोजन है कि वह बालक प्रारम्भ से ही देव-गुरु-धर्म की आराधना करने वाला हो, उसका मनोमस्तिष्क सत्संगमय वातावरण से सदा के लिए आप्लावित बना रहे, वह आर्य-संस्कृति का रक्षक बने, समाज का दीप स्तम्भ बने इत्यादि कईं उद्देश्य रहे हुए हैं। उस दिन में संप्राप्त हुआ आशीर्वाद परिवार एवं बालक के लिए वरदान बनते हैं, क्योंकि उस दिन पारिवारिक वर्ग में विशेष उमंग और उल्लास का वातावरण उपस्थित होता है, उस स्थिति में गुरु द्वारा दिए गए आशीर्वाद को सभी जन हर्षोल्लास एवं अन्तःचेतना पूर्वक स्वीकार करते हैं। ये सभी प्रक्रियाएँ शिशु के भावी निर्माण के लिए साक्षात चिंतामणि के समान होती हैं। इस प्रकार यह दृढ़ता से कहा जा सकता है कि यह संस्कार अनेकशः उद्देश्यों से ओत-प्रोत है। इस सत्यता को नकारा नहीं जा सकता है कि इस दुनियाँ में अनेकों मनुष्य हैं, अनेकों पदार्थ हैं, अनेकों क्रियाकलाप हैं उनको नामकरण के बिना पहचानना असंभव है, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को अपनी पहचान बनाए रखने के लिए इस संस्कार को सप्रयोजन स्वीकार करना होगा-यही इस संस्कार की उपादेयता है।

सन्दर्भ-सूची

1. *धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ. 186*
2. *हिन्दूसंस्कार, पृ. 105*
3. *मनुस्मृति, 2/31*
4. *आश्वलायनगृह्यसूत्र, 7/1/15*
5. *षोडश संस्कार विवेचन, श्रीरामशर्मा, पृ. 5-10*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

6. आचारदिनकर, पृ. 15
7. आदिपुराण, पर्व-38, पृ. 247
8. हिन्दूसंस्कार, पृ. 109
9. आचारदिनकर, पृ. 15
10. धर्मशास्त्र का इतिहास, भा.-1, पृ. 195-96
11. आदिपुराण, पृ. 15
12. वही, पर्व-38, पृ. 247
13. जैनसंस्कारविधि, पृ. 10
14. (क) शांखायनगृह्यसूत्र, 1/24/4
    (ख) आश्वलायनगृह्यसूत्र, 1/15/4
    (ग) पारस्करगृह्यसूत्र, 1/15/4
    (घ) गोभिलगृह्यसूत्र, 2/7/15
    (ड) खादिरगृह्यसूत्र, 2/2/30
15. हिन्दूसंस्कार, पृ. 108
16. धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ. 196
17. (क) ज्ञाताधर्मकथा, मधुकरमुनि, 1/93
    (ख) औपपातिक, मधुकरमुनि, 105
    (ग) राजप्रश्नीय, मधुकरमुनि, 280
    (घ) कल्पसूत्र, 101
18. आचारदिनकर, पृ. 16
19. (क) वही, पृ. 15
    (ख) श्राद्धसंस्कारकुमुदेन्दु, आठवीं कला
20. आदिपुराण, पर्व-38, पृ. 247
21. हिन्दूसंस्कार, पृ. 108-109
22. संस्कार अंक-डॉ. मुकुन्दपति त्रिपाठी द्वारा आलेखित लेख पर आधारित

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अध्याय - 10

अन्नप्राशन संस्कार विधि का प्रायोगिक स्वरूप

अन्न को जीवन की प्राथमिक आवश्यकता माना गया है। प्रतिक्षण किसी न किसी रूप में जीव द्वारा आहार ग्रहण किया जाता है। परन्तु इनमें अन्नाहार का विशेष महत्त्व है। अन्न जीवन का नियामक तत्त्व है। इसी के आधार पर व्यक्ति का आचार एवं व्यक्तित्व निर्माण होता है। अन्नप्राशन संस्कार बालक को प्रथम बार अन्न खिलाए जाने से सम्बन्धित है। इस संस्कार के माध्यम से विधि-विधान पूर्वक बालक को सुपाच्य अन्न खिलाया जाता है। यह सर्वविदित है कि बालक का प्रारम्भिक जीवन माता के स्तन-पान पर ही अवलम्बित रहता है। अन्नप्राशन संस्कार न होने तक बालक दुग्धाहार द्वारा ही शारीरिक एवं मानसिक पुष्टता को प्राप्त करता है।

वैदिक परम्परा के अनुसार प्राचीनकाल में शिशु को पहली बार भोजन करवाना, एक प्रथा मात्र थी किन्तु जैसे-जैसे इस प्रक्रिया के सद्परिणाम प्रत्यक्ष होने लगे, यह कार्यकारी सिद्ध होने लगा। तब से परवर्ती साहित्य लेखकों ने इस प्रथा को धार्मिक संस्कार के रूप में स्थापित किया।[1] आगम परम्परा के अनुसार यह संस्कार पूर्वकालीन सिद्ध होता है। इस संस्कार का उद्भव आगमयुग में हो चुका था। राजप्रश्नीय नामक उपांगसूत्र में इस संस्कार के सन्दर्भ में स्पष्ट उल्लेख है[2], इससे हम कह सकते हैं कि जैन परम्परा का यह संस्कार अधिक प्राचीन है।

यह संस्कार शारीरिक एवं धार्मिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व रखता है। श्वेताम्बर, दिगम्बर एवं वैदिक-इन तीनों परम्पराओं में इस संस्कार को समान रूप से माना गया है। यह संस्कार सम्पन्न करने का जो मूलभूत उद्देश्य है, वह सभी परम्पराओं का एक-सा है। प्रयोजन की दृष्टि से कोई विशेष अन्तर नहीं है, किन्तु इस संस्कार की विधि प्रक्रिया एवं संस्कार की क्रमिकता को लेकर अवश्य असमानताएँ हैं। श्वेताम्बर परम्परा में अन्नप्राशन संस्कार का नौवाँ स्थान है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दिगम्बर मतानुसार इसका दसवाँ स्थान है तथा वैदिक ग्रन्थों में इस संस्कार को आठवें क्रम पर रखा गया है।

अन्नप्राशन संस्कार का शाब्दिक अर्थ

अन्न+प्र+अशन-इन तीन शब्दों के संयोग से 'अन्नप्राशन' शब्द निर्मित है। इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है-विशिष्ट प्रकार का, सुसंस्कारी एवं सात्विक अन्न का भोजन। विशुद्ध भावनाओं के साथ कुल परम्परा या धर्म परम्परा के अनुसार विधि-विधान पूर्वक बच्चे के मुँह में प्रथम बार खिलाया जाना अन्नप्राशन संस्कार कहलाता है। दूसरे शब्दों में कहें तो सम्यक् प्रकार से सुसंस्कारित और सात्विक अन्नाहार को बालक के मुँह में अन्नप्राशन संस्कार है।

अन्नप्राशन संस्कार की मौलिक आवश्यकता

यदि हम अन्नप्राशन संस्कार की आवश्यकता, उपादेयता एवं उद्देश्यता पर विचार करते हैं तो कई महत्त्वपूर्ण पहलू सप्रयोजन उपस्थित होते हैं। 'अन्न वैः प्राणा'-उपनिषद ग्रन्थ में अन्न को प्राण कहा गया है। इस मत के सभी समर्थक हैं। हिन्दू ग्रन्थों में अन्न को विष्णु, अन्न को यज्ञ और अन्न को ब्रह्म भी कहा गया है। यह सुज्ञात है कि अन्न से ही जीवन तत्त्व मिलता है, वही रक्त, माँस बनकर जीवन धारण किए रहने की क्षमता उत्पन्न करता है। आधार के बिना जीवन टिकना मुश्किल है। इस तरह अन्न को शरीर ही नहीं, जीवन भी कहा जा सकता है।

वस्तुतः अन्न जीवनप्रद तत्त्व है। वह मनुष्य को जीवन प्रदान करता है। यहाँ तक कि मनुष्य की विचारणा, भावना एवं आकांक्षा भी बहुत कर अन्न पर ही निर्भर रहती है। 'जो जैसा खाता है, वह वैसा ही बन जाता है'-यह उक्ति केवल शरीर के सम्बन्ध में ही लागू नहीं होती, वरन् उसका तात्पर्य मानसिक स्थिति से भी है। पौष्टिक एवं सात्विक आहार करने वाले शरीर की दृष्टि से निरोग, बलवान्, दीर्घजीवी और सुडौल होते हैं और जिनका आहार निम्न कोटिका एवं अनुपयुक्त होता है, वे रोगी, दुर्बल और अल्पायु होते हैं। इसके प्रमाण पग-पग पर हर जगह मिलते हैं। यह भी एक सुनिश्चित तथ्य है कि 'जैसा खाए अन्न, वैसा होए मन' जिस प्रकार का आहार का स्तर होगा, उसके अनुरूप ही मनुष्य की भावनाओं का निर्माण होता है। इस वर्णन से इतना तो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सुनिश्चित है कि अन्न जीवन का अभिन्न अंग है और इसके बिना जीवन को दीर्घ समय तक टिका पाना असंभव है अतः अन्न को ग्रहण करना अत्यन्त आवश्यक है। यह इस संस्कार की आवश्यकता को भी सिद्ध करता है।

इस संस्कार का दूसरा प्रयोजन यह है कि प्रथम बार आहार ग्रहण करवाते समय यह भावना संप्रेषित की जाती है कि यह बालक हमेशा सुसंस्कारी अन्न ग्रहण करे। इसी के साथ 'आहार शुद्धौ सत्व शुद्धिः' की प्रेरणा इस माध्यम से हृदयंगम कराई जाती है। नवजात शिशु को खाने योग्य पदार्थ से परिचित करवाया जाता है। उस उत्सव-आनन्द के माहौल में दिए गए संस्कार गहराई तक परिणत होते हैं। वह शिशु भी उस बात को शीघ्रता से ग्रहण करता है। साथ ही इस अवसर पर उपस्थित व्यक्तियों की भावनाओं का भी कोमल मन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है अतः बालक मन को योग्य आहार से परिचित कराने एवं सात्त्विक-आहार की शिक्षा देने के प्रयोजन से यह संस्कार किया जाना सर्वथा उचित प्रतीत होता है।

इस संस्कार उत्सव के पीछे तीसरा कारण यह है कि ज्यों-ज्यों बालक का शारीरिक विकास होने लगता है, त्यों-त्यों शरीर पुष्टि एवं शरीरबल के लिए आवश्यक साधनों की भी जरूरतें बढ़ने लगती हैं। उनमें आहार की आवश्यकता प्रमुखतः मानी जा सकती है क्योंकि आहार ही शरीर के लिए पौष्टिक एवं बलवर्द्धक माना गया है। उसमें भी शारीरिक विकास की दृष्टि से अन्नाहार ही उपयोगी होता है। दुग्धाहार एक निश्चित अवधि तक के लिए ही कार्यकारी होता है इसीलिए वेद ग्रन्थों में अन्न की शक्ति को प्राण कहा है। इस प्रकार शारीरिक विकास हेतुभूत एवं दैहिक में पौष्टिकता को बनाए रखने के प्रयोजन से भी यह संस्कार किया जाता है। इस संस्कार का एक कारण यह भी उपयुक्त लगता है कि एक निश्चित समय के बाद माता के स्तनपान से दूध की मात्रा भी घटने लगती है, तब शिशु के लिए अन्य आहार की आवश्यकता स्वतः बढ़ जाती है और वह शुद्ध, सात्विक और संस्कारी आहार अन्नाहार ही हो सकता है अतः माता एवं शिशु दोनों के हितावह की दृष्टि से भी यह संस्कार नितान्त रूप से आवश्यक कहा जा सकता है। इस तरह अन्नप्राशन संस्कार के अन्य भी कई प्रयोजन एवं उद्देश्य कहे जा सकते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्नप्राशन संस्कार करने का प्राथमिक अधिकारी

श्वेताम्बर परम्परा में इस संस्कार को जैन ब्राह्मण या क्षुल्लक द्वारा करवाए जाने का निर्देश प्राप्त है।[3] दिगम्बर के अनुसार यह संस्कार कौन करवाता है? इसका स्पष्ट उल्लेख पढ़ने में नहीं आया है[4] तथा वैदिक साहित्य में इस संस्कार से सम्बन्धित विधि-विधानों को पिता और ब्राह्मण-दोनों के द्वारा करवाए जाने का सूचन मिलता है।[5]

अन्नप्राशन संस्कार सम्बन्धी शुभमुहूर्त्त विषयक उल्लेख

श्वेताम्बर परम्परा में यह संस्कार किन नक्षत्रों, तिथियों एवं वारों में किया जाना चाहिए, इसका अत्यन्त स्पष्ट निर्देश है, किन्तु दिगम्बर एवं वैदिक परम्परा में तद्विषयक चर्चा नहींवत प्राप्त होती है।

आचारदिनकर में इस संस्कार के लिए निम्न दिन शुभ कहे गए हैं– जिस दिन रेवती, श्रवण, हस्त, मृगशिरा, पुनर्वसु, अनुराधा, अश्विनी, चित्रा, रोहिणी, उत्तरात्रय, धनिष्ठा और पुष्य-ये नक्षत्र हों तथा रवि, सोम, बुध, गुरु और शुक्रवार हों। इसी के साथ शुभ लग्न, शुभ तिथि एवं शुभ योग होने पर शिशु के चंद्रबल को देखकर अन्नप्राशन संस्कार करने का विधान किया है। इसमें यह भी निर्देश है कि जो नक्षत्र आदि इस संस्कार के लिए शुभ हैं, उनमें अच्छे ग्रह विद्यमान होने पर अमावस्या और रिक्ता तिथि को छोड़कर शुभ तिथि में अन्नप्राशन संस्कार करना चाहिए। यदि उस दिन बालक की लग्नकुंडली में अशुभ ग्रह विद्यमान हों तो उसके विपरीत परिणाम क्या हो सकते हैं यह भी निर्दिष्ट किया गया है।[6] इस तरह श्वेताम्बर परम्परा में इस संस्कार के निमित्त शुभदिन आदि का विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है।

अन्नप्राशन संस्कार हेतु उपयुक्त काल

श्वेताम्बर परम्परा के मत से यह संस्कार बालक के जन्म से छठवें मास में एवं बालिका के जन्म से पाँचवें मास में किया जाना चाहिए।[7] दिगम्बर परम्परा में इस संस्कार के लिए बालक-बालिका उनके जन्म से सात, आठ या नौ माह के बाद का समय उत्तम बतलाया गया है।[8] वैदिक परम्परा के अनुसार यह संस्कार कब किया जाना चाहिए, इस सम्बन्ध में विभिन्न मत-मतान्तर देखने को मिलते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गृह्यसूत्रों के अनुसार यह संस्कार शिशु के जन्म होने के पश्चात छठवें मास में किया जाना चाहिए।[9] प्राचीन स्मृतियों ने भी इसके लिए छठवां महीना उपयुक्त माना है।[10] कुछ विद्वानों के मतानुसार यह बारहवें मास में अथवा एक वर्ष सम्पूर्ण होने पर भी किया जा सकता है।[11] लौगाक्षि के नियमानुसार पाचन-शक्ति के विकसित हो जाने पर अथवा दाँतों के निकलने पर अन्नप्राशन संस्कार करना चाहिए।[12] इस नियम से सूचित होता है कि दाँत ठोस अन्न ग्रहण करने की क्षमता के विकसित होने के प्रत्यक्ष चिह्न हैं। दुर्बल शिशु के लिए यह अवधि बढ़ाई भी जा सकती हैं, किन्तु अन्तिम सीमा एक वर्ष तक की निर्धारित की जानी चाहिए अन्यथा माता के स्वास्थ्य और शिशु की पाचनशक्ति के विकास के लिए हानिकारक स्थिति पैदा कर सकते हैं अतः एक वर्ष की अवधि तक यह संस्कार कर ही दिया जाना चाहिए। इस अवधि के अन्तर्गत भी बालकों के लिए सम तथा बालिकाओं के लिए विषम मास विहित माने गए हैं। लिंग पर आधारित यह भेद इस भाव का सूचक है कि संस्कारों में विभिन्न लिंगों के लिए किसी न किसी प्रकार का अन्तर अवश्य होना चाहिए। इस प्रकार वैदिक मत में छठवें मास से लेकर एक वर्ष तक की अवधि इस संस्कार के लिए योग्य कही गई है।

अन्नप्राशन संस्कार सम्बन्धी आवश्यक सामग्री

श्वेताम्बर परम्परा के आचारदिनकर में इस संस्कार के लिए अग्रलिखित सामग्री अपेक्षित मानी गई है [13]–

(1) सभी प्रकार के धान्य (2) सभी प्रकार के फल (3) सभी विकृतियाँ (4) स्वर्ण, रजत, ताम्र और कांसे एक-एक पात्र इत्यादि वस्तुएँ इस संस्कार के लिए एकत्रित करनी चाहिए। दिगम्बर एवं वैदिक मत में इस संस्कार के लिए किसी भी सामग्री का उल्लेख लगभग नहीं है।

भारतीय साहित्य में अन्नप्राशन संस्कार विधि

श्वेताम्बर– श्वेताम्बर परम्परा में अन्नप्राशन संस्कार की विधि निम्नलिखित रूप में प्रतिपादित की गई है[14] • जिस शुभयोग आदि दिन में यह संस्कार सम्पन्न करना हो, उस दिन पूर्वोक्त लक्षणवान् गृहस्थ गुरु शिशु के घर आए और उस देश में उत्पन्न होने वाले सभी प्रकार के धान्य को एकत्रित करे। इसी के साथ उस देश में उत्पन्न होने वाले और उस शहर में उपलब्ध हो सकने वाले फलों एवं छः विकृतियों (दूध, दही, घी, तेल, गुड़ और तली हुई वस्तुएँ)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को संग्रहित करे। उसके बाद सभी प्रकार के धान्यों, सब्जियों एवं विकृतियों द्वारा विविध प्रकार के व्यंजन बनाए। • फिर अरिहन्त प्रतिमा का बृहत्स्नात्र की विधि पूर्वक पंचामृत स्नान करवाएं। • फिर निर्मित व्यंजनों को पृथक् पात्र में स्थापित कर मन्त्रोच्चारण पूर्वक जिनप्रतिमा के सम्मुख चढ़ाए। सभी प्रकार के फल भी चढ़ाए। • उसके बाद बालक को अर्हत्स्नात्र का जल पिलाएं। • पुनः वे सब वस्तुएँ, जो प्रतिमा के सम्मुख चढ़ाई थीं, अमृताश्रव मन्त्र से अभिमन्त्रित कर गौतमस्वामी की प्रतिमा के आगे चढ़ाए। फिर उसमें से बची हुई वस्तुओं को कुल देवता के मन्त्र द्वारा कुल देवता एवं देवी मंत्र द्वारा गौत्र देवी की प्रतिमा के आगे रखें।

• तदनन्तर कुल देवी के आगे रखे गए नैवेद्य में से शिशु के परिमाण जितना आहार लेकर मंगलगीत गाते हुए उसकी शिशु के मुख में रखे। उस समय गृहस्थ गुरु वेद मन्त्र का तीन बार पाठ करे। • उसके बाद षड्रस युक्त भोजन साधु को बहराए। • मंडलीपट्ट के ऊपर परमान्न(खीर) से भरा हुआ सुवर्णपात्र रखे। • फिर विधिकारक गुरु को द्रोण प्रमाण सभी प्रकार के अन्न का दान करे तथा घी, तेल आदि तुला प्रमाण दे और सभी जाति के 108-108 फल प्रदान करे। साथ ही तांबे की चरू, कांसे का थाल और दो वस्त्र भी देने चाहिए।

दिगम्बर– दिगम्बर परम्परा के मतानुसार इस संस्कार में अरिहन्त परमात्मा की पूजा आदि कृत्य करते हैं और बालक को यथायोग्य अन्न खिलाते हैं। आदिपुराण[15] में अन्नप्राशन संस्कार की यही विधि कही गई है।[15] इसके सिवाय यह संस्कार कौन करवाता है? अन्न आदि की वस्तुएँ किस प्रकार निर्मित करते हैं? शिशु को प्रथम बार कौनसी वस्तु खिलाते हैं? इस सम्बन्ध में कोई विवरण पढ़ने को नहीं मिला है।

निषद्या संस्कार– दिगम्बर परम्परा में नौवां निषद्या नाम का संस्कार माना गया है। यह संस्कार शिशु के जन्म के तीन-चार माह पश्चात् किसी शुभ दिन में द्विज द्वारा किया जाता है। इस संस्कार नाम के अनुसार इसमें बालक को उत्तम आसन पर बिठाने की क्रिया की जाती है। इस क्रिया में सिद्ध भगवान् की पूजा करना आदि सम्पूर्ण विधि पूर्ववत ही करनी चाहिए।[16]

वैदिक– इस परम्परा में अन्नप्राशन संस्कार की सामान्य एवं प्राचीन विधि इस प्रकार वर्णित है– सर्वप्रथम अन्नप्राशन संस्कार के दिन यज्ञीय-भोजन के पदार्थ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वैदिक मन्त्रों के साथ स्वच्छ किए जाते थे और पकाए जाते थे। उसके बाद एक आहुति वाग्देवता को और दूसरी आहुति ऊर्ज्ज को दी जाती थी। साथ ही पिता द्वारा चार आहुतियाँ अलग से दी जाती थी। यहाँ भोजन शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में हुआ है। इस प्रसंग पर शिशु की समस्त इन्द्रियों की सन्तुष्टि के लिए प्रार्थना की जाती थी, जिससे वह सुखी व सन्तुष्ट जीवन व्यतीत कर सके।[17]

इस अवसर के आवश्यक कृत्य सम्पन्न हो जाने पर पिता बालक को खिलाने के लिए सभी प्रकार के भोजन तथा स्वादिष्ट व्यंजनों को पृथक्-पृथक् रखता था और मौन पूर्वक अथवा 'हन्त' इस शब्द के साथ शिशु को भोजन कराया जाता था।[18] फिर ब्राह्मण भोजन के साथ यह संस्कार सम्पन्न होता था। यह प्राचीन ग्रन्थों में वर्णित विधि का स्वरूप है। वर्तमान युग की विधि को काफी परिवर्तन के साथ देखा जा सकता है। वैदिक परम्परा में इस विषय को लेकर भी काफी मतभेद हैं और यह प्रश्न भी वैदिक मत में प्रमुख रूप से उठा है कि शिशु को पहली बार कौनसा आहार खिलाया जाना चाहिए?

सामान्य अवधारणा यह कहती है कि शिशु को समस्त प्रकार का भोजन और विभिन्न स्वादों का मिश्रण कर खाने के लिए देना चाहिए।[19] कुछ धर्मशास्त्र दही, मधु और घृत को मिश्रित कर खिलाने का विधान करते हैं। वैदिक परम्परा के कुछ मतानुयायी मांस आदि(अमिष) भोजन का निर्देश करते हैं और बच्चे में विभिन्न प्रकार के गुणों का विकास करने हेतु विविध प्रकार के मांस आदि सेवन को आवश्यक मानते हैं। यह अत्यन्त प्राचीन काल की बाते हैं। वर्तमान प्रणाली में दही, घी और दूध का सेवन करवाया जाना ही प्रचलित है। मार्कण्डेयपुराण शिशु को मधु और घी के साथ खीर खिलाने का उल्लेख करता है।[20] इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक धर्म में प्रथम आहार को लेकर कई मत प्रचलित हुए हैं तथा वर्तमान में अन्न आदि के साथ दही, मधु, घृत या खीरा आदि को मिलाकर खिलाने का विशेष प्रचलन है।

अन्नप्राशन संस्कार के सारगर्भित प्रयोजन

अन्नप्राशन संस्कार के पीछे अनेक विधि-अनुष्ठान सम्पादित किए जाते हैं। हमारे समक्ष उनके कुछ प्रयोजन इस प्रकार हैं-

विविध आहारों में अन्नाहार ही संस्कार रूप क्यों ? अन्न को प्राण का देवता माना गया है। अन्न जीवन प्रदान करने वाला तत्त्व है। जो शक्ति अन्न

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में है वह अन्य प्रकार के आहार में नहीं है। शारीरिक-पुष्टता, निरोगता, स्वस्थता, बलिष्ठता आदि के सभी गुण अपेक्षाकृत अन्न आहार में विशेष प्रकार से रहे हुए हैं। इन सभी गुणों की अपेक्षा से मनुष्य के लिए अन्न आहार ही अति उपयोगी प्रतीत होता है। इस आहार की अनिवार्यता को प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में आसानी से सिद्ध किया जा सकता है, एतदर्थ अन्नाहार संस्कार का प्रावधान किया गया है। इस संस्कार द्वारा बच्चे को अन्न का महत्त्व समझाया जाता है।

छः माह के बाद ही अन्नप्राशन संस्कार का निर्देश क्यों? सामान्यतया सभी परम्पराओं में इस संस्कार का काल शिशु जन्म से छः माह बाद माना गया है। इसका मुख्य कारण यह है कि उस अवधि के पूर्वकाल तक बालक का शरीर अत्यन्त कोमल एवं पाचनतन्त्र निष्क्रिय रहता है। आहार को चबाने, पचाने एवं रक्त-मांस आदि रूप में परिणत करने की क्षमता अल्प विकसित होती है, जबकि छः माह के बाद बच्चे का पाचनतंत्र कुछ मजबूत होकर अधिक क्रियाशील होने लगता है, जिससे सुपाच्य अन्न को पचा लेने की क्षमता आ जाती है, अतः उपयुक्त अवस्था को जानकर ही यह संस्कार छठवें माह आदि में सम्पादित किया जाता है।[21] तत् क्रिया योग्य बच्चे की कमजोर एवं पूर्व में अननुभूत की सी स्थिति में अन्न के साथ पाचन-तंत्रिका का संघर्ष किया जाना कुछ समय तक कठिन होता है, इसलिए भी उपयुक्त समय की प्रतीक्षा आवश्यक प्रतीत होती है।

अन्नप्राशन संस्कार का शुभ मुहूर्त्त से क्या सम्बन्ध? यहाँ एक चिन्तनीय पक्ष है कि अन्नप्राशन के लिए शुभ मुहूर्त्त का होना क्यों महत्त्वपूर्ण है? अन्नप्राशन से शुभ मुहूर्त्त का क्या सम्बन्ध हो सकता है? यह बात ज्योतिष शास्त्र से सम्बन्धित है। चन्द्र की शक्ति एवं तारों का प्रभाव हमेशा समान नहीं होता प्रत्युत उसमें बदलाव आता रहता है, इस बात को आधुनिक विज्ञान भी सहर्ष स्वीकारता है। उपजने वाला अन्न निश्चित रूप से ग्रहों, उपग्रहों से प्रभावित होता है और उसकी प्रतिक्रिया भी अलग-अलग ढंग की अलग-अलग समय में हुआ करती है। भात को रात में खाया जाना स्वास्थ्य की दृष्टि से अनुचित है, क्योंकि कफ की वृद्धि करता है, किन्तु उदर व्यथा से पीड़ित व्यक्ति द्वारा यदि उसे दिन में खाया जाता है तो वह दोषावह न होकर गुणावह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होता है-यह तो एक उदाहरण मात्र है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक अन्न प्रत्येक समय में शारीरिक क्रियाओं को प्रभावित करता है अत: अन्नप्राशन के समय मुहूर्त्त का विचार करना वैद्यक शास्त्र के अनुकूल बात है।

अन्नप्राशन के पूर्व जैन ब्राह्मण या माता-पिता को पवित्र रहना जरूरी क्यों? अन्नप्राशन संस्कार सम्पन्न करने से पूर्व ब्राह्मण को या माता-पिता को अत्यन्त पवित्र रहने की जो शर्त ग्रन्थों में निरूपित है, उसको हम आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से परिवेश में अवस्थित हानिकारक जीवाणु से बचने वाले उपायों के रूप में देख सकते हैं। माता को शुचि सम्पन्न होने के लिए इसलिए कहा जाता है कि वह अन्न को पकाकर खाने लायक रूप प्रदान करती है। वैदिक मत में पिता अपने हाथों से पुत्र को भोजन कराता है अत: उसका भी निर्मल होना आवश्यक है।

अन्नप्राशन के समय दधि, मधु, घृत एवं खीर का महत्त्व– वैदिक परम्परा में अन्नप्राशन के अवसर पर खिलाए जाने वाले धान्यादि के साथ दधि आदि वस्तुओं का सम्मिश्रण किया जाता है। यह शारीरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। सामान्यतया इन वस्तुओं के प्रभाव से भोजन के बाद उत्पन्न होने वाली नाना प्रकार की विकृतियाँ दूर होती हैं। आयुर्वेदशास्त्र के अनुसार दधि, मधु एवं घृत दशाधिक बीमारियों को दूर करने की सामर्थ्य अपने में रखते हैं अर्थात इन वस्तुओं के सेवन द्वारा शरीर स्वस्थ रहता है।

जहाँ तक खीर का प्रश्न है, वह सुपाच्य एवं सात्त्विक-गुण प्रधान होने के कारण ही उसे इस संस्कार में प्रमुखता दी गई है। प्रस्तुत संस्कार के अवसर पर शिशु के आहार में इन दोनों तथ्यों का पूरा ध्यान रखना चाहिए। उसे कोई ऐसी चीज न दी जाए, जो पाचन में कठिनाई उत्पन्न करती हो तथा इतनी अधिक मात्रा में भी न हो, जो आमाशय और आँतो पर भार बनकर उसके जीवन का संकट बन जाए। जो अभिभावक बच्चों के आहार की मात्रा का एवं सुपाच्यता आदि का ध्यान नहीं रखते हैं, वे उनके शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य को बिगाड़ने के अपराधी होते हैं। आज की स्थिति यही है। लोग बच्चे तो पैदा कर लेते हैं, पर उनके आहार के बारे में समुचित ज्ञान नहीं रखते, अनावश्यक मात्रा में अनुपयुक्त खाद्य वस्तुएँ खिलाते रहते हैं। फलस्वरूप बालक रोगी होता है और असमय ही काल-कवलित हो जाता है। हमारे देश में इस प्रकार बाल मृत्यु

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अभिभावकों की इस अज्ञानता के कारण ही अधिक हो रही है। संसार में बाल मृत्यु की औसत सबसे अधिक भारत में ही है। इसका प्रधान कारण छोटे बालकों के आहार सम्बन्धी अज्ञान को ही समझना चाहिए अतः इस संस्कार के प्रसंग पर तथा उसके बाद भी सात-आठ वर्ष तक बच्चों के आहार की मात्रा का पूरा ध्यान रखना चाहिए, वही सच्चा संस्कार है।[22]

जिनप्रतिमा, कुलदेवता आदि के समक्ष अन्न आदि का अर्पण क्यों? खाने से पूर्व देना या अर्पण करना भारतीय संस्कृति का अविच्छिन्न अंग है। यह हमारी प्राचीन और लौकिक संस्कृति रही है। भोजन थाली में आते ही गाय, चींटी आदि का भाग उसमें से अवश्य निकालते हैं। साथ ही भोजन ईश्वर को समर्पित कर या वैदिक मत से अग्नि में आहुति देने के बाद खाते हैं। होली का पर्व तो इसी प्रयोजन के लिए ही है। नई फसल में से एक दाना भी मुख में डालने से पूर्व पहले उसकी आहुतियाँ होलिका-यज्ञ में देते हैं, तब उसे खाने का अधिकार मिलता है। किसान फसल को साफ कर जब खलिहान में अन्न राशि तैयार कर लेता है, तो सबसे पहले उसमें से एक टोकरी अन्न धर्म कार्य के लिए निकालता है, तब वह अन्न राशि घर ले जाता है।

भारतीय संस्कृति यह रही है कि किसी भी द्रव्य का उपयोग करने से पूर्व धर्म के निमित्त कुछ अवश्य दान किया जाए। दान करने से जीवन में उदारता, निःस्वार्थता और परमार्थता आदि गुणों का विकास होता है। पूजनीय परमात्मा के प्रति अहोभाव के गुण प्रकट होते हैं। समाज के बीच भी वह धार्मिक, दानवीर, परोपकारी की दृष्टि से देखा जाता है। तात्पर्य यह है कि परमात्मा आदि को कुछ भी अर्पित करने की भावना से व्यक्ति के जीवन में लौकिक या लोकोत्तर दोनों दृष्टियों से परिवर्तन आता है। अर्पित करना अपने-आप में बहुत बड़ा गुण है। यह एक धार्मिक कर्त्तव्य भी है। जो अपनी कमाई आप ही खाता है, पर्व विशेष या अनुष्ठान विशेष के अवसर पर जिनालय में कुछ भी नहीं चढ़ाता है, वह कानून या प्रथा-परम्परा के अनुसार भले ही सभ्य हो, किन्तु नैतिकता एवं धार्मिकता के अनुसार चोर है।

हिन्दू परम्परा में दान का महत्त्व विशेष है। वहाँ हर छोटी-बड़ी परम्परा में दान को अनिवार्य शर्त के रूप में जोड़ दिया गया है। जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त हर संस्कार में, हर धर्मानुष्ठान में, देव-दर्शन में अर्पण या दान के बिना नहीं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चलता है। इसकी महिमा को अन्यत्र भी देखा जा सकता है। पूर्वकाल में देश, धर्म, समाज और संस्कृति के उत्कर्ष में एवं लोकहित में निरन्तर लगे रहने वाले ब्राह्मणों को समय-समय पर सम्मान पूर्वक धन इसी आधार पर दिया जाता था कि वे निर्वाह की चिन्ता छोड़कर पूरा समय लोक कल्याण के लिए लगा सकें। साधु-सन्तों को दान देने के पीछे भी यही एक कारण माना जा सकता है। इसी तरह जिनप्रतिमा आदि के सम्मुख नैवेद्यादि अर्पित करने के पीछे भी अनेक तथ्य निहित हैं और यह परम्परा बहुत हद तक सार्थक एवं श्रेयस्कर भी है।

इस प्रकार अन्नप्राशन संस्कार सम्बन्धी विधि-विधान किसी न किसी रूप में शरीर, मन एवं बुद्धि को स्वस्थ रखने के निमित्त किए जाते हैं।

अन्नप्राशन संस्कार का तुलनात्मक विवेचन

यदि हम अन्नप्राशन संस्कार को तुलनात्मक दृष्टि से प्रस्तुत करते हैं तो बहुत सी मौलिकताएँ एवं विशिष्टताएँ नजर आती हैं। साथ ही तीनों परम्पराओं में यह विधि एवं इसके उपयोगी विधान परस्पर में कितनी समानता और असमानता को लिए हुए हैं-यह विवरण भी अधिक स्पष्ट हो जाता है।

नाम की अपेक्षा– श्वेताम्बर, दिगम्बर एवं वैदिक-इन तीनों परम्पराओं में प्रस्तुत संस्कार के नाम के विषय में यत्किंचित् भी अन्तर नहीं है।

क्रम की अपेक्षा– श्वेताम्बर परम्परा में इस संस्कार का स्थान नौवाँ है, दिगम्बर परम्परा में यह संस्कार दसवें स्थान पर है, तो वैदिक परम्परा में आठवें क्रम पर रखा गया है।

अधिकारी की अपेक्षा– श्वेताम्बर मतानुसार जैन ब्राह्मण या क्षुल्लक तथा वैदिक परम्परा के अनुसार ब्राह्मण एवं पिता इस संस्कार के अधिकारी बतलाए गए हैं। दिगम्बर मत में इसका स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं हो पाया है। यहाँ अधिकारी के विषय को लेकर तीनों परम्पराओं में कुछ समानता, तो कुछ असमानता दिखाई देती है।

मुहूर्त्त की अपेक्षा– इस संस्कार को किस शुभ दिन में सम्पन्न करना चाहिए? इसका निर्देश श्वेताम्बरमान्य आचारदिनकर में उपलब्ध होता है, शेष दोनों परम्पराएँ इस विषय में मौन हैं।

काल की अपेक्षा– श्वेताम्बर परम्परा लिंग निर्धारण के अनुसार पाँचवां या छठवां महीना, दिगम्बर परम्परा सातवाँ, आठवाँ या नवाँ मास तथा वैदिक-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परम्परा छठवें महीने से लेकर एक वर्ष तक की अवधि इस संस्कार के लिए सुयोग्य मानती है।

श्वेताम्बर एवं वैदिक दोनों परम्पराओं ने इस संस्कार का काल लिंग के आधार पर भी सुनिश्चित किया है, जबकि दिगम्बर परम्परा में लिंग निर्धारण का कोई उल्लेख नहीं है। इस प्रकार संस्कार काल को लेकर तीनों परम्पराओं में कथंचित् भिन्नता है तो कथंचित् समानता भी।

विधि की अपेक्षा– श्वेताम्बर परम्परा में यह विधि विस्तार के साथ चर्चित है वहीं दिगम्बर ग्रन्थों में यह विधि अति संक्षेप में कही गई है तथा वैदिक परम्परा में इस विधि का सामान्य स्वरूप प्राप्त होता है।

मन्त्र की अपेक्षा– इस संस्कार विधि के अन्तर्गत तीनों परम्पराओं में किसी न किसी मन्त्र का उल्लेख अवश्य है और उन तीनों में मन्त्र पाठ को लेकर भिन्नताएँ हैं। श्वेताम्बर परम्परा में पाँच प्रकार के मन्त्रों का उल्लेख हुआ है– 1. नैवेद्य चढ़ाने का मन्त्र 2. सूरिमंत्र के अन्तर्गत आया हुआ अमृताश्रव मंत्र 3. कुल देवता मंत्र 4. कुल देवी मंत्र और 5. अन्नप्राशन के समय कहा जाने वाला वेद मंत्र। वह वेद मन्त्र निम्न है[23]–

"ॐ अर्हं भगवान्नर्हन् त्रिलोकनाथःत्रिलोकपूजितः सुधाधार- धारित शरीरोऽपि कावलिकाहारमाहारितवान् पश्यन्नपि पारणविधा- विक्षुरसपरमान्न भोजनात्परमानन्ददायकं बलं। तद्देहिन्नौ-दारिक शरीर माप्तस्वत्वमप्याहारस्य आहारं तत्ते दीर्घमायुरारोग्यमस्तु अर्हं ॐ।"

दिगम्बर परम्परा में अन्नप्राशन क्रिया के अवसर पर निम्न मन्त्र बोलने का निर्देश है[24]–

'दिव्यामृतभागी भव, विजयामृतभागीभव, अक्षीणामृतभागी भव।'

वैदिक परम्परा में दो प्रकार के लघु मन्त्र देखने में आए हैं– 1. भूःभुवः स्वः[25] 2. हन्त।[26]

उक्त तीनों परम्पराओं में उल्लिखित ये मन्त्र शिशु को अन्न खिलाने के अवसर पर बोले जाते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि तुलनात्मक दृष्टि से यह संस्कार अत्यन्त महत्त्व का है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपसंहार

यदि हम पूर्व विवेचन के पश्चात् इस संस्कार के सम्बन्ध में समीक्षात्मक-दृष्टि से मनन करें, तो विदित होता है कि अन्नप्राशन एक मूल्यवान् संस्कार है। मानव विकास में यह संस्कार महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस विश्व का प्रत्येक प्राणी अपने तन, मन एवं चिन्तन को पवित्र रखना चाहता है। तदुपरान्त विगत जन्मों के दुष्प्रभाव से एवं इस जन्म में सत्संस्कारों का आश्रय न मिलने के कारण व्यक्ति का तन-मन अपवित्र बन भी जाए, तो भी अन्तर्मन से वह स्वच्छ, सात्त्विक एवं पवित्र रहना चाहता है। यह मनोभावना अन्नप्राशन संस्कार द्वारा पूर्ण की जा सकती है, क्योंकि इस संस्कार के माध्यम से गर्भ में रहे हुए आहार जनित दोषों को दूर किया जाता है। इस संस्कार का एक उद्देश्य यह भी है कि अन्न स्वयं एक पवित्र वस्तु है इसलिए उसका प्रथम आस्वाद करवाते समय उसके माधुर्य, रसत्व, गन्धत्व एवं उष्णत्व गुण से परिचित कराया जाए।

सन्दर्भ-सूची

1. *हिन्दूसंस्कार, पृ. 114*
2. *राजप्रश्नीय, मधुकरमुनि, सू. 280*
3. *आचारदिनकर, पृ. 16*
4. *आदिपुराण, पर्व-38, पृ. 248*
5. *हिन्दूसंस्कार, पृ. 117-18*
6. *आचारदिनकर, पृ. 16*
7. *आचारदिनकर, पृ. 16*
8. *आदिपुराण, पर्व-38, पृ. 248*
9. *(क) आश्वलायनगृह्यसूत्र, 1/16*
   (ख) पारस्करगृह्यसूत्र, 1/19/2
   (ग) बौधायनगृह्यसूत्र, 2/2
10. *मनुस्मृति, 2/34, याज्ञवल्क्यस्मृति, 1/12*
11. *वीरमित्रोदयसंस्कार, भा.-1, पृ. 267*
12. *वही, पृ. 267*
13. *आचारदिनकर, पृ. 17*
14. *आचारदिनकर, पृ. 16-17*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

15. आदिपुराण, पर्व-38, पृ. 248
16. वही, पृ. 246
17. पारस्करगृह्यसूत्र, 1/19/2
18. हिन्दूसंस्कार, पृ. 117-18
19. पारस्करगृह्यसूत्र, 1/19/4
20. वीरमित्रोदयसंस्कार, भा. 1, पृ. 275
21. षोड़शसंस्कार (एक वैज्ञानिक विवेचन), डॉ. बोधकुमार झा, पृ. 22
22. षोडशसंस्कारविवेचन, श्रीरामशर्मा, पृ. 6-7
23. आचारदिनकर, पृ. 17
24. आदिपुराण, पर्व-40, पृ. 308
25. धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ. 202
26. हिन्दूसंस्कार, पृ. 118

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अध्याय - 11

कर्णवेध संस्कार विधि का तात्त्विक स्वरूप

मानव शरीर का एक मुख्य अंग है कान। इसकी गणना पाँच संवेदनशील इन्द्रियों के अन्तर्गत होती है। विभिन्न दृष्टियों से कान के विविध उपयोग है एवं शरीर शास्त्रियों की दृष्टि में यह एक मुख्य नियंत्रण केन्द्र है। इसी कारण भारतीय ऋषि-महर्षियों ने कर्णछेदन संस्कार का निरूपण किया होगा। यह संस्कार शिशु का कर्ण छेदन करवाए जाने से सम्बन्धित है। इस संस्कार द्वारा परम्परामूलक विधि-विधान के माध्यम से बालक का कर्णछेदन (कान छिदवाना) किया जाता है। कर्णछेदन की प्रक्रिया स्वस्थ शरीर एवं स्वस्थ मन से सम्बन्ध रखती है। यह संस्कार प्राचीन चिकित्सा पद्धति पर आधारित है। इतिहास की दृष्टि से यह संस्कार अति प्राचीन है। संभवतः प्रारम्भिक काल में अलंकरण के लिए इसका प्रचलन हुआ होगा, किन्तु अब स्वास्थ्य की दृष्टि से भी इसकी उपयोगिता समझ आने लगी है। धार्मिक संस्कार के रूप में प्रारंभ हुए इस संस्कार को वैज्ञानिक मान्यता भी प्राप्त हो चुकी है।

आभूषण पहनने के लिए विभिन्न अंगों के छेदन की प्रथा न केवल जन-जातियों में प्रचलित रही है, अपितु सभ्य समाज में भी शरीर-अलंकरण की प्रथा को मान्यता मिल चुकी है। चिकित्साशास्त्र के अभिमतानुसार रोग आदि से रक्षा करने के लिए तथा अण्डकोशवृद्धि एवं आन्त्रवृद्धि के निरोध के लिए कर्णवेध अवश्य करना चाहिए। इस विधान के द्वारा उक्त रोगों का यथासंभव निरोध किया जा सकता है।[1]

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कर्णछेदन की प्रथा तो अत्यन्त पुरानी है, किन्तु इसे धार्मिक संस्कार के रूप में मान्यता बहुत बाद में प्राप्त हुई। यह बात गृह्यसूत्रों का अवलोकन करने से अवगत होती है, क्योंकि किसी भी गृह्यसूत्र में इस संस्कार का उल्लेख नहीं हुआ है। वर्तमान परम्परा में इस संस्कार का जो महत्त्व देखा जाता है, वह इसके स्वास्थ्यमूलक दृष्टिकोण से है। श्वेताम्बर,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दिगम्बर एवं वैदिक इन तीनों परम्पराओं में इस संस्कार को स्वीकार किया गया है। श्वेताम्बर एवं वैदिक– इन दो परम्पराओं में कर्णवेध संस्कार को स्वतन्त्र संस्कार के रूप में मान्यता प्राप्त है, किन्तु दिगम्बर-मत में इसको स्वतन्त्र संस्कार न मानकर चौलकर्म संस्कार में इसका अन्तर्भाव कर लिया गया है।

कर्णवेध संस्कार की अर्थ यात्रा

इसका सीधा सा अर्थ है कान के एक भाग को छिदवाना या छेद करवाना। इस क्रिया को धार्मिक विधि-विधान पूर्वक सम्पन्न करना कर्णवेध संस्कार कहलाता है।

कर्णछेदन की प्रक्रिया नियत सुई द्वारा ही की जाती है। यूं तो स्वर्णसूचिका उत्तम मानी गई है, किन्तु अपने सामर्थ्य के अनुसार चाँदी अथवा तांबे की सुई का भी व्यवहार किया जा सकता है। स्मृतिमहार्णव में तांबे की सूचिका का निर्देश है। शिशु की जाति के अनुसार इनमें भेद हो सकता है जैसे-राजपुत्र के लिए स्वर्णमयी सूची, ब्राह्मण एवं वैश्य के लिए रजत निर्मित सूची और शुद्र के लिए लौह सूची का उपयोग करना चाहिए।[2] इस प्रकार निर्धारित सूचिका द्वारा विधिपूर्वक कर्णछेदन करना कर्णवेध संस्कार है।

कर्णवेध संस्कार की व्यावहारिक जगत में आवश्यकता

जब हम कर्णवेध संस्कार की आवश्यकता, उपादेयता अथवा प्रयोजन आदि को लेकर चिन्तन करते हैं, तो कई दृष्टियों से इसकी मूल्यवत्ता सिद्ध होती है।

यह संस्कार जितना व्यावहारिक है, उतना ही वैज्ञानिक भी। व्यावहारिक दृष्टि से कर्णवेध संस्कार का महत्त्व अनुशंसनीय है। यह संस्कार सामाजिक दृष्टि से व्यक्ति के सौन्दर्य में अभिवृद्धि करता है। शरीर के प्रत्येक अंगों में कर्ण की अपनी एक अलग पहचान है। कर्ण दो होते हैं और अपने बीच में मुखमण्डल को सौन्दर्य से मण्डित करते हैं। आदमी स्वभाव से ही सौन्दर्यप्रेमी है। संस्कार पूर्वक इस अंग में विशिष्ट प्रकार का आभूषण पहनना सौंदर्य में अभिवृद्धि करना है।

चिकित्साशास्त्र की दृष्टि से भी कर्णवेध संस्कार का अपना महत्त्व है। इसके द्वारा हाइड्रोसील जैसे रोग का निवारण संभव है। यदि कोई विशेषज्ञ कान की नस को पहचानकर ठीक से छिद्र कर दे, तो उक्त रोग नहीं होता। दूसरा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तथ्य यह माननीय है कि संसार में जितनी भी धातुएँ उत्खनन आदि के द्वारा प्राप्त होती हैं, उन सभी में काम्य धातुएँ गहने के लिए असाधारण गुणों से युक्त होती हैं, जो मात्र सौन्दर्य को ही प्रभावित नहीं करती, अपितु शरीर के अन्दर विद्यमान रोगाणुओं को भी बलात् नियन्त्रित करती हैं। यही कारण है कि प्राय: सभी धातुएँ अग्नि के संस्पर्श से जल जाती हैं या विकृति को प्राप्त करती हैं किन्तु स्वर्ण एवं चाँदी ऐसी धातुएँ हैं, जिन्हें अग्नि में तपाए जाने पर ही उनमें निखार आता है।

ज्योतिष शास्त्रियों द्वारा नाना प्रकार के अमंगल ग्रहों की शान्ति के निमित्त अनेक प्रकार के रत्न धारण किए जाने की सलाह दी जाती हैं। उनके धारण करने के स्थान भी शास्त्रों में नियत किए गए हैं, जहाँ उस रत्न के संस्पर्श होने से उन ग्रहों की शान्ति होती है। इस दृष्टि से कर्णवेध संस्कार द्वारा जिस बच्चे के कान में छेद करवाए जाते हैं और उनमें उत्तमोत्तम धातुओं के साथ रत्न धारण करवाए जाते हैं, वे स्वास्थ्य, ग्रह शान्ति एवं सौन्दर्य वर्धन होते हैं। दार्शनिक दृष्टि से भी इस संस्कार का महत्त्व है। इस सम्बन्ध में डॉ. बोधकुमार झा ने लिखा है कि यह संसार एक शून्य है, शून्य के अलावा इसमें कुछ भी नहीं है। प्रकृति द्वारा सर्जित शरीर में अनेकों रिक्तियाँ बनाई गई है, किन्तु व्यक्ति द्वारा यह रिक्त स्थान कृत्रिम रीति से भर दिए जाते है, जिसका संकेत संसार की अटल सत्यता की ओर रहता है। व्यक्ति शून्य में कुछ भी करने को स्वतंत्र है क्योंकि यह शून्य शाश्वत नहीं है अर्थात शून्य को पुरुषार्थ द्वारा बांटा जा सकता है। जिस प्रकार आग के शोलों में जल के कण ढूंढे जा सकते हैं, पाषाण में रस के फव्वारे फूट सकते हैं, उसी प्रकार कर्णवध संस्कार द्वारा असंभव कार्यों को संभव किया जा सकता है। यह भारतीय संस्कृति की अनुपम विशेषताओं में से एक है।[3]

इस संस्कार का एक प्रयोजन यह भी माना जा सकता है कि व्यक्ति जो कुछ सुन रहा हो, उसे उचित अर्थ की क्षमता पूर्वक सुनने वाला हो अर्थात एक सी घटना का अनेक प्रकार से अर्थ निकालने वाला हो, उस घटना को समस्त अभिप्रायों से जानने वाला हो, छेद-छेद कर विवेक पूर्वक समझने वाला हो जैसे-किसी भी मृत्यु पर दस-बारह व्यक्ति रो रहे हों तो उस स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति का रूदन सुनकर हर व्यक्ति के रोने का सही अर्थ लगाना, उस रूदन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की घटना को सूक्ष्मता पूर्वक देखना है। एक बिछुड़ने के दु:ख से रो रहा है तो दूसरा उस मृत व्यक्ति से पूर्व में प्राप्त किए सुख पर कृतज्ञता दिखाने के निमित्त रो रहा है तो एक रिवाज समझकर रो रहा है, एक दूसरे की आँखों में आँसू देखकर अपने आँसू थाम नहीं पा रहा है। कर्ण छेद ऐसी ही शक्ति को जागृत करने का प्रथम पाठ है।[4] योग साधना की दृष्टि से कर्ण वेध के स्थान को अप्रमाद का केन्द्र माना गया है, जहाँ छेद किया जाता है। उस स्थान विशेष पर दबाव पड़ने से व्यक्ति की प्रमाद दशा दूर होती है। इस प्रकार इस संस्कार का सम्बन्ध मन की सजगता से भी रहा हुआ है। गाँवों की पाठशाला में आज भी यह दृश्य प्रत्यक्षत: देखने को मिलता है कि जब कोई विद्यार्थी भूल करता है, अध्यापक की आज्ञा को स्वीकार नहीं करता है, तब अध्यापक छात्र को दोनों कान पकड़कर ऊठक-बैठक करवाते हैं। लौकिक जगत में व्यक्ति अपनी भूल को कबूल करने के लिए तथा पुन: उस भूल को न दोहराने की भावाभिव्यक्ति के लिए सहसा अपने कर्णपटल को पकड़ता है।

वर्तमानयुग की एक्यूपंचर चिकित्सा पद्धति भी इस संस्कार के साथ मेल खाती है। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कर्णवेध संस्कार की आवश्यकता और उपादेयता अनेक दृष्टियों से सिद्ध होती है।

कर्णवेध संस्कार करने का मुख्य अधिकारी

श्वेताम्बर परम्परा में गर्भाधान से लेकर विवाह पर्यन्त सभी संस्कारों को सम्पन्न करवाने का अधिकार जैन ब्राह्मण को दिया गया है। दिगम्बर परम्परानुसार इस संस्कार को कौन करवा सकता है? इसका उल्लेख स्पष्ट नहीं है, किन्तु संकेतों के आधार पर द्विज को इसका अधिकारी माना जा सकता है। वैदिक मत में यह विषय विवादास्पद है। कात्यायनसूत्र के अनुसार यह संस्कार पिता द्वारा किया जाना चाहिए किन्तु कानों का छेदन किससे करवाना चाहिए, इस सम्बन्ध में सुश्रुत ने कहा है- भिषक् को बाँयें हाथ से कर्णवेध करना चाहिए।[5] मध्यकालीन लेखकों ने यह अधिकार व्यावसायिक-सौचिक (सुई बनाने वाले या उससे काम करने वाले) को दिया है[6] किन्तु वर्तमान में स्वर्णकार ही कर्णछेदन की क्रिया करते हैं।[7]

वर्तमान की प्रचलित परम्पराओं में कर्णवेध के लिए अधिकांशत: स्वर्णकार को ही बुलाया जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर्णवेध संस्कार के लिए मुहूर्त्त का विचार

श्वेताम्बर परम्परा कर्णवेध संस्कार के लिए शुभ दिन को विशेष महत्त्व देती है। यह संस्कार नियतकालिक अवधि के पूर्ण होने पर भी शुभ मुहूर्त्त आदि के योग में किया जाना चाहिए-ऐसा श्वेताम्बर आचार्यों का स्पष्ट निर्देश है। आचारदिनकर में इस संस्कार के लिए निम्न नक्षत्र आदि शुभ माने गए हैं।

नक्षत्रों में-उत्तरात्रय, हस्त, रोहिणी, रेवती, श्रवण, पुनर्वसु, मृगशिरा और पुष्य-ये उत्तम माने गए हैं। इनमें भी रेवती, श्रवण, हस्त, अश्विनी, चित्रा, पुष्य, धनिष्ठा, पुनर्वसु एवं अनुराधा-ये नक्षत्र चन्द्र सहित हों तो ही कर्णवेध के लिए शुभ होते हैं। इस क्रम में यह भी निर्दिष्ट किया है कि उस दिन शिशु की लग्न कुंडली का तीसरा या ग्यारहवाँ स्थान शुभ ग्रहों से युक्त होना चाहिए। राशि लग्न में क्रूर ग्रह नहीं होने चाहिए तथा बृहस्पति या लग्नाधिप लग्न में होना चाहिए। वारों में-मंगल, शुक्र, सोम एवं गुरु। इसी के साथ शुभ तिथि में और शुभ योग में कर्णवेध संस्कार करना चाहिए।

इस संस्कार का महत्त्व बताते हुए यह भी वर्णित किया है कि गर्भाधान, जातकर्म और मृत्यु–इन संस्कारों की अवधि अनिश्चित होने के कारण इन पर आधारित संस्कारों में वर्ष और मास की शुद्धि देखना जरूरी नहीं है, जबकि कर्णवेध के लिए विवाह संस्कार की तरह वर्ष, मास, नक्षत्र और दिन की शुद्धि अवश्य देखनी चाहिए।[8]

दिगम्बर परम्परा में इस संस्कार का पृथक् अस्तित्व न होने के कारण इस कार्य हेतु शुभदिन का सूचन भी प्राप्त नहीं होता है, किन्तु चौलकर्म संस्कार के लिए जो दिन शुभ माने गए हैं वही दिन कर्णवेध के लिए भी शुभ जानने चाहिए।[9]

वैदिक परम्परा में शुभ दिन आदि की कोई चर्चा नहीं है।

कर्णवेध संस्कार हेतु समुचित काल निर्णय

आचारदिनकर के अनुसार यह संस्कार बालक के जन्म से तीसरे, पाँचवें या सातवें वर्ष में किया जाना चाहिए।[10] दिगम्बर परम्परा के मतानुसार यह संस्कार बालक के पाँच वर्ष पूर्ण होने पर किया जाना चाहिए। कारणवशात् दो-तीन वर्ष की अवधि पूर्ण होने पर भी यह क्रिया की जा सकती है।[11] वैदिक ग्रन्थों में इस विषय को लेकर विभिन्न मत हैं। बौधायनगृह्यसूत्र में कर्णवेध सातवें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

या आठवें मास में करने को कहा गया है।[12] बृहस्पति के अनुसार यह जन्म के दसवें, बारहवें या सोलहवें दिन या सातवें या दसवें मास में करना चाहिए।[13] गर्ग ने छठवां, सातवाँ, आठवाँ या बारहवाँ मास इस संस्कार के लिए उपयुक्त माना है। श्रीपति के अनुसार शिशु के दाँत निकलने के पूर्व और जब तक शिशु माता की गोद में खेलता हो, कर्णवेध-संस्कार सम्पन्न करना चाहिए।[14] कात्यायनसूत्र इस संस्कार का उपयुक्त समय तीसरा या पाँचवां वर्ष बताता है[15] और यह अभिमत जैन परम्परा से भी मेल खाता है। शारीरिक विकास एवं अल्प कष्टकारी होने की दृष्टि से अन्तिम मत अधिक उचित लगता है। चूड़ाकरण संस्कार के लिए भी यही काल विहित कहा गया है तथा आजकल बहुधा चूड़ाकरण और कर्णवेध साथ-साथ किए जाते हैं।

कर्णवेध संस्कार हेतु निर्दिष्ट आवश्यक सामग्री

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार इस संस्कार में पौष्टिक विधान, आठ मातृका पूजन, अपने-अपने कुलाचार के अनुसार नैवेद्य आदि अर्पण करने रूप उपचार तथा यति गुरु और गृहस्थ गुरु को देने योग्य दान आदि कृत्यों में उपयोगी सामग्री आवश्यक बतलाई है।[16] दिगम्बर एवं वैदिक साहित्य में इस संस्कार में उपयोग आने वाली सामग्री का कोई उल्लेख नहीं है।

कर्णवेध संस्कार विधि शास्त्रकारों के मत में

श्वेताम्बर– आचारदिनकर में कर्णवेध संस्कार की यह विधि कही गई है[17] -

• श्वेताम्बर परम्परा में कर्णवेध संस्कार के लिए तीसरा, पाँचवां या सातवाँ वर्ष योग्य माना गया है। उन वर्षों में से जिस मास में शिशु का सूर्य बलवान् हो, उस माह के शुभ दिनों में गृहस्थ गुरु अमृत मंत्र द्वारा जल को अभिमंत्रित करे। उसके बाद सौभाग्यवती नारियाँ मंगलगीत गाती हुई अभिमंत्रित जल द्वारा शिशु एवं उसकी माता को स्नान कराएं। यह स्नान कुलाचार के अनुसार तीसरे, पाँचवें, नवे या ग्यारहवें दिन भी किया जाता है। • फिर गृहस्थ गुरु उसके घर पर पौष्टिक कर्म की विधि करे। साथ ही षष्ठी माता को छोड़कर पूर्वोक्त आठ माताओं की पूजा करे। • फिर अपने-अपने कुल की परम्परानुसार किसी अन्य ग्राम में, कुल देवता के स्थान पर, पर्वत पर, नदी के किनारे अथवा गृहांगन में कर्णवेध संस्कार करे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

• इस संस्कार के अवसर पर मोदक आदि नैवेद्य बनाना एवं मंगलाचार आदि कृत्य अपने कुलाचार के अनुसार ही करे। • उसके बाद बालक को सुखासन में पूर्वाभिमुख बिठाकर उसका कर्णछेदन करे। उस समय गुरु वेद मंत्र पढ़े। कर्णछेदन मंत्र इस प्रकार है–

"ऊँ अर्हं श्रुतेनांगोपांगौः कालिकैरूत्कालिकैः पूर्व-गतैश्चूलिकाभिः परिकर्मभिः सूत्रैः पूर्वानुयोगैः छन्दोभिर्लक्षणै-र्निरूक्तैर्धर्मशास्त्रैर्विद्धकर्णो भूयात् अर्हं ऊँ।"

• उसके बाद बालक को वाहन में बिठाकर अथवा नर-नारी अपनी गोद में बिठाकर उपाश्रय में ले आये। • यहाँ पूर्वोक्त विधि पूर्वक मंडली पूजा करें। फिर बालक को यति गुरु के चरणों के आगे लेटा दें, तब यति गुरु विधि पूर्वक वासदान करे। • उसके बाद बालक को उसके घर ले जाए। गृहस्थ गुरु उसके कानों में आभूषण पहनाएं। यति गुरु को आहार, वस्त्र और पात्र का दान करें और गृहस्थ गुरु को वस्त्र, रूपए और स्वर्ण का दान दें।

दिगम्बर– इस परम्परा में कर्णवेध संस्कार की विधि पृथक् से नहीं दी गई है। चौलसंस्कार की विधि के साथ ही कर्णवेध की क्रिया सम्पन्न कर लेते हैं, अतः यह कहना असंभव है कि इस परम्परा में कर्णवेध कौन करता है? कर्णवेध की विशिष्ट क्रिया क्या है? कर्णवेध का मन्त्र कौनसा है? इत्यादि।

वैदिक– वैदिक धर्म के प्राचीन ग्रन्थों में कर्णवेध संस्कार की निम्न विधि प्राप्त होती है-तदनुसार प्राचीनकाल में किसी शुभ दिन मध्याह्न के पूर्व यह संस्कार किया जाता था। उसमें शिशु को पूर्वाभिमुख बिठाकर उसे कुछ मिठाईयाँ दी जाती थी। उसके बाद 'आप अपने कानों से भद्र वाणी सुनें-इस मन्त्र द्वारा बायाँ कान छेदा जाता था। तदनन्तर सामान्य क्रियाकलापों के साथ ब्राह्मण को भोजन करवाया जाता था।[18]

वर्तमान में इस संस्कार के दिन विष्णु, शिव, ब्रह्मा, सूर्य, चन्द्र, दिक्पाल, सरस्वती, बाह्मण तथा गौमाता का पूजन करते हैं। कुल गुरु को अलंकृत कर उन्हें एक आसन दिया जाता है। शिशु के कान लाल चूर्ण से रंगते हैं, उसे वैद्य के सामने लाकर फुसलाते हैं। उस समय वैद्य बहुत धीरे से एक ही बार में कान छेद देता है। फिर अन्त में ब्राह्मणों, ज्योतिषियों और वैद्य को दक्षिणा दी जाती है तथा सगे-सम्बन्धियों का सत्कार किया जाता है।[19]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस प्रकार वैदिक धर्म में कर्णवेध संस्कार से सम्बन्धित दो प्रकार की विधियाँ प्राप्त होती हैं।

कर्णवेध संस्कार विधि का तुलनापरक अध्ययन

जब हम कर्णवेध संस्कार विधि पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करते हैं तो श्वेताम्बर, दिगम्बर एवं वैदिक-इन तीनों परम्पराओं में मान्य इस संस्कार सम्बन्धी अनेक साम्यताएँ एवं विषमताएँ दृष्टिगोचर होती हैं।

- श्वेताम्बर, दिगम्बर एवं वैदिक इन तीनों परम्पराओं में इस संस्कार के नाम को लेकर पूर्णतः समानता है, केवल क्रम की दृष्टि से भिन्नता है।

- श्वेताम्बर परम्परा में इस संस्कार का स्थान दसवाँ है, दिगम्बर मत में इस संस्कार को पृथक् संस्कार के रूप में मान्यता नहीं मिली है, उसमें बारहवें चौलकर्म-संस्कार के साथ कर्णवेध का अन्तर्भाव कर लिया गया है। वैदिक मत में यह छठवां संस्कार माना गया है।

- दिगम्बर एवं वैदिक परम्परा में इस संस्कार को कौनसे शुभ दिन आदि में करना चाहिए, इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता है, लेकिन श्वेताम्बर आम्नाय के आचारदिनकर में प्रस्तुत विषय का सुन्दर विवेचन है।

- तीनों परम्पराओं में यह संस्कार कब किया जाना चाहिए, इस सम्बन्ध में कुछ साम्यता है, तो कुछ भिन्नता।

श्वेताम्बर, दिगम्बर एवं वैदिक-तीनों परम्पराओं में तीसरे या पाँचवें वर्ष को इस संस्कार के लिए योग्य माना गया है। श्वेताम्बर में सातवाँ वर्ष और वैदिक परम्परा में सातवाँ, आठवाँ, दसवाँ, बारहवाँ, सोलहवाँ आदि मास भी इस संस्कार के लिए निर्दिष्ट किए गए हैं।

- श्वेताम्बर और वैदिक परम्पराओं में कर्णछेद के अवसर पर कहे जाने वाले मन्त्र का स्पष्टतया निर्देश है, किन्तु मन्त्रोच्चार एवं मन्त्र-प्रयोग की विधि भिन्न-भिन्न हैं।

- श्वेताम्बर परम्परा में कर्णछेद कौन करता है-इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं है, किन्तु इतना अवश्य कहा गया है कि यह संस्कार गृहस्थ गुरु सम्पन्न करवाता है। वैदिक मत में कर्णछेद के लिए वैद्य का निर्देश हुआ है, साथ ही स्वर्णकार द्वारा करवाए जाने का भी उल्लेख हुआ है। इस संस्कार की समस्त क्रियाएँ पिता या ब्राह्मण करता है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हम देखते हैं कि कर्णवेध संस्कार अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। साथ ही इस संस्कार के सम्बन्ध में सभी परम्पराएँ एक दूसरे से प्रभावित हुईं हैं।

उपसंहार

यह संस्कार पूर्ण पुरूषत्व एवं स्त्रीत्व की प्राप्ति के लिए किया जाता है। शास्त्रों में कर्णवेध रहित पुरूष को श्राद्ध का अधिकारी नहीं माना गया है। कर्णवेध आयुर्वेद का एक विधान है। कई रोगों के लिए यह निवारक का काम करता है इसीलिए यह बालक एवं बालिका-दोनों के लिए है। इन संस्कारों का सम्बन्ध न केवल वैयक्तिक जगत से ही है, अपितु सामाजिक, पारिवारिक और धार्मिक जगत् से भी रहा हुआ है। इस संस्कार से सम्बन्धित प्रत्येक विधि-विधान सार्थक और सुपरिणामी हैं जैसे-कान का छेदन करवाना स्नायुओं तथा रक्तचाप आदि की बीमारियों के इलाज के लिए एक प्रकार की चिकित्सा पद्धति है। इस क्रिया के माध्यम से उक्त रोगों का निवारण किया जाता है।

दूसरा महत्त्वपूर्ण तथ्य इस संस्कार के काल से सम्बन्धित है। यह संस्कार तीसरे, पाँचवें या सातवें वर्ष में अथवा अन्य मतानुसार दसवें, बारहवें या सोलहवें मास में ही क्यों किया जाता है? इसका समाधान बहुत सुन्दर है। हम देखते हैं, बच्चा जब पैदा होता है तो उसकी प्रत्येक क्रिया नैसर्गिक होती है। उसका भूख लगना, रोना, हंसना भी स्वाभाविक होता है। वह शिशु पीठ के बल दिन-रात लेटा रहता है, कभी करवट नहीं लेता क्योंकि करवट के समय में कर्ण स्थल पर मुखमण्डल का भार पड़ा होता है। यदि निर्दिष्ट समय से पूर्व कर्णछेद कर दिया जाए तो मुखमण्डल का भार पड़ने से छिद्र व्रण(घाव) का रूप धारण कर सकता है। दूसरी बात, इस समय तक कुछ शारीरिक बलिष्ठता भी आ जाती है। यह समय कर्णवेधन हेतु अपेक्षाकृत अधिक उपयुक्त रहता है, इस कारण इस संस्कार की अवधि जन्म के कुछ बाद तक मानी गई है।

संक्षेप में कहें तो सुविधि पूर्वक कर्णछेदन कर आभूषण पहनाना कर्णवेध संस्कार है। यह संस्कार शारीरिक स्वस्थता, बौद्धिक निर्मलता, धार्मिक पवित्रता और सामाजिक सभ्यता से अनुप्राणित है। इसमें अपनी-अपनी कुल परम्परा का निर्वाह गुण भी रहा हुआ है। अस्तु, यह संस्कार कुल-परम्परा के अनुरूप किया जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सन्दर्भ-सूची

1. *हिन्दूसंस्कार, पृ. 129*
2. *वीरमित्रोदयसंस्कार, भा.-1, पृ. 261*
3. *षोड़शसंस्कार, डॉ. बोधकुमार झा, पृ. 16-17*
4. *यज्ञों एवं संस्कारों पर एक दृष्टिकोण, रा. राजमन, पृ. 49*
5. *हिन्दूसंस्कार, पृ. 131*
6. *वही, पृ. 131*
7. *धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ. 201*
8. *आचारदिनकर, पृ. 17*
9. *जैनसंस्कारविधि, पृ. 12*
10. *आचारदिनकर, पृ. 17*
11. *जैनसंस्कारविधि पृ. 12*
12. *बौधायनधर्मसूत्र, 1/12*
13. *धर्मशास्त्र का इतिहास, भा.-1, पृ. 201*
14. *हिन्दूसंस्कार, पृ. 130*
15. *वही, पृ. 130*
16. *आचारदिनकर, पृ. 19*
17. *आचारदिनकर, पृ. 17-18*
18. *हिन्दूसंस्कार, पृ. 132*
19. *वीरमित्रोदयसंस्कार, भा.-1, पृ. 262*

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अध्याय - 12

चूड़ाकरण संस्कार विधि का उपयोगी स्वरूप

भारतीय परम्परा में चूड़ाकरण एक महत्त्वपूर्ण विधान है। बालों को यद्यपि सौंदर्य का प्रतीक माना गया है, परंतु कुछ विशिष्ट प्रसंगों में मुंडन को आवश्यक माना गया है। यह संस्कार नवजात शिशु के सिर के बालों का मुण्डन करने से सम्बन्धित है। इस संस्कार के द्वारा बालक के गर्भगत केशों का मुण्डन किया जाता है। ये केश एक प्रकार से पूर्वकालिक अशुचिता के अवशेष माने जाते हैं और इनके मुण्डन का उद्देश्य स्वास्थ्य एवं शरीर का नया संस्कार करना ही है। इस संस्कार का प्रारम्भिक उद्देश्य स्वास्थ्य और सौन्दर्य रहा होगा ऐसा संकेत मिलता है, किन्तु क्रमशः केशोच्छेदन की बढ़ती उपयोगिता एवं उसके सुपरिणामों ने इसे धार्मिक संस्कार के रूप में स्थान प्राप्त करवाया, ऐसी वैदिक अवधारणा है।

जैन वांगमय में भी इस संस्कार का अस्तित्व प्राचीनतम सिद्ध होता है। प्रश्नव्याकरणसूत्र[1] और राजप्रश्नीयसूत्र[2] में चौलकर्म संस्कार के स्पष्ट उल्लेख हैं। उस काल में इस संस्कार का क्या स्वरूप था? इससे सम्बन्धित कौन-कौन से विधि-विधान सम्पन्न किए जाते थे? यह चर्चा तो उन ग्रन्थों में नहीं मिलती है किन्तु उस युग में चौलकर्म संस्कार सम्पन्न किया जाता था, इतना निर्देश स्पष्टतः है। इस संस्कार की दूसरी विशिष्टता यह है कि सामान्य नामान्तर के साथ श्वेताम्बर, दिगम्बर एवं वैदिक इन तीनों परम्पराओं में इसे पृथक् संस्कार के रूप में स्वीकार किया गया है। श्वेताम्बर परम्परा में ग्यारहवें संस्कार का नाम चूड़ाकरण है, जबकि दिगम्बर परम्परा में वर्षवर्द्धन एवं वैदिक मत में उपनयन नाम का ग्यारहवाँ संस्कार है। यह अन्तर क्रम की अपेक्षा से है।

चूड़ाकरण शब्द का अर्थ विश्लेषण

चौल, चूड़ाकर्म और चूड़ाकरण-ये तीनों शब्द एकार्थवाची हैं। चूड़ा का अर्थ है-केशगुच्छा। जो बाल-गुच्छा मुण्डित सिर पर रखा जाता है, उसे शिखा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भी कहते हैं। यहाँ चूड़ाकर्म या चूड़ाकरण वह कृत्य है, जिसमें जन्म के उपरान्त पहली बार सिर पर एक शिखा(केशगुच्छ) रखी जाती है तथा शेष बालों को उतारा जाता है। चूड़ा शब्द बालों के लिए प्रयुक्त हुआ है। चूड़ा से ही चौल शब्द बना है। इस प्रकार गर्भकाल में उत्पन्न हुए बालों का एक गुच्छा रखकर शेष का मुण्डन कर देना चौल संस्कार कहलाता है।

चूड़ाकरण संस्कार की वैधानिक आवश्यकता

चूड़ाकरण संस्कार के प्रयोजन, आवश्यकता एवं महत्त्व आदि के विषय में यदि विविध अपेक्षाओं से चिंतन किया जाए तो अनेकश: पहलू उद्घाटित होते हैं। धर्मशास्त्रों के अनुसार इस संस्कार का प्रयोजन दीर्घ आयु, सौन्दर्य वृद्धि एवं कल्याण की प्राप्ति करना है।[3] यह संस्कार सम्पन्न न किया जाए तो आयु का ह्रास होता है अत: यह संस्कार अवश्यकरणीय है। सुश्रुत के अनुसार केश, नख तथा रोम का अपमार्जन (छेदन) करने से हर्ष, सौभाग्य एवं उत्साह की वृद्धि होती है और पाप का उपशमन होता है।[4] चरक का मत है-केश, श्मश्रु एवं नखों के काटने या उन्हें संवारने से पौष्टिकता, शुचिता, आयुष्य वृद्धि और सौन्दर्य की प्राप्ति होती है।[5] सामान्यतया इस संस्कार का प्रयोजन मस्तिष्कीय विकास और बालक की सुरक्षा करना है।

वैज्ञानिक दृष्टि से यह संस्कार बालक की विचारधारा में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन करता है। मुण्डन कर्म द्वारा विचार संस्थान को विशेष रूप से प्रभावित किया जाता है। चूंकि केश मस्तिष्क पर पड़ने वाले बाह्य प्रभावों को रोकते हैं इसलिए उन्हें हटाकर सिर के रोम कूपों द्वारा विशिष्ट बातें मस्तिष्क के अन्तराल तक पहुँचाई जा सके। मुण्डन के माध्यम से बालक को विशेष प्रेरणाएँ दी जाती हैं। मुण्डन क्रिया कुछ विशेष अवसरों पर ही की जाती है।

चूड़ाकर्म का एक उद्देश्य अनादिकाल से चले आ रहे जन्म- जन्मान्तरों के पाशविक एवं संकीर्ण विचारों और कुसंस्कारों को दूर कर मानवीय आदर्शों को स्थापित करना है। मुण्डन कर्म के द्वारा भावात्मक रूप से कुविचारों का भी मुण्डन किया जाता है। उस समय बालक के लिए सम्यक् भावनाएँ संप्रेषित की जाती हैं क्योंकि वह बालक तब तक स्वयं उतना सक्षम नहीं होता है।

यहाँ प्रसंगानुसार यह भी उल्लेखनीय है कि मरणोत्तर संस्कार में उत्तराधिकारी तथा कुटुम्बीजन इसलिए मुण्डन करते हैं कि प्रिय व्यक्ति के देहान्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होने से जो आघात लगा है, जो शोक और मोह उत्पन्न हुआ है, उसे हटाया जाए। संन्यासी इसलिए सिर मुंडाते हैं कि जीवन क्रम में अब तक चली आ रही दूषित या वैयक्तिक विचारधारा को बदल सकें और विश्व बंधुत्व की भावना को विकसित कर सकें। बंगाल आदि प्रान्तों में विधवाएँ इसी प्रयोजन को लेकर सिर मुंडाती हैं कि वे गृहस्थ जीवन से दूर हटकर अपनी जीवन यात्रा को आत्मकल्याण या विश्वकल्याण हेतु समर्पित कर सकें। सारभूत तथ्य यह है कि जीवन क्रम के प्रचलित ढर्रे को बदलने हेतु मुण्डन एक वैज्ञानिक उपाय है। यह मुण्डन प्रक्रिया मन्त्रोच्चार पूर्वक होती है जिससे भावनात्मक परिवर्तन होता है।[6]

इस संस्कार की आवश्यकता के पीछे एक विशिष्ट प्रयोजन यह भी माना जा सकता है कि किसी तत्त्व का वास्तविक स्वरूप निर्धारण करने में बाह्य घटकों की अपेक्षा उसके अन्तःघटक ही अधिक प्रामाणिक होते हैं, परन्तु त्वरित बोध हेतु बाह्य घटकों का आश्रय लेना होता है। जैसे किसी की वेशभूषा या मुखाकृति को देखकर सामान्यतया पता चल जाता है कि वह कौन है? कोई पगड़ी बांधते हैं, तो कोई टोपी लगाते हैं या कोई साफा पहनते हैं, इस तरह हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख की पहचान दूर से ही हो जाती है, मगर भारतीय संस्कृति की पहचान मस्तक की शिखा, धोती या साड़ी, ललाट के तिलक आदि से की जाती है, क्योंकि असल पहचान वही है, जो इच्छित लक्ष्य में लागू हो और अलक्ष्य में उसका अभाव हो अतः चूड़ाकर्म द्वारा भारतीय नागरिक की एक विशिष्ट पहचान मिलती है। चोटी रखने से व्यक्ति के मन में यह विश्वास हो जाता है कि वह हिन्दू है। मुसलमानों में सुन्नत का रिवाज इसलिए है कि वह सदा यह समझता रहे कि वह मुस्लिम धर्म में दीक्षित हुआ है। इस प्रकार शिखा रखने का भी अपने आप में विशिष्ट महत्त्व है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि शिखा मस्तक के अमुक भाग पर ही क्यों रखते हैं? वह किसी अन्य भाग पर क्यों नहीं रखी जा सकती है? इसका समाधान यह है कि मस्तिष्क में ज्ञान जागरण का अत्यन्त संवेदनशील स्थल ठीक शिखा के नीचे का भाग ही है इसलिए अमुक भाग ही शिखा के लिए नियुक्त रहता है। मस्तिष्क के इस ऊपरी भाग पर जहाँ बालों का भंवर होता है, वहाँ सम्पूर्ण नाड़ियों एवं संधियों का मेल हुआ है। उसे 'अधिपति' नामक मर्मस्थान कहा गया है। इस मर्मस्थान की सुरक्षा के लिए ही उस स्थान पर चोटी रखने का विधान किया गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यहाँ यह तथ्य भी ध्यातव्य है कि नवजात शिशु के केश उसकी गर्भावस्था में ही पनपे होते हैं। आध्यात्मिक एवं भौतिक दृष्टि से वह केश राशि अशुद्ध होने से नितान्त त्याज्य होती है, इस कारण भी चूड़ाकर्म संस्कार की आवश्यकता सिद्ध हो जाती है।

शरीर विज्ञान के अनुसार यह समय दाँतों के निकलने का है। इसके कारण बालक के शरीर में कईं प्रकार की व्याधि का होना स्वाभाविक है। व्याधि से उसका शरीर निर्बल हो जाता हैं, बाल झड़ने लगते हैं, ऐसे समय में इस संस्कार का विधान अस्वस्थकारक कारणों से बचाता है।

इस संस्कार का दूसरा नाम मुण्डन संस्कार भी है। यह संस्कार त्वचा सम्बन्धी रोगों के लिए अत्यन्त लाभकारी होता है। शिखा को छोड़कर सिर के शेष बालों को मूंड देने से शरीर का तापक्रम सामान्य हो जाता है और उस समय होने वाली फुंसी, दस्त आदि व्याधियाँ स्वत: न्यून हो जाती हैं। एक बार मूंडने के बाद फिर बाल झड़ते नहीं, वे बद्धमूल हो जाते हैं।

उक्त दृष्टियों से भी चूड़ाकरण संस्कार अत्यन्त उपयोगी एवं परमावश्यक सिद्ध होता है।

शिखा या चोटी का अनुभूतिपरक महत्त्व

मानव शरीर की समस्त प्रवृत्तियों का केन्द्र मस्तिष्क है। यह शरीर का नियन्त्रण कक्ष है अत: मस्तिष्क का विकसित, परिष्कृत और व्यवस्थित होना आवश्यक है। यह तभी सम्भव है, जब वह पूर्ण सुरक्षित और ज्ञान स्रोतों से संयुक्त हो। जिस तरह आधुनिक युग में शासन महत्त्वपूर्ण विभागों के लिए अभेद्य सुरक्षा कवच की व्यवस्था करता है, ठीक उसी प्रकार प्रकृति ने भी मानव शरीर के कोमल अंगों को अनेक प्रकार के प्राकृतिक सुरक्षा कवच प्रदान कर उन्हें न केवल सुरक्षित किया है, अपितु सबल भी बनाया है।

शिखा मस्तिष्क के सर्वाधिक संवेदनशील मर्मस्थान की रक्षा करती है। यह ज्ञानशक्ति को जागृत रखती है। इसे (चोटी) ब्रह्मरन्ध्र की रक्षिका माना जाता है। शिखा द्वारा मानव मस्तिष्क अतुल शक्ति के प्रवाह को धारण करता है। शरीर-विज्ञान के अनुसार जिस स्थान पर शिखा रखी जाती है, उसे पिनल जोइंट कहा जाता है। इसके नीचे एक विशेष प्रकार की ग्रन्थि होती है, जो 'पिच्यूटरी' कहलाती है। इस ग्रन्थि निसृत रस स्नायुओं द्वारा सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शरीर को बढ़ाता एवं बलशाली बनाता है। शिखा द्वारा इस ग्रन्थि को अपना कार्य करने में बड़ी सहायता प्राप्त होती है, इससे यह चिरकाल तक कार्यशील रहती है और वह मनुष्य को दीर्घकाल तक स्वस्थता प्रदान करती है। योग-शास्त्रियों के मतानुसार मानव शरीरगत मुख्य सुषुम्ना नाड़ी स्वाधिष्ठान से आरम्भ होकर मस्तिष्क में जाकर समाप्त होती है। इसके उत्कृष्ट रन्ध्र-भाग शिखा स्थल के ठीक नीचे खुलते हैं। यही स्थान ब्रह्मरन्ध्र है, यह बुद्धि तत्त्व का केन्द्र भी है। चोटी या शिखा द्वारा इसी सुषुम्ना की रक्षा होती है।

शिखा के अधोभाग में एक मर्मस्थान होता है, जहाँ चोट लगने से तत्काल मृत्यु हो जाती है। शिखा इस अत्यन्त कोमल तथा सद्योमारक मर्मस्थान के लिए प्रकृति प्रदत्त कवच है, जो आकस्मिक आघातों एवं उग्र शीत-आतपादि से इस मर्मस्थान को बचाती है।

सूर्य को जीवन शक्ति का मूल कारण माना है। ब्रह्मरन्ध्र शान्तिप्रिय है, तो मस्तुलिगं उष्ण प्रकृति का है। शिरोवेदना में तालु के बाल काटने से वेदना शान्त हो जाती है, पर मस्तुलिंग के लिए उष्णता पाने हेतु उसके ऊपर गोखुर के आकार का केशगुच्छ रखा जाता है, ताकि वह सूर्य से आवश्यक ताप ग्रहण करता रहे। बालों के गुच्छों को शिखा के रूप में रखे जाने का यही रहस्य है, यही उसकी विशेषता है। वैज्ञानिक विचार से काली वस्तु सूर्य की किरणों से अधिक ताप तथा शक्ति को ग्रहण किया करती है, इससे मानव की आयु, बल और तेज की वृद्धि होती है।

परमार्थतः चूड़ाकरण या शिखा धारण एक ऐसी प्रक्रिया है, जो सुरक्षा कवच के रूप में गुप्तद्वार, दशमद्वार, इन्द्रयोनि, अधिप, मस्तुलिंग आदि नामों से पुकारे जाने वाले मर्म स्थल और ब्रह्मरन्ध्र की रक्षा का कार्य करती है। साथ ही यह शिखा आयु, बल, तेज तथा वृद्धि के उन्नयन के लिए आवश्यक अदृश्य शक्तियों को सहस्रदल कर्णिका में रोके रखने में रोधक का कार्य भी करती है।[7]

इस प्रकार धार्मिक, वैज्ञानिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक दृष्टि से विचार करने पर शिखा का मानव जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान सिद्ध होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चूड़ाकरण संस्कार के पारम्परिक अधिकारी

श्वेताम्बर परम्परा में इस संस्कार का अधिकारी जैन ब्राह्मण या क्षुल्लक को माना गया है।[8] दिगम्बर परम्परा में इस संस्कार के अधिकारी का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, किन्तु प्राय: सभी संस्कार द्विज या पिता द्वारा सम्पन्न करवाए जाते हैं अत: इस संस्कार का अधिकारी द्विज होना चाहिए क्योंकि मन्त्रोच्चार का अधिकार उसे ही प्राप्त होता है। वैदिक परम्परा में इस संस्कार का मुख्य कर्त्ता पिता को माना गया है, किन्तु केश काटने का कार्य नापित करता है। यह बात तीनों परम्पराओं में समान रूप से मान्य है।[9]

चूड़ाकरण संस्कार हेतु शुभ दिन का विचार

आचारदिनकर के अनुसार हस्त, चित्रा, स्वाति, मृगशिरा, ज्येष्ठा, रेवती, पुनर्वसु, श्रवण और धनिष्ठा-इन नक्षत्रों में, एकम, दूज, तीज, पंचमी, सप्तमी, दशमी, ग्यारस या तेरस-इन तिथियो में शुक्र, सोम या बुध-इन वारों में, शिशु का चन्द्रबल और ताराबल देखकर चौलकर्म करना चाहिए। पर्व के दिनों में, यात्रा में, स्नान के बाद और भोजन के बाद, विभूषा के बाद, तीनों संध्याओं में, रात्रि में, संग्राम में, क्षय तिथि में और अन्य मंगलकारी कृत्यों में यह क्षौरकर्म संस्कार नहीं करना चाहिए। इसमें यह भी बताया गया है कि क्षौरकर्म के दिन बालक की कुंडली के केन्द्र में कौनसे ग्रह होने चाहिए और कौन से ग्रह नहीं होने चाहिए तथा उन ग्रहों के क्या दुष्परिणाम हो सकते हैं? इस प्रकार श्वेताम्बर परम्परा में चूड़ाकरण संस्कार के लिए शुभ मुहूर्त्त आदि का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता हैं।[10]

दिगम्बर परम्परा में भी पूर्वोक्त नक्षत्र, तिथियाँ एवं वार इस संस्कार के लिए योग्य बताए गए हैं।[11]

वैदिक परम्परा में भी इस संस्कार के लिए शुभ मुहूर्त्त निकालने जाने का उल्लेख है।[12] इसी के साथ ही यह संस्कार सूर्य के उत्तरायण होने पर किया जाना चाहिए, यह दिन के समय ही किया जाना चाहिए इत्यादि निर्देश भी प्राप्त होते हैं। किन्हीं मत में चैत्र और पौष, किन्हीं मत में ज्येष्ठ और मार्गशीर्ष, इस संस्कार के लिए त्याज्य माने गए हैं।[13]

इस प्रकार उक्त तीनों परम्पराएँ इस संस्कार के लिए शुभ दिन आदि का होना आवश्यक मानती हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चूड़ाकरण संस्कार का समय

श्वेताम्बर परम्परागत ग्रन्थों में यह संस्कार कब किया जाना चाहिए? इसका कहीं कोई निर्देश नहीं मिलता है। श्राद्धसंस्कार कुमुदेन्दु में जन्म से सवा वर्ष के भीतर यह संस्कार करने का निर्देश है। वर्तमान परम्परा पर समीक्षा करते हुए यह भी निर्दिष्ट किया है कि जो लोग तीन-तीन वर्ष या आठ-आठ वर्ष तक बाल रखते हैं, वह अनुचित है।[14] दिगम्बर मान्यतानुसार यह कर्म जन्म से पाँच वर्ष पूर्ण होने पर करना चाहिए। परिस्थितिवश दो या तीन वर्ष के अन्त में भी किया जा सकता है।[15] वैदिक अभिमतानुसार यह संस्कार प्रथम वर्ष के अन्त में या तृतीय वर्ष की समाप्ति के पूर्व सम्पन्न किया जाना चाहिए।[16]

इस सम्बन्ध में अन्य मत भी प्रचलित हैं। याज्ञवल्क्य ने कुल परम्परा के अनुसार यह संस्कार करने का निर्देश किया है। शांखायन ने तीसरा या पाँचवां वर्ष उत्तम माना है।[17] कुछ आचार्यों के मत से यह उपनयन संस्कार के साथ किया जा सकता है तथा जिसका काल सात वर्ष की अवधि से भी अधिक हो सकता है।[18] इस प्रकार इस संस्कार के लिए एक वर्ष से लेकर पाँच वर्ष तक की अवधि निश्चित की गई है तथा किसी कारणवश अधिक अवधि में भी यह संस्कार किए जाने का निर्देश है।

वर्तमान में सामान्यतः उपनयन संस्कार के कुछ समय पूर्व यह संस्कार सम्पन्न करते हैं। व्यवहारिक अपेक्षाओं से यह प्रणाली औचित्यपूर्ण नहीं है। शास्त्रानुसार प्रथम वर्ष में चौल संस्कार करने से दीर्घायु एवं ब्रह्म तेज की प्राप्ति होती है, तृतीय वर्ष में यह संस्कार करने से समस्त कामनाओं की पूर्ति होती है, पंचम वर्ष में करने पर व्यक्ति पशुकामी बनता है, षष्ठम या सप्तम वर्ष में यह संस्कार साधारण[19] माना गया है तथा दसवें या ग्यारहवें वर्ष में यह निकृष्टतम माना गया है अतः यह संस्कार प्रथम, तृतीय या पंचम वर्ष के अन्त में कर देना चाहिए, यही बालक के लिए श्रेयस्कारी है।

चूड़ाकरण संस्कार के लिए उपयोगी सामग्री

चूड़ाकरण संस्कार के लिए आवश्यक सामग्री की सूची इस प्रकार दी गई है–[20]

पौष्टिक विधान के उपकरण, मातृका पूजन की सामग्री, मुण्डन के लिए योग्य साधन जैसे–कैंची, जलपात्र, बड़ा पात्र(पानी रखने की बाल्टी), शरीर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पौछने का वस्त्रखण्ड, नए वस्त्र की जोड़ी, आभूषण, जिनस्नात्र पूजा की सामग्री, कुलोचित नैवेद्यादि पकवान, चन्दन का लेप आदि।

वैदिक परम्परानुसार इस संस्कार के लिए निम्नलिखित सामग्रियों की आवश्यकता होती है- (1) अग्नि के उत्तर दिशा की ओर रखने योग्य चावल, जौ, उड़द एवं तिल के चार पात्र (2) अग्नि के पश्चिम दिशा की तरफ रखने हेतु दो बरतन, जिनमें से एक में बैल का गोबर तथा दूसरे में शमी की पत्तियाँ भरी रहती हैं (3) कुश के इक्कीस गुच्छों को पकड़े रहने वाला पुरोहित (4) गर्म या शीतल जल (5) छुरा या उदुम्बर लकड़ी का बना छुरा (6) एक दर्पण और (7) नाई– ये चीजें अनिवार्य मानी गईं हैं।[21]

दिगम्बर परम्परा में इस तरह की सामग्री का कोई वर्णन नहीं है।

चूड़ाकरण संस्कार विधि शास्त्रों के आलोक में

श्वेताम्बर– आचारदिनकर में आचार्य वर्धमानसूरि ने चूड़ाकरण संस्कार की विधि इस प्रकार प्रवेदित की है-

• जिस मास में बालक का सूर्य बलवान् हो, उस महिने में और जिस दिन चन्द्र बलवान् हो, उन शुभ तिथियों, वारों एवं नक्षत्रों के होने पर यह संस्कार करें। • उसमें सर्वप्रथम अपनी कुल विधि के अनुसार कुल देवता की प्रतिमा के आगे या अन्य गाँव, वन, पर्वत या गृह पर शास्त्रोक्त-विधि अनुसार पौष्टिक विधान करें। • उसके बाद षष्ठी माता को छोड़कर शेष आठ माताओं की पूर्ववत पूजा करें। फिर कुल परम्परा के अनुरूप कुल देवता के लिए पकवान आदि निर्मित करवाएं। • तत्पश्चात शारीरिक शुद्धि से युत गृहस्थ गुरु बालक को आसन (चौकी) पर बिठाएं। • फिर विधि पूर्वक बृहत्स्नात्र के न्हवण जल को शान्तिदेवी के मन्त्र से मन्त्रित करे। • उसके बाद कुल परम्परागत नाई के हाथ से बालक का मुंडन करवाए। यदि बालक ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य हो, तो उसके मस्तक के मध्यभाग में शिखा का स्थापन करे और शूद्र बालक हो, तो उसका पूर्ण मुंडन करे।

• श्वेताम्बर परम्परानुसार चूड़ाकरण के समय निम्न मंत्र का सात बार स्मरण किया जाता है-

“ऊँ अर्हं ध्रुवमायुर्धुवमारोग्यं, ध्रुवा:श्रीयो, ध्रुवं कुलं, ध्रुवं यक्षो, ध्रुवं तेजो, ध्रुवं कर्म्म, ध्रुवा च गुण संततिरस्तु अर्हं ऊँ”।”

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

• जब मुंडन क्रिया पूर्ण हो जाए तदनन्तर तीर्थ जल द्वारा बालक को अभिसिंचित करे। उस समय गीत-वाद्य आदि का वादन होते रहने चाहिए। • उसके बाद पंचपरमेष्ठी का स्मरण करते हुए बालक को आसन से उठाएं और स्नान करवाएं। फिर उसके अंग पर चन्दन आदि का लेप करें, श्वेत वस्त्र पहनाएं। आभूषणों से भूषित करें। • तदनन्तर बालक को उपाश्रय में ले जाएं। वहाँ पूर्वोक्त विधि से मंडलीपूजा करें, गुरु को वन्दन करें तथा बालक के सिर पर वासचूर्ण प्रदान करवाएं। • उसके बाद साधुओं को शुद्ध वस्त्र, आहार आदि का दान करें। गृहस्थ गुरु को वस्त्र-स्वर्ण आदि प्रदान करें और नाई को वस्त्र एवं कंकण उपहार में दें।

दिगम्बर– दिगम्बर परम्परावर्ती आदिपुराण में चौलकर्म संस्कार की निम्न विधि कही गई है-

किसी शुभ दिन में सर्वप्रथम शिशु के बालों को गन्धोदक से गीला करें। फिर उन पर पूजा के बचे हुए शेष अक्षत रखें। उसके बाद चोटी सहित या अपनी कुल-पद्धति के अनुसार उसका मुण्डन करें। तदनन्तर बालक को स्नान करवाएं, चन्दन आदि का लेप लगाएं, उत्तम आभूषण पहनाएं, फिर नगरस्थ मुनि भगवन्त के दर्शन हेतु लेकर जाएं। उसके बाद सभी सम्बन्धीजन बालक को आशीर्वाद प्रदान करें।[22] इसके साथ ही केश निकल जाने के बाद चोटी के स्थान पर केशर द्वारा स्वस्तिक बनाएं।[23] इस परम्परा में मुंडन करते समय, आशीर्वाद के रूप में मंत्र का उच्चारण करते हुए द्विज विधि पूर्वक चोटी रखता है। वह मन्त्र पाठ इस प्रकार है[24]-

"उपनयनमुण्डभागीभव, निर्ग्रन्थमुण्डभागीभव, निष्क्रान्तिमुण्ड- भागीभव, परमनिस्तारककेशभागीभव, परमेन्द्रकेशभागी-भव, परम- राज्य-केशभागीभव, आर्हन्त्यराज्यकेशभागीभव।"

वर्षवर्द्धन संस्कार– दिगम्बर परम्परा में ग्यारहवाँ संस्कार वर्षवर्द्धन नाम का माना गया है। बालक का एक वर्ष पूर्ण होने पर आयु वृद्धि के उद्देश्य से यह संस्कार किया जाता है। इस संस्कार में दान देना, अर्हत्प्रतिमा की पूजा करना, इष्ट बन्धुओं को आमन्त्रित करना और सर्व आगन्तुकों को भोजन कराना आदि कृत्य पूर्ववत् सम्पन्न किए जाते हैं।

वैदिक– वैदिक ग्रन्थों में चौलकर्म संस्कार की अग्रलिखित विधि उल्लिखित है-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस संस्कार के प्रारम्भ में सर्वप्रथम गणेश की पूजा, मंगल श्राद्ध आदि कृत्य सम्पन्न किए जाते हैं। उस दिन ब्राह्मण को भोजन करवाते हैं। माता शिशु को स्नान करवाती है तथा पूर्व में नहीं धोए गए वस्त्र द्वारा उसके शरीर को ढककर अपनी गोद में लेकर यज्ञीय अग्नि के पश्चिम की ओर बैठ जाती है। उस समय पिता पुत्र को पकड़ते हुए आज्य-आहुतियाँ देता है। फिर दही या घृत का कुछ भाग पानी के साथ मिलाकर शिशु के दाहिने कर्ण की ओर के केशों को निम्न शब्द बोलते हुए गीला करता है-'सविता की प्रेरणा से दिव्य जल तेरी देह को शुद्ध करे, जिससे तू दीर्घायुष्य और तेज प्राप्त कर सके'। फिर केशों को विकीर्ण कर कुश की तीन पत्तियों को रखता है और उस समय यह कहता है 'हे कुश! शिशु की रक्षा कर! उसे पीड़ा न पहुँचा।'

तदनंतर 'तू नाम से शिव है, स्वधिति तेरा पिता है, तुझे मैं नमस्कार करता हूँ, तू इस शिशु की हिंसा न कर'-इस मन्त्र के उच्चारण के साथ लोहे का उस्तरा उठाता है और 'मैं आयुष्य, अनाद्य, प्रजनन, ऐश्वर्य, सुप्रजात्व तथा सुवीर्य के लिए केशों को काटता हूँ'-इस मन्त्र के साथ केशों का छेदन करता है। उसके बाद केशों के साथ ही कुश की पत्तियों का भी छेदन कर उन्हें बैल के गोबर के पिण्ड पर छोड़ देता है। सिर के पीछे के केशों को पिता 'तिगुनी आयु' आदि मन्त्र के साथ काटता है। उसके बाद-'तू बलवान् हो, स्वर्ग को प्राप्त कर सके, दीर्घकाल तक सूर्य को देख सके, आयुष्य, सत्ता, दीप्ति एवं कल्याण के लिए मैं तेरा मुण्डन करता हूँ'-इस मन्त्र के उच्चारण के साथ बाईं ओर से केशों का छेदन करता है।

यदि सिर मुण्डन का कार्य नापित करता है, तब भी पिता द्वारा मन्त्र का उच्चारण और बाईं से दाहिनी ओर तक तीन बार केश काटने की क्रिया की जाती है।

उसके बाद निष्कासित केशों के साथ गोमय पिण्ड को गोशाला में गाढ़ दिया जाता है या किसी छोटे तालाब में फेंक दिया जाता है। अन्ततः आचार्य (ब्राह्मण) और नाई को दान दक्षिणा दी जाती है।[25]

चूड़ाकरण सम्बन्धी विधि-विधानों के सांस्कृतिक प्रयोजन

चूड़ाकरण संस्कार सम्बन्धी क्रियाकलापों के कुछैक प्रयोजन निम्नोक्त हैं-

मस्तक लेपन– श्वेताम्बर परम्परा में मस्तक मुंडन होने के बाद बालक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के सिर पर चन्दन आदि का लेप करते हैं तथा वैदिक धर्म में शिशु के बालों का मुंडन करने से पूर्व गोरस, दूध, दही या घृत में जल मिलाकर भिगोते हैं। इस क्रिया को 'मस्तक लेपन' कहते हैं। श्रीराम शर्मा आचार्य के मतानुसार इस क्रिया विधि के दौरान बालक के लिए चन्दन की भाँति शीतल और गाय माता की भाँति परोपकारी एवं कल्याणकारी बनने की कामना की जाती है। गोरस में वे सभी गुण रहते हैं, जो गौ माता में विद्यमान है। इन द्रव्यों से मस्तक का लेपन करना, बालों का भिगोना इस बात का प्रतीक है कि हमारी विचारणा एवं मानसिक प्रवृत्ति एवं गोरस जैसी स्निग्ध सौम्य होनी चाहिए। गोरस द्वारा शिरस्थ रोमकूपों का भिगोया जाना, इस बात का सूचन करता है कि हम जो कुछ सोचे-विचारें, उसके पीछे प्रेम भावना का समुचित पुट होना चाहिए।

चूड़ाकर्म संस्कार में मस्तक लेपन क्रिया का एक कारण यह भी है कि इस बालक का मानसिक विकास रूखा, संकीर्ण व अनैतिक दिशा में न हो। जैसे-गौ अपने बछड़े को प्यार करती है, बड़ा होने पर वह बालक भी उसी प्रकार अपने समस्त परिवार से स्नेह करें तथा सम्पूर्ण समाज के प्रति *'वसुधैव कुटुम्बकम्'* की भावना रखे। मस्तक लेपन का एक प्रयोजन यह भी कहा जा सकता है कि उसमें सहृदयता, भावुकता, करूणा, मैत्री की आर्द्रता यावतजीवन बनी रहें।[26]

शिखाधारण– वैदिक परम्परा में बालों के गीले हो जाने पर सम्पूर्ण बालों को दाएं-बाएं तथा मध्य ऐसे तीन भागों में विभक्त करते हैं। उन्हें कुशाओं तथा कलावे से जूड़े की तरह बाँध देते हैं। इस तरह सिर पर तीन शिखाएँ बनती हैं। उस समय तीन मन्त्र बोले जाते हैं। ये तीनों शिखाएँ मन्त्र के अनुसार ब्रह्मा, विष्णु एवं रूद्र की प्रतीक हैं। इन तीनों देवताओं का मस्तिष्क में आह्वान एवं स्थापन करने का प्रयोजन यह है कि मस्तिष्क में देवत्व के भाव भरे रहें, असुर प्रवृत्ति के लिए किसी प्रकार की गुंजाईश न रहे। हमारा जीवन इस प्रकार विकसित हो कि इन तीनों तत्त्वों के समुचित सदुपयोग की सम्भावनाएँ बढ़ती रहें। इन तीन शिखाओं के अन्य भी कई प्रयोजन अनुभूत किए जो सकते हैं। जिस तरह तीन धागे वाला यज्ञोपवीत पहनाते हैं और तीन लड़ों के माध्यम से महत्त्वपूर्ण शिक्षा बटुक को देते हैं, उसी प्रकार इन तीन शिखाओं में भी तीन शिक्षाओं का समावेश है। माता, पिता, गुरु-इन तीनों के अनुशासन में रहना,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तीनों के प्रति कृतज्ञ भाव बनाए रखना और उन्हें प्रसन्न एवं सन्तुष्ट रखना– तीन शिखाओं का सन्देश है।

शैशव, यौवन और वृद्धावस्था-इन तीन अवस्थाओं का समुचित सदुपयोग करना, भूत, भविष्य, वर्तमान तीन कालों के सम्बन्ध में समुचित सतर्कता रखना तीन शिखाओं का सन्देश है।[27]

केशगाढ़ना– श्रीरामशर्मा आचार्य के मन्तव्यानुसार बालों को गोबर में रखकर जमीन में इसलिए गाढ़ा जाता है कि उनकी भी गोबर की तरह खाद बन जाए।[28] पशुओं के शरीर का हर अवयव मल-मूत्र-दूध आदि दूसरों के काम आता हैं। वृक्ष-वनस्पतियाँ भी अपने पत्र, पुष्प, फल एवं लकड़ी, सब कुछ परमार्थ के लिए समर्पित करती हैं, इसी तरह मनुष्य भी अपनी उपलब्धियों का अधिकाधिक उपयोग परमार्थ के लिए करे। बाल गाढ़ने के पीछे यही उद्देश्यपूर्ण शिक्षा समाहित है। इस क्रिया का एक प्रयोजन दुष्ट शक्तियों का निवारण करना है क्योंकि केश शरीर का अंगीय विभाग है और परिणाम स्वरूप शत्रुओं द्वारा उस पर जादू तथा अभिचार का प्रयोग सम्भव हो सकता है। इस प्रकार तन्त्रीय-प्रभाव को दूर करने के लिए यह प्रक्रिया की जाती है।

स्वस्तिक आलेखन– दिगम्बर एवं वैदिक परम्परा में मुण्डित मस्तक पर स्वस्तिक या 'ॐ' लिखते हैं। 'ॐ' ईश्वर का ही नाम है। यह अनाहत नाद शब्द है। इस शब्द शक्ति से विश्व की सारी गतिविधियाँ संचालित होती हैं। वस्तुतः इस सर्व शक्ति के प्रतीक नाम को मस्तक पर लिखकर यह प्रयत्न किया जाता है कि बालक ईश्वर भक्त बने। स्वस्तिक (卐) 'ॐ' की ही प्राचीनतम लिपि है। जब अक्षर-विज्ञान परिष्कृत नहीं हुआ था, तब 'ॐ' को स्वस्तिक के रूप में लिखा जाता था अतः 'स्वस्तिक' और 'ॐ' -दोनों का तात्पर्य एक सा ही है। यह स्वस्तिक आलेखन चन्दन, केशर एवं कपूर के सम्मिश्रण से किया जाता है जिसका तात्पर्य विचारधारा को शीतल, सुसंगठित एवं परिपुष्ट बनाना है। चन्दन को शीतलता, कपूर को सुसंगठित एवं केशर को पुष्टि का प्रतीक माना गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चूड़ाकरण संस्कार से सम्बन्धित प्रायः विधि-विधान सप्रयोजन एवं औद्देशिक है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चूड़ाकरण संस्कार का तुलनात्मक विवेचन विधि संदर्भों में

यदि हम पूर्वोक्त विवरण के आधार पर चूड़ाकरण संस्कार विधि का तुलनात्मक दृष्टि से विचार करते हैं तो इस संस्कार की मौलिकता और विशिष्टता भी हमारे समक्ष उभरकर आती है। वह विवरण इस प्रकार है-

नाम के अनुसार– श्वेताम्बर, दिगम्बर एवं वैदिक इन तीनों परम्पराओं में क्रमशः चूड़ाकरण, चौलकर्म और चूड़ाकर्म-ये नाम दिए गए हैं। इनमें शाब्दिक दृष्टि से सामान्य अन्तर अवश्य है, परन्तु अर्थ की अपेक्षा कोई भेद नहीं है।

क्रम के अनुसार– श्वेताम्बर में चूड़ाकरण नाम का ग्यारहवाँ संस्कार है। दिगम्बर मत में इस संस्कार को बारहवाँ स्थान दिया गया है वहीं वैदिक परम्परा में इसका उल्लेख नौवें क्रम पर है।

इस प्रकार क्रमिक दृष्टि से तीनों परम्पराओं में वैभिन्य हैं।

अधिकारी के अनुसार– श्वेताम्बर एवं दिगम्बर मतानुसार जैन ब्राह्मण या द्विज को इस संस्कार का कर्त्ता नियुक्त किया गया है तथा वैदिक मत में इसका अधिकारी पिता को माना गया है।

दिन के अनुसार– तीनों परम्पराएँ इस संस्कार के लिए शुभदिन आदि का विचार करती हैं। विशेषतः श्वेताम्बर और दिगम्बर ग्रन्थों में इसकी विस्तृत चर्चा की गई हैं।

समय के अनुसार– श्वेताम्बर परम्परा में इस संस्कार के समय का निश्चित निर्धारण नहीं किया गया है, किन्तु दिगम्बर एवं वैदिक मत में सामान्यतया इसका काल एक वर्ष से लेकर पाँच वर्ष तक माना गया है।

मन्त्र के अनुसार– तीनों परम्पराएँ केशमुण्डन के समय मन्त्रोच्चार करने को अनिवार्य मानती हैं, अतएव तत्सम्बन्धी ग्रन्थों में मन्त्र पाठों का उल्लेख भी है। वैदिक ग्रन्थों में दाएं-बाएं एवं पृष्ठभाग सम्बन्धी तीन प्रकार के मन्त्र कहे गए हैं, किन्तु तीनों आम्नायों में मन्त्र पाठ को लेकर भिन्नता है।

स्थान के अनुसार– श्वेताम्बर, दिगम्बर एवं वैदिक-ये तीनों परम्पराएँ मस्तक-मुंडन के लिए निश्चित स्थान का चुनाव करती हैं। उनमें यह कृत्य कुल देवता का मन्दिर, वन, पर्वत या गृह पर किये जाने का सूचन है। आज भी केशमुंडन की क्रिया कुल देवी या कुल देवता के स्थान पर की जाती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विधि के अनुसार– श्वेताम्बर एवं दिगम्बर-दोनों परम्पराओं में अर्हत्प्रतिमा की पूजा करना, मुनि भगवन्त के दर्शन करवाना, बालक को विधि पूर्वक स्नान करवाना, आभूषण पहनाना आदि कृत्य प्रायः समान ही कहे गए हैं, किन्तु स्नात्रजल को शान्ति मन्त्र से अभिमन्त्रित करना, तीर्थोदक से बालक को स्नान करवाना, मुनि, गृहस्थ गुरु एवं नाई को दान आदि देना आदि क्रियाकलाप श्वेताम्बर आम्नाय में विशेष कहे गए हैं तथा गन्धोदक द्वारा शिशु के बालों को आर्द्र करना, स्वस्तिक रचना करना आदि क्रियाएँ कही गई दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में अधिक कही गई हैं।

वैदिक परम्परा की चूड़ाकर्म संस्कार विधि जैन परम्परा से भिन्न है। उनमें गणेशपूजा, मंगल श्राद्ध, यज्ञ आहूति आदि विधानों के साथ बालक के मस्तक मुंडन की क्रिया पर विशेष ध्यान दिया गया है। केशछेदन से सम्बन्धित कई मन्त्रों के उच्चारण किए जाने का भी निर्देश किया गया है।

परम्परा के अनुसार– जैन एवं वैदिक-दोनों आम्नाएँ इस संस्कार को कुल परम्परा के अनुरूप वहन करने का वर्णन करती हैं। इस दृष्टि से दोनों धाराओं में पूर्ण समानता के दर्शन होते हैं।

निष्कर्षतः जैन एवं वैदिक दोनों परम्पराओं में यह संस्कार कुछ विस्तार के साथ प्रतिपादित है। अधुनापि इस संस्कार का अस्तित्व यथावत रहा हुआ है।

उपसंहार

सामान्यतया शिशु के मस्तकीय-बालों का प्रथम बार उच्छेदन करना अथवा मस्तक मुंडित करना चौलकर्म, चूड़ाकर्म या चूड़ाकरण संस्कार है। चूड़ाकरण आदि संस्कारों द्वारा बालकों में गुणाधान होता है, अर्थात् मानवोचित विशिष्ट गुणों का समावेश किया जाता है।

'चूड़ा क्रियते अस्मिन्' इस विग्रह के अनुसार जिसमें बालक को चूड़ा अर्थात शिखा दी जाए, वह चूड़ाकरण संस्कार है। अमरकोष के अनुसार भी चूड़ा का अभिप्राय शिखा से ही है। यह संस्कार सामान्यतया जन्म के पश्चात् एक वर्ष से लेकर पाँचवें वर्ष तक की अवधि में सम्पन्न होता है, जिसे प्रकारान्तर में मुण्डन-कर्म भी कहा जा सकता है। जैन परम्परा के अनुसार इस संस्कार में बालक को शुभ आसन पर बिठाया जाता है तथा वैदिक परम्परा के मतानुसार बच्चे को माता अपनी गोद में लेकर बैठती है। उस स्थिति में नाई

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्वारा शिशु का पहली बार केशकर्त्तन होता है। इसमें केशों का कुछ अंश एक सुनिश्चित स्थान पर छोड़ दिया जाता है।

इस संस्कार के समय माता-पिता की उपस्थिति अनिवार्य मानी गई है। इसके पीछे केवल उनका निश्छल वात्सल्य, स्नेह ही कारण नहीं होता, वरन् बच्चे की चंचलता सुलभ क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं द्वारा कर्त्तली(मुंडन करने का उपकरण) से क्षत-विक्षत न हो जाए, उन सम्भावनाओं को रोकने के लिए उन लोगों की उपस्थिति आवश्यक होती है।

बच्चे की प्रत्येक हरकत वहाँ बैठे हुए व्यक्तियों की समझ में आ जाए, बाल सुलभ हर एक चेष्टाओं का अध्ययन किया जा सके, एतदर्थ वहाँ जल एवं दर्पण रखा जाता है। ज्ञातव्य है कि जल एवं दर्पण-दोनों ही छाया की प्रतिछाया को अपने में बिम्बित कर देने की शक्ति रखते हैं।

एक बात यह पढ़ने में आई है कि जब तक उपनयन संस्कार न हो, तब तक बच्चे के बाल कैंची से ही काटे जाते हैं, उस्तरे का प्रयोग नहीं होता। इसमें एक बहुत बड़ा वैज्ञानिक कारण निहित है। तीन साल के बच्चे का मस्तिष्क चर्म अत्यन्त ही नाजुक होता है। छुरी द्वारा चमड़ी छिल जाने की पूरी संभावना रहती है इसलिए कैंची का प्रयोग किया जाता है, यज्ञोपवीत संस्कार को एक अवधि के रूप में रखा गया है। तब तक बालक के मस्तक का वह भाग सख्त हो जाता है, फिर जिस तरह से चाहें, उसकी केश सज्जा कर सकते हैं। प्रारम्भ में यह बात सुनकर अटपटी-सी लग सकती है, किन्तु इसमें निहित सत्यार्थ को देखें तो पाते हैं कि यह एक वैज्ञानिक क्रिया है।

इसी प्रकार शिखा रखना भी चूड़ाकरण संस्कार का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग है, किन्तु सिर के किस भाग में और कितने केश छोड़ दिए जाने चाहिए? इस विषय में मतभेद हैं। बोधायनसूत्र के अनुसार सिर पर तीन या पाँच केश गुच्छ छोड़े जा सकते हैं। कुछ ऋषियों के अनुसार पिता द्वारा आहत प्रवरों की संख्या के अनुसार ही केश छोड़े जाने चाहिए। वसिष्ठ के वंशज सिर के मध्यभाग में एक शिखा रखते हैं। कश्यप के वंशज दोनों और दो शिखाएँ रखते हैं। कुछ लोग केशों की एक पंक्ति रखते हैं। भृगु के वंशज मुण्डित रहते हैं। अंगिरस के वंशज पाँच शिखाएँ रखते हैं। आज सम्भवतः सादगी और शालीनता की दृष्टि से एक शिखा रखने की प्रथा व्यापक हो गई है[23]। कुछ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लोगों में यह विसंवाद है कि एक बार सम्पूर्ण बालों का कर्त्तन हो जाना चाहिए और फिर नए बाल के उगने पर यह रखी जाए। यह पक्ष कुछ अधिक सटीक और वैज्ञानिक प्रतीत होता है। आज जैन परम्परा में बालक के पूर्ण मस्तक (केशराशि) का मुण्डन किया जाता है तथा शिखा रखने की कोई प्रथा नहीं है।

समाहारतः यह संस्कार शारीरिक स्वस्थता, मानसिक निर्मलता, धार्मिक उन्मुखता एवं कुल परम्परा के निर्वहन की दृष्टि से अत्यन्त उपादेय है। बालों का शारीरिक स्वास्थ्य के साथ गहरा सम्बन्ध रहा हुआ है। यह चूड़ाकर्म सिर की ग्रन्थियों के सही संचालन से सम्बन्ध रखता है। इसका मूलोद्देश्य प्रखर मेधा की प्राप्ति है। शरीर में सिर का सर्वोच्च स्थान माना जाता है। वह ब्रह्मकेन्द्र कहलाता है अतः ब्रह्म स्थान को स्वस्थ और सुसंस्कृत बनाए रखना राष्ट्र के लिए भी हितकारी है। चोटी को आर्यों का चिह्न माना गया है। प्रारम्भिक काल में सिर को स्वच्छ रखने हेतु यह कर्म किया जाता होगा। इसका मुख्य प्रयोजन गर्भकाल के केशों का मुंडन रहा है, क्योंकि गर्भ के बाल अपवित्र होते हैं।

यह संस्कार लौकिक-लोकोत्तर दोनों दृष्टियों से महनीय स्थान रखता है। आज भी इसे किसी देवी-देवता के स्थान या पवित्र नदियों के तट पर सम्पन्न करने की परम्परा प्रचलित है।

सन्दर्भ-सूची

1. *प्रश्नव्याकरण, अंगसुत्ताणि-2/13*
2. *राजप्रश्नीय, मधुकरमुनि-280*
3. *आश्वलायनगृह्यसूत्र, 17/12*
4. *हिन्दूसंस्कार, पृ. 120*
5. *वही, पृ. 120*
6. *षोड़शसंस्कारविवेचन, श्रीराम शर्मा आचार्य, पृ. 7-1*
7. *संस्कार अंक, पृ. 304-310*
8. *आचारदिनकर, पृ. 18*
9. *हिन्दूसंस्कार, पृ. 126-27*
10. *आचारदिनकर, पृ. 18*
11. *जैनसंस्कारविधि, पृ. 12*
12. *धर्मशास्त्र का इतिहास, भा.-1, पृ. 104*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

13. हिन्दूसंस्कार, पृ. 123
14. श्राद्धसंस्कारकुमुदेन्दु, पृ. 83
15. जैनसंस्कारविधि, पृ. 12
16. पारस्करगृह्यसूत्र, 2/1/1-2
17. धर्मशास्त्र का इतिहास, भा.प्र., पृ. 204
18. हिन्दूसंस्कार, पृ. 122
19. वही, पृ. 122
20. आचारदिनकर, पृ. 19
21. धर्मशास्त्र का इतिहास, भा.-1, पृ. 204
22. आदिपुराण, पर्व-38, पृ. 248
23. जैनसंस्कारविधि, पृ. 12
24. आदिपुराण, पर्व-40, पृ. 309
25. हिन्दूसंस्कार, पृ. 126-27
26. षोडशसंस्कार विवेचन, पृ. 7-3
27. वही, पृ. 7-4
28. वही, पृ. 7-8

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अध्याय - 13

उपनयन संस्कार विधि का आध्यात्मिक स्वरूप

उपनयन संस्कार का नाम लेने के साथ ही मुंडन, जनेउ धारण आदि के चित्र मानस पटल पर उभरने लगते हैं। आम जन धारणा है कि यह संस्कार सिर्फ वैदिक परम्परा से जुड़ा हुआ है तथा प्राय: उसी परम्परा में इसका प्रचलन देखा जाता है, किन्तु यथार्थता यह है कि तीनों आर्य परम्पराओं में इसका उल्लेख हैं। यह संस्कार बालक के विद्याध्ययन से सम्बन्धित है। इस संस्कार के माध्यम से विद्याध्ययन के योग्य बालक को गुरु के सान्निध्य में भेजा जाता है। उपनयन संस्कार से तात्पर्य ब्रह्मचर्य व्रत के पालन पूर्वक निश्चित अवधि तक योग्य गुरु के सान्निध्य में रहकर विद्याध्ययन करना है। इस संस्कार का सामान्य ध्येय विद्याध्ययन है।

यह संस्कार सभी में सर्वोत्तम माना गया है। भारतीय संस्कृति की सभी धाराओं ने उपनयन संस्कार को आदर भाव के साथ स्वीकार किया है। इस संस्कार का विशेष महत्त्व उपवीतसूत्र धारण करवाना रहा है।

हिन्दू धर्म के शिखा और सूत्र-ये दो सर्वमान्य प्रतीक हैं। जिस प्रकार सुन्नत को मुस्लिम, केश आदि पंच ककार धारण करने वालों को सिक्ख, अपने-अपने विभाग की पोशाक पहनने वालों को पुलिस, फौजी या कर्मचारी आदि रूपों में जाना जाता है। उसी प्रकार सिर पर शिखा धारण करने एवं शरीर पर जनेऊ (उपवीत) धारण करने वाले को हिन्दू माना जाता है। ये दो प्रतीक हिन्दुओं की धर्म निष्ठा को अभिव्यक्त करते हैं। वस्तुत: जैन एवं वैदिक-दोनों परम्पराओं में इसका महत्त्व समान रूप से रहा है।

उपनयन संस्कार का अर्थपरक स्वरूप विश्लेषण

उपनयन का सामान्य अर्थ है-निकट ले जाना। व्याकरण के अनुसार उपनयन शब्द 'उप्' उपसर्ग, 'नी' धातु 'ल्युट्' प्रत्यय के योग से निष्पन्न हुआ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। मूलतः इसमें उप्+नयन ये दो शब्द निहित हैं। इसके दो अर्थ किए जा सकते हैं। 'नीयते अनेन इति नयनम्' अर्थात जिस संस्कार के माध्यम से व्यक्ति को गुरु के समीप ले जाया जाता है, वह उपनयन कहलाता है। दूसरा, नयन शब्द नेत्र के अर्थ में रूढ़ है। इस दृष्टि से भी उपनयन शब्द की व्याख्या की जा सकती है। वह इस प्रकार है-ज्ञान रूपी नेत्र को उद्घाटित करना उपनयन है। यह ज्ञानचक्षु-चर्मचक्षु के बिल्कुल करीब रहता है, जिसका स्थान शास्त्रों में त्रिकुटि बताया गया है। यदि उपनयन का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ किया जाए, तो ज्ञान नेत्र के उन्मीलन हेतु किसी विशिष्ट व्यक्ति अर्थात शिक्षक के समीप ले जाने की योग्यता अर्जित करना उपनयन है।[1] इस तरह दोनों ही अर्थ महत्त्वपूर्ण सूचित होते हैं।

उपनयन का एक अर्थ है– पास या सन्निकट ले जाना। यहाँ शिक्षण के लिए आचार्य के पास ले जाना-यह अर्थ अभिप्रेत है। उपनयन शब्द के दो अर्थ इस तरह भी किए गए हैं-(1) उप-समीप, नयन-ले जाना अर्थात बालक को आचार्य या गुरु के सन्निकट ले जाना। (2) जिसके द्वारा बालक आचार्य के पास ले जाया जाता है, वह उपनयन संस्कार है।[2] इससे सूचित होता है कि पहला अर्थ आरम्भिक है, किन्तु कालान्तर में जब इस संस्कार द्वारा ज्ञानार्जन किया जाने लगा तो यह दूसरा अर्थ भी प्रयुक्त होने लगा। उपनिषद् (1/11) में उपनयन अर्थ को सूचित करने वाला 'अन्तेवासी' शब्द आया है। यह गुरु के पास रहने के अर्थ को द्योतित करता है। शतपथ ब्राह्मण (11/3/3/2) में उपनयन का अर्थ करते हुए कहा गया है कि जो ब्रह्मचर्य ग्रहण करता है और लम्बे समय की यज्ञावधि ग्रहण करता है, वह उपनीत कहलाता है। अथर्ववेद में उपनयन शब्द का प्रयोग ब्रह्मचारी के अर्थ में किया गया है। यहाँ इसका आशय आचार्य द्वारा ब्रह्मचारी को वेदाध्ययन की शिक्षा देने से है।[3]

गृह्यसूत्रों के युग तक विद्यार्थी द्वारा ब्रह्मचर्य-व्रत पालन के लिए प्रार्थना करना और आचार्य द्वारा उसकी स्वीकृति प्रदान करना ही उपनयन का अर्थ था, किन्तु परवर्तीकाल में उपनयन का महत्त्व बढ़ने लगा, तब इसके अन्य अर्थ भी विवक्षित हुए। वर्तमान में उपनयन का निम्न अर्थ प्रसिद्ध है- वह कृत्य जिसके द्वारा बालक आचार्य के समीप ले जाया जाए।[4] एक आचार्य ने उपनयन को अत्यन्त व्यापक अर्थ प्रयुक्त किया है। वह केवल शिक्षा के अर्थ में ही सीमित

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं है। वस्तुतः वह कृत्य जिसके द्वारा व्यक्ति को गुरु, वेद, यम, नियम के व्रत और देवता के सामीप्य के लिए दीक्षित किया जाए उपनयन कहलाता है।[5] जैन परम्परा में उपनयन शब्द का अभिप्रेत्यार्थ आध्यात्मिक उपासना पद्धति से किया गया है। उपनयन का प्रचलित अर्थ है जनेऊ पहनना, वेदाध्ययन की दीक्षा देना।[6] आचारदिनकर के अनुसार जिस संस्कार से प्राणी वर्ण के क्रम से आरोहण करे या अभ्युदय को प्राप्त करे, वह उपनयन संस्कार है।[7]

उपवीत, यज्ञोपवीत, उपनीत-ये उपनयन के पर्यायवाची एवं समानार्थक शब्द हैं। इस दृष्टि से उपवीत का अर्थ जनेऊ भी किया गया है।[8]

यज्ञोपवीत शब्द 'यज्ञ' और 'उपवीत'-इन दो शब्दों के योग से बना है, जिसका अर्थ है-यज्ञ से पवित्र किया गया सूत्र। यज्ञोपवीत को व्रत बन्ध, उपनयन और जनेऊ भी कहा गया है। हिन्दू परम्परा में साकार परमात्मा को 'यज्ञ' और निराकार परमात्मा को 'ब्रह्म' कहा गया है। इन दोनों को उपलब्ध करवाने वाला यह सूत्र यज्ञोपवीत कहलाता है। ब्रह्मसूत्र, सवितासूत्र और यज्ञसूत्र इसी के नाम हैं। इस प्रकार 'यज्ञोपवीत' शब्द व्यापक अर्थ में प्रचलित है।

यदि हम वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उपनयन का अर्थ देखें, तो आज उपनयन का निहितार्थ आचार्य के सन्निकट रहना एवं विद्याध्ययन करना प्रायः समाप्त हो चुका है। आज यह संस्कार 'जनेऊ' पहनने के अर्थ में ही अधिक प्रचलित है।

यहाँ विशेष रूप से यह उल्लेख्य है कि जैन परम्परा में इस संस्कार के लिए उपनयन, उपवीत, उपनीत-ये तीन शब्द व्यवहृत हुए हैं और हिन्दू परम्परा में यज्ञोपवीत शब्द का प्रयोग हुआ है। दोनों परम्पराओं में इस संस्कार नामों को लेकर यह भेद यज्ञ कर्म की अपेक्षा से है। वैदिक परम्परा यज्ञ प्रधान है, इसलिए उपवीत शब्द को यज्ञोपवीत की संज्ञा प्रदान की है।

उपनयन संस्कार की मौलिक आवश्यकता

इस संस्कार की आवश्यकता का मूल प्रयोजन क्या रहा होगा? इस सम्बन्ध में विचार करते हैं, तो अनेक तथ्य प्रकट होते हैं।

इस संस्कार का मुख्य सम्बन्ध सामाजिकता से है। इसका उद्देश्य युवक को नागरिक कर्त्तव्यों के परिपालन के योग्य बनाना है। गुरु के सान्निध्य में सुसंस्कारों को प्राप्त किया हुआ युवक ही जनसाधारण के प्रति अपने उत्तरदायित्व को समझ सकता है तथा सामुदायिक जीवन को सुरक्षित रख

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सकता है अतः इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए इस संस्कार द्वारा नवयुवक को अनुशासित किया जाता है, योग्य शिक्षण दिया जाता है, मानव जीवन का मूल्य समझाया जाता है, जिसके परिणामस्वरूप वे राष्ट्र एवं संस्कृति की रक्षा का भार वहन करने की योग्यता प्राप्त कर लेते हैं। इस तरह प्रस्तुत संस्कार का उद्भव नागरिक आवश्यकताओं की परिपूर्ति के लिए हुआ था, जो आज के युग में भी प्रासंगिक लगता है।

इस संस्कार की आवश्यकता के पीछे एक अवधारणा यह भी रही होगी कि बालक का विकास योग्य दिशा में हो, उसके जीवन की प्रारम्भिक भूमिका सुसंस्कारों से पल्लवित एवं पुष्पित हो, वह जीवन-जगत के सभी मूल्यों एवं सार-असार रूप तत्त्वों को भलीभाँति समझ सके, एतदर्थ बालक के लिए सद्गुरु की सन्निधि समुपलब्ध होना अति आवश्यक हो गया अतः इस उद्देश्य को केन्द्र में रखते हुए भी उपनयन संस्कार की आवश्यकता महसूस हुई-ऐसा प्रतीत होता है।

वस्तुतः उपनयन संस्कार द्वारा पशुता भाव का विलय होता है और मनुष्यता का गुण प्रकट होता है। प्रत्येक मनुष्य के चित्त में रही हुई वासनामूलक स्वार्थवृत्ति और संकीर्ण विचारधारा पशुता की कोटि में आती है, उपनयन के माध्यम से एक प्रकार का दूसरा जन्म होता है। यहाँ दूसरे जन्म का तात्पर्य-स्वार्थ से परमार्थ, पशुता से सज्जनता, अहं से अर्हं, जीव से शिव, संसार से संयम, बाह्य से आभ्यन्तर की ओर प्रवृत्त होना है। यही वास्तविक जीवन है, इसलिए उपनयन को द्विजत्व धारण करना भी कहते हैं। द्विज यानी दूसरा जन्म लेना। वर्णित प्रसंग में इसका अभिप्राय मलिन वृत्तियों को छोड़ना, कुसंस्कारों का त्याग करना और सत्प्रवृत्ति की ओर उन्मुख होना आदि माना गया है।

हिन्दू परम्परा में दो प्रकार के जन्म माने गए हैं। कहा है कि पहला जन्म माता के उदर से और दूसरा यज्ञोपवीत (जनेऊ) धारण करने से होता है अर्थात मनुष्य का पहला जन्म गर्भ में रहते हुए माता और पिता के सम्बन्ध से होता है तथा दूसरा जन्म विद्या रूपी माता और आचार्य रूप पिता द्वारा गुरुकुल में उपनयन और विद्याभ्यास द्वारा होता है।[9]

उक्त विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उपनयन संस्कार की आवश्यकता राष्ट्रीय सुरक्षा, सामाजिक सुव्यवस्था, सुसंस्कारों का बीजारोपण, वैयक्तिक विकास आदि अनेक दृष्टिकोणों को लेकर रही हुई है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपनयन संस्कार के प्रयोजन का इतिहास

यदि हम वैदिक परम्परा के इतिहास का विवेचन करते हैं, तो प्राचीनकाल में इस संस्कार का प्रयोजन वेदों का विवेचन करना था, कर्मकाण्ड गौण था, केवल वेद की किसी भी शाखा का विवेचन करवाना ही मुख्य था।[10] याज्ञवल्क्य के अनुसार उपनयन का एक मात्र लक्ष्य वेदों का विवेचन करना है।[11] आपस्तम्ब और भारद्वाज विद्या की प्राप्ति को उपनयन का उद्देश्य मानते हैं। आगे चलकर शिक्षा का यह प्रयोजन गौण हो गया तथा कर्मकाण्ड और यज्ञोपवीत धारण करना प्रधान हो गया। इस मत के प्रथम प्रतिपादक गौतम हुए। उन्होंने कहा- अड़तालीस संस्कारों से सुसंस्कृत व्यक्ति ब्रह्मा और ऋषियों का सान्निध्य प्राप्त करता है।[12] मनु के अनुसार इस संस्कार द्वारा मनुष्य का ऐहिक व पारलौकिक-जीवन पवित्र होता है।[13] अंगिरा का मत है- विधि पूर्वक संस्कारों के अनुष्ठान से ब्राह्मणत्व प्राप्त होता है।[14]

इस प्रकार उपनयन के मुख्यतया तीन प्रयोजन इतिहास के गर्भ में विद्यमान रहे हैं- 1. वेद का विवेचन करवाना 2. आचार्य के सन्निकट ले जाना और 3. ब्राह्मणत्व की प्राप्ति करना। वर्तमान स्थिति में इसका उद्देश्य यज्ञोपवीत धारण करके अपने-आपको ब्राह्मण सिद्ध करना है।

उपनयन संस्कार के उद्देश्यों एवं तत्सम्बन्धी मतभेद

श्वेताम्बर, दिगम्बर एवं वैदिक-इन तीनों धाराओं में उपनयन संस्कार के उद्देश्य भिन्न-भिन्न रहे हैं।

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार यह संस्कार व्यक्ति को वर्ण विशेष में प्रवेश देने के लिए तथा तदनुरूप वेश एवं मुद्रा को धारण करने के लिए किया जाता है। जैसा कि कहा गया है-धर्माचार में और चारित्र पालन में वेश प्रथम कारण होता है अतः संयम एवं लोकलज्जा हेतु श्रावक एवं साधुओं के लिए वेश आवश्यक है।[15] वेश की प्रधानता को स्वीकारते हुए धर्मदासगणि ने उपदेशमाला में कहा है[16]–'वेश धर्म की रक्षा करता है, क्योंकि योग्य वेश पहना हुआ अकार्य करते समय शंका करता है कि मैं दीक्षित हूँ, मुझे अकृत्य करते देखकर लोग निन्दा करेंगे।' जिस प्रकार राजा जनपद की रक्षा करता है, उसी प्रकार उन्मार्ग की ओर जाते हुए व्यक्ति की वेश रक्षा करता है, अतः अपने-अपने वर्ण एवं वेश विशेष को धारण करने के लिए यह संस्कार किया जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दिगम्बर परम्परा में उपनयन संस्कार का उद्देश्य-बालक को द्विजत्व प्राप्त कराना और व्रतों द्वारा सुसंस्कारित कर विद्याध्ययन करवाना है।[17] वैदिक परम्परा में इस संस्कार का मूलोद्देश्य विद्याध्ययन करवाना एवं उसके ब्राह्मण या क्षत्रिय होने की पुष्टि करना है। जैन परम्परा में वर्ण की प्राप्ति कर्मणा है, वही वैदिक परम्परा में उसे जन्मना माना गया है।

भारतीय संस्कृति और उपनयन संस्कार की प्राचीनता

यदि हम उपनयन संस्कार की प्राचीनता को पुष्ट करना चाहें, तो जहाँ तक जैन आगम ग्रन्थों का प्रश्न है, वहाँ ज्ञाताधर्मकथा, राजप्रश्नीय, औपपातिक, कल्पसूत्र आदि में नामकरण संस्कार पर्यन्त ही उल्लेख मिलते हैं। इसके साथ विद्यारम्भ एवं विवाह के निर्देश भी सामान्य रूप से प्राप्त हो जाते हैं, किन्तु उनमें उपनयन संस्कार का उल्लेख नहीं है।

उपनयन संस्कार का एक मात्र उल्लेख प्रश्नव्याकरणसूत्र में उपलब्ध होता है परन्तु वह उल्लेख भी द्वितीय आस्रवद्वार के अन्तर्गत किया गया है तथा इस संस्कार को आरम्भ, समारम्भ व हिंसा आदि का हेतु रूप मिथ्यात्व माना गया है।[18]

इससे सूचित होता है कि आगमयुग तक जैन दर्शन में उपनयन क्रिया को संस्कार का स्थान प्राप्त नहीं हुआ था। उपनयन संस्कार का उल्लेख सर्वप्रथम आदिपुराण में प्राप्त होता है और वहाँ उसका प्रवर्त्तक चक्रवर्ती भरत को बताया गया है।

उपनयन की प्राचीनता के सम्बन्ध में दिगम्बरीय क्षुल्लक ज्ञानसागरजी का मन्तव्य है[19] जिस प्रकार जैन धर्म अनादि है, उसी प्रकार यज्ञोपवीतकर्म भी अनादि है। जैन धर्म की अनादिता महाविदेह क्षेत्र और अनुत्तर देवलोक की अपेक्षा प्रत्यक्षत: सिद्ध कर सकते हैं क्योंकि उन स्थानों पर कभी भी धर्म का अभाव नहीं होता है। दूसरा कारण, वहाँ कालचक्र का परिवर्तन नहीं है अत: सृष्टि प्रलय, पहला-दूसरा आरा इत्यादि बातें भी घटित नहीं होती। वहाँ सदा-सर्वदा एक जैसा व्यवहार रहता है। वहाँ केवल जैन धर्म ही विद्यमान है, अन्य मत-मतान्तर वाले व्यक्तियों का अभाव रहता है।

जैन सिद्धान्त के अनुसार विदेह क्षेत्र में शाश्वती कर्मभूमि है। वहाँ क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-ये तीन वर्ण रहते हैं तथा आजीविका के लिए उक्त तीनों वर्ण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आवश्यक भी हैं। विदेहक्षेत्र में ब्राह्मण-वर्ण नहीं है, किन्तु भरतक्षेत्र में भरत चक्रवर्ती ने उसकी स्थापना की थी। यदि उस प्रकरण को आद्योपान्त देखें, तो यह निश्चय होता है कि भरत महाराज ने व्रती जीवों को ही ब्राह्मण कहा और व्रती होने के चिह्न स्वरूप ही यज्ञोपवीत दिया था। इससे निश्चित हो जाता है कि यज्ञोपवीत धारण करने की परम्परा न केवल इस अवसर्पिणी काल के भरतक्षेत्र में ही विद्यमान है, अपितु विदेहक्षेत्र में भी ये संस्कार होते रहते हैं। उत्तरपुराण में इसका प्रमाण इस प्रकार देखने को मिलता है-

अपराजित का जीव जो इन्द्र हुआ था, वह पहले च्युत हुआ और इसी जम्बूद्वीप के पूर्वविदेह क्षेत्र के रत्नसंचय नामक नगर में राजा क्षेमंकर की कनकचित्रा नाम की रानी से मेघ की बिजली के प्रकाश के समान वज्रायुध नाम का पुत्र हुआ। जब यह उत्पन्न हुआ था, तब आधान, प्रीति, सुप्रीति, धृति, मोह, प्रियोद्भव आदि क्रियाएँ की गई थीं' अर्थात वज्रायुध के लिए गर्भाधान आदि संस्कार किए गए थे।[20] आदिपुराण का निम्न उद्धरण भी दृष्टव्य है- 'श्रीपाल महाराजा अपने विचार प्रकट करते हैं कि मैने यज्ञोपवीत धारण किया है और गुरु के द्वारा व्रत ग्रहण किए हैं, अब मैं गुरुजनों से प्राप्त विवाहिता स्त्री को छोड़कर अन्य स्त्री को कदापि स्वीकार नहीं करूंगा।'[21] उत्तरपुराण का यह पाठ भी अवलोकनीय है- श्री घनरथ तीर्थंकर ने श्रावकों के हित के लिए सम्यग्दर्शन को विशुद्ध करने वाली गर्भाधानादि समस्त संस्कार क्रियाओं का उपदेश दिया और यह भी बतलाया कि ये क्रियाएँ (संस्कार) अनादि निधन हैं।[22]

इस प्रकार सिद्ध होता है कि विदेहक्षेत्र में यज्ञोपवीत आदि संस्कारों की प्रवृत्ति निरन्तर विद्यमान रहती है। आदिपुराण में वर्णित उद्धरण से यह भी स्पष्ट होता है कि विदेहक्षेत्र में भी विवाह आदि कृत्य गुरु एवं स्वजन आदि ही सम्पन्न करते हैं, वहाँ स्वच्छंदता का कोई स्थान नहीं है।

उपनयन संस्कार की प्राचीनता को निरूपित करते हुए श्वेताम्बरमान्य आचारदिनकर में कहा है कि इक्ष्वाकुवंश, नारदवंश, वैश्यवंश, प्राच्यवंश और औदीच्यवंश में उत्पन्न होने वाले जैन ब्राह्मण को उपनयन और जिनोपवीत धारण करना चाहिए तथा क्षत्रियवंश में उत्पन्न होने वाले तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों, वासुदेवों आदि को तथा श्रेयांसकुमार, दशार्णभद्र आदि राजाओं को एवं हरिवंश, इक्ष्वाकुवंश, विद्याधरवंश में उत्पन्न होने वाले व्यक्तियों को भी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपनयन और जिनोपवीत धारण करना चाहिए। उनके लिए भी यही विधि कही गई है।[23]

उपवीत का स्वरूप विश्लेषण

यज्ञोपवीत ब्राह्मण कन्या या कुमारी कन्या के हाथों से काते गए कपास के सूत के नौ तारों को तीन-तीन तारों में बटकर, उससे बनाए गए तीन सूत्र को 96 चौओं के नाप में एवं तीन वृत्तों मे तैयार की गई माला है, जिसके मूल में गांठ लगाकर और परम्परागत मन्त्रों से अभिमन्त्रित कर देने के पश्चात उपवीत या यज्ञोपवीत नाम दिया जाता है। हिन्दू परम्परा में इसे निश्चित आयु, काल और विधान के साथ द्विज-बालकों को ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य व वानप्रस्थ-इन तीन आश्रम व्यवस्थाओं में श्रौत ओर स्मार्तविहित कर्म करने हेतु पिता, आचार्य या गुरु द्वारा निश्चित मन्त्र के साथ धारण करवाया जाता है। इसी के साथ बालक का दूसरा जन्म होता है और वह 'द्विज' कहलाने लगता है। इससे उपनीत बालक को विनश्वर स्थूल शरीर की अपेक्षा अविनाशी ज्ञानमय शरीर प्राप्त होता है।

उपनयन संस्कार के अवसर पर बालक को उपवीत (जनेऊ/सूत्र/धागा) पहनाया जाता है। वह कैसा एवं किस परिमाण का होना चाहिए? इस सम्बन्ध में विचार करना अति आवश्यक है। श्वेताम्बर, दिगम्बर एवं वैदिक-इन तीनों परम्पराओं में उपवीत का स्वरूप इस प्रकार उपलब्ध होता है–

श्वेताम्बर-परम्परा में जिनोपवीत का स्वरूप

जिनोपवीत का स्वरूप एवं परिमाण– आचारदिनकर में जिनोपवीत का स्वरूप निम्नलिखित बताया है-दोनों स्तनों के अन्तर के समरूप चौरासी धागों का एक सूत्र करें, फिर उसे तिगुणा करें। पुनः उस त्रिगुणसूत्र का त्रिगुणा करें, ऐसा एक तन्तु होता है। उसके साथ ऐसे ही दो तन्तु और जोड़े जाते हैं। इस प्रकार नवतंतु गर्भित त्रिसूत्र होते हैं, यह उपवीत(जनेऊ) कहलाता है।[24] यहाँ ज्ञातव्य है कि नवतंतु गर्भित त्रिसूत्र का एक अग्र होता है। सभी वर्णों में ऐसा अग्र धारण करने की अलग-अलग व्यवस्था है।

जिनोपवीत की संख्या– श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार ब्राह्मण को नवतंतुगर्भित सूत्रमय तीन अग्र, क्षत्रिय को प्रथम के दो अग्र, वैश्य को प्रथम

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक अग्र, शूद्र को उत्तरीय-वस्त्र एवं अन्य वणिक् आदि के लिए उत्तरासंग धारण करने की अनुज्ञा है।[25]

जिनोपवीत कैसा हो ? आचारदिनकर के अनुसार कृतयुग में स्वर्णमय सूत्र का, त्रेतायुग में रजत का, द्वापरयुग में ताम्र का और कलियुग में कपास का यज्ञोपवीत धारण किया जाता है, परन्तु कुछ जैन आचार्यों के मतानुसार ब्राह्मणों के लिए स्वर्णसूत्र और क्षत्रिय-वैश्यों के लिए सर्वदा कपाससूत्र का उपवीत धारण करना चाहिए।[26]

जिनोपवीत किसका प्रतीक? श्वेताम्बर परम्परा में 'नवतंतु' ब्रह्मचर्य की नवगुप्ति के तथा 'त्रिसूत्र' दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप त्रिरत्न के प्रतीक माने गए हैं।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि जिनोपवीत जिनेश्वर भगवान की गार्हस्थ्य मुद्रा है अत: जो आत्माएँ(मुनि) नवब्रह्म की गुप्ति से संरक्षित और रत्नत्रय के पालन में रत हैं, उन्हें सूत्र रूप उपवीत को वहन करना आवश्यक नहीं होता है। जैसे सूर्य को दीपक दिखाने की और समुद्र को जलपात्र दिखाने की आवश्यकता नहीं होती है, उसी तरह निर्ग्रन्थ मुनियों को जिन उपवीत धारण करना आवश्यक नहीं होता है। मुनिजन नवब्रह्म की गुप्ति से युक्त एवं रत्नत्रय का त्रिकरणपूर्वक सदैव आदर करते हैं अत: उनके लिए त्रिसूत्र धारण करने का विधान नहीं है जबकि गृहस्थ नवब्रह्मगुप्ति एवं रत्नत्रय का श्रवण एवं चिन्तन कर उसका अंशत: पालन कर पाते हैं, इसलिए ब्रह्मगुप्तिरूप सूत्र मुद्रा को हृदय पर धारण करते हैं।

जिनोपवीत की संख्या भिन्न-भिन्न क्यों ? जैसा कि पूर्व में कहा गया है ब्राह्मण को तीन, क्षत्रिय को दो, वैश्य को एक अग्र धारण करना चाहिए-ऐसा निर्धारण किस आधार पर किया गया है? इस सम्बन्ध में विचार करते हैं, तो ज्ञात होता है कि ब्राह्मण रत्नत्रय की आराधना स्वयं कर सकता है, दूसरों को करवा सकता है और अन्य की अनुमोदना भी कर सकता है इसलिए उसे तीन अग्र पहनने का अधिकार दिया गया है।

क्षत्रिय रत्नत्रय की आराधना स्वयं कर सकते हैं और अन्यों से करवा भी सकते हैं, किन्तु अन्यों को करवाने की अनुज्ञा नहीं दे सकते, इस कारण उन्हें दो अग्र पहनने का निर्देश दिया गया है। वैश्य ज्ञान एवं भक्ति से सम्यक्त्व को ग्रहण कर अपनी सामर्थ्य के अनुरूप रत्नत्रय का स्वयं आचरण कर सकता है,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परन्तु अन्यों को न तो करवा सकता है और न उन्हें करवाने की आज्ञा दे सकता है, एतदर्थ वैश्य को एक अग्र धारण करने की अनुज्ञा दी गई है। शूद्र रत्नत्रय की आराधना करने में असमर्थ होते हैं। इसी के साथ हीन कुलोत्पन्न, नि:सत्वभाव एवं अज्ञानी होने के कारण उन्हें जिनाज्ञा रूप उत्तरीय धारण करने का ही विधान किया गया है। अन्य वणिक् आदि के लिए देव-गुरु-धर्म की उपासना के समय जिनाज्ञा रूप उत्तरासंग-मुद्रा धारण करने की अनुमति है।[27]

उक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि वर्ण एवं योग्यता के आधार पर ही उपवीत सूत्रों की संख्याएँ भिन्न-भिन्न बताई गईं हैं। अत: हम पाते हैं कि श्वेताम्बर ग्रन्थों में जिन उपवीत का स्वरूप, परिमाण, संख्या, प्रयोजन आदि कां सुन्दर विश्लेषण किया गया है।

दिगम्बर-परम्परा में उपवीत का स्वरूप

उपवीत का स्वरूप– दिगम्बर परम्परा में जिनोपवीत के सम्बन्ध में तीन प्रकार के उल्लेख मिलते हैं-

1. यज्ञोपवीत सात लड़(सात सूत्रों) का गुँथा हुआ होना चाहिए, वह सात परम स्थानों का सूचक है।[28]

2. अर्हत्प्रतिष्ठासार संग्रह में यज्ञोपवीत का स्वरूप बताते हुए कहा है कि वह छियानवें मुट्ठियों से युक्त नवतारगर्भित (त्रिसूत्र) होना चाहिए। किन्हीं मतानुसार यज्ञोपवीत तीन लड़ (तीन सूत्र) युक्त सत्ताईस भेद वाला होना चाहिए अर्थात उसके प्रत्येक लड़ में नौ-नौ तंतु होने चाहिए।[29]

यज्ञोपवीत का परिमाण– दिगम्बर आचार्यों ने यज्ञोपवीत के परिमाण के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत प्रस्तुत किए हैं। एक अवधारणा कहती है-यज्ञोपवीत एक सौ चालीस हाथ कच्चे सूत का बनाना चाहिए, उसको तिगुना करने पर साढ़े छियालीस हाथ से कुछ अधिक रहता है, फिर उसकी तीन लड़ बनाने पर पन्द्रह हाथ से कुछ अधिक लंबा रहता है, यह उत्कृष्ट परिमाण है। एक सौ आठ अंगुल का यज्ञोपवीत मध्यम परिमाण वाला कहलाता है। बालकों को जघन्य परिमाण वाला यज्ञोपवीत धारण करवाना चाहिए।[30]

एक विचारक के अनुसार यज्ञोपवीत कच्चे कमलदंड को तोड़ने से निकले हुए सूक्ष्म तंतु के समान चिकना, अखंड, सफेद, गांठ रहित एवं पवित्र तंतु का होना चाहिए। उस सूत्र को तीन लड़ बनाकर बटना चाहिए। इस प्रकार एक लड़ में तीन-तीन आवर्त्त कर सत्ताईस लड़ का यज्ञोपवीत बनाना चाहिए।[31]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किन्हीं मतानुसार यज्ञोपवीत को कंठ में धारण कर तथा हाथ को घुटने की तरफ लम्बा करने पर हाथ जितना लम्बा हो, उतना ही लम्बा करना चाहिए।

यज्ञोपवीत की गांठ कैसी हो? यज्ञोपवीत की गांठ अनेक प्रकार की होती हैं। प्रतिमाधारी श्रावक और ब्राह्मण को ब्रह्मगांठ(माला के दाना जैसी गोल गांठ) का यज्ञोपवीत पहनना चाहिए। जो लोग यज्ञोपवीत नहीं बना सकते हैं, वे बाजार का नवतार का यज्ञोपवीत पहन सकते हैं।

उपवीत की संख्या– दिगम्बर मतानुसार विद्यार्थी को तथा नियतकाल तक ब्रह्मचर्य धारण करने वालों को एक, गृहस्थ को दो, जिनके पास दुपट्टा न हो उन गृहस्थों को तीन, जिसे अधिक जीवित रहने की इच्छा हो, वह दो या तीन और जिस व्यक्ति को पुत्रेच्छा है या धार्मिक आराधना करने की इच्छा है, वह पाँच यज्ञोपवीत धारण कर सकता है। एक यज्ञोपवीत पहन कर जप, होम आदि किए जाएं तो उन्हें निष्फल माना गया है।[32]

यहाँ ज्ञातव्य है कि एक-एक यज्ञोपवीत के लिए पृथक्- पृथक् मन्त्र पढ़ना चाहिए। यदि एक बार मंत्र पढ़कर दो, तीन या पाँच यज्ञोपवीत धारण कर लिए जाएं तो किसी एक के टूटने या अशुद्ध होने पर शेष भी टूटे हुए या अशुद्ध समझ लिए जाते हैं अतः प्रत्येक यज्ञोपवीत को पुनः पुनः मन्त्र पढ़कर पहनना चाहिए।

उपवीत कैसा हो ? जैन धर्म की दिगम्बर शाखा में ब्राह्मणों के लिए सूत का, राजाओं के लिए सुवर्ण का और वैश्यों के लिए रेशम का यज्ञोपवीत धारण करने का उल्लेख है।[33]

उपवीत किसका प्रतीक? दिगम्बर परम्परा में 'नवतंतु' 1. अरिहंत 2. सिद्ध 3. आचार्य 4. उपाध्याय 5. साधु 6. जिनधर्म 7. जिनागम 8. जिनचैत्य और 9. जिनप्रतिमा रूप देव-गुरु-धर्म की आराधना का और 'तीन लड़' रत्नत्रय को साक्षात् प्रकट करने का प्रतीक माना गया है।[34]

उपवीत (जनेऊ) की निर्माण विधि– दिगम्बर साहित्य में उपवीत बनाने की निम्न विधि प्राप्त होती है- वहाँ जनेऊ 96 चौक(चार अंगुलियों को एक साथ जोड़ना चौक कहलाता है) का होता है। इस प्रकार एक चौक के तीन अविच्छिन्न तंतु सौभाग्यवती स्त्री या कन्या के हाथ से काते हुए होने चाहिए। उसकी एक लड़ करनी चाहिए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यहाँ चौक से सूत का प्रमाण इसलिए कहा गया है कि चारों पुरुषार्थ की शुद्धि रत्नत्रय धारक पुरुष को ही होती है, उसको त्रिगुणित करने पर सत्ताईस तत्त्व वेष्टित(नवपद) के स्वरूप का बोध होता है। पुनः त्रिगुणित किया हुआ तीन लड़ का यज्ञोपवीत रत्नत्रय का बोध करवाता है।[35]

सुस्पष्ट है कि दिगम्बर परम्परा में तीन प्रकार के यज्ञोपवीत बतलाए गए हैं तथा वह उपवीत सधवा नारी या कन्या के हाथ द्वारा काते हुए सूत का होना चाहिए।

वैदिक-परम्परा में यज्ञोपवीत का स्वरूप

उपवीत का स्वरूप– वैदिक मतानुसार यज्ञोपवीत नौ तन्तु सहित तीन सूत्र वाला एवं सम्यक् विधि पूर्वक बंटा हुआ होता है तथा ऊपर में हृदय तक और नीचे में नाभि तक लम्बा होता है।[36]

उपवीत का परिमाण– तदनुसार यज्ञोपवीत 96 अंगुल परिमाण वाला होना चाहिए।

उपवीत कैसा हो ? गृह्यसूत्रों एवं स्मृतियों में यज्ञोपवीत के पृथक्-पृथक् प्रकार बताए गए हैं। मनु(2/44) एवं विष्णुधर्मसूत्र (27/19) के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य के लिए क्रमशः कपास, सन एवं ऊन का होना चाहिए। बौधायनधर्मसूत्र (1/5/5) एवं गोभिलगृह्यसूत्र (1/2/1) के अनुसार रूई या कुश का होना चाहिए, किन्तु देवल के अनुसार सभी द्विजातियों का यज्ञोपवीत कपास, क्षुमा(अलसी), गाय की पूँछ के बाल, पटसन-वृक्ष की छाल या कुश का होना चाहिए।[37] वर्तमान में प्रायः कपास का ही यज्ञोपवीत बनाया जाता है।

उपवीत का संख्या निर्धारण– वैदिक साहित्य के निर्देशानुसार संन्यासी व ब्रह्मचारी केवल एक उपवीत धारण कर सकता है, स्नातक (जो ब्रह्मचर्य के उपरान्त गुरु गेह से अपने माता-पिता के घर आ चुका है) एवं गृहस्थ दो उपवीत धारण कर सकता है तथा जो दीर्घायु चाहता है, वह दो से अधिक पहन सकता है।[38]

इस तरह वैदिक परम्परा में यज्ञोपवीत का सर्वाधिक महत्त्व रहा है। धर्मशास्त्र में कहा गया है कि पुरुष को सदा यज्ञोपवीत धारण करना चाहिए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यदि कोई ब्राह्मण बिना यज्ञोपवीत धारण किए भोजन कर ले तो उसे प्रायश्चित्त आता है।

यज्ञोपवीत(जनेऊ) निर्माण विधि– बौधायनसूत्र आदि के अनुसार जनेऊ बनाने एवं उसे अभिमन्त्रित करने की निम्न विधि है[39]–

सर्वप्रथम किसी ब्राह्मण या कुंवारी कन्या द्वारा काता हुआ सूत लाएं। फिर 'भूः' के उच्चारण पूर्वक किसी व्यक्ति के द्वारा उसे 96 अंगुल नाप लिया जाए। इसी प्रकार पुनः दो बार 'भुवः' और स्वः के उच्चारण पूर्वक 96-96 अंगुल का सूत नापा जाए। उसके बाद नापे हुए सूत को पलाश के पत्ते पर रखें और तीन मन्त्रों 'आपो हिष्ठा'(ऋग्वेद 10/9/1-3), 'हिरण्यवर्णाः' एवं 'पवमानः सुवर्जनः' से प्रारम्भ होने वाले अनुवाक तथा गायत्री मन्त्र के साथ उस पर जल छिड़कें अर्थात इन तीन मन्त्रों से उन तीन तारों को जल में अच्छी तरह भिगाएं। फिर तीन तारमय सूत को बाएं हाथ में लेकर तीन बार जोर से आघात करें। तदुपरान्त, तीन व्याहतियों से उसे एक बट देकर एक रूप बना ले। अब इन्हीं मन्त्रों से उसे त्रिगुणित करें और पुनः बटकर एक रूप कर लें। पुनः इसे त्रिगुणित करके प्रणव से उसमें ब्रह्मग्रन्थि (गांठ) लगाएं। इसके नौ तन्तुओं मे ओंकार, अग्नि, अनन्त, चन्द्र, पितृगण, प्रजापति, वायु, सूर्य और सर्वदेव आदि नौ देवताओं का क्रमशः आवाहन और स्थापन करें। फिर 'देवस्यत्वा' मन्त्रोच्चार के साथ उपवीत उठाएं, उसके बाद 'उद्वयं तमसस्परि' मन्त्र द्वारा उसे सूर्य के सम्मुख दिखाएं। फिर 'यज्ञोपवीतं परमं पवित्र' मन्त्र बोलते हुए उसे धारण करवाएं। मन्त्र पठन के साथ गाँठ बाँधें। यह यज्ञोपवीत बनाने एवं धारण करने की विधि है।

वर्तमान परम्परा में पुराना हो जाने पर या अशुद्ध हो जाने पर, कट या टूट जाने पर पुनः नवीन यज्ञोपवीत धारण करते हैं तब अग्रिम विधि करते हैं- यज्ञोपवीत पर *'आपो हिष्ठा'* मन्त्रों के साथ जल छिड़का जाता है। इसके पश्चात दस बार गायत्री मंत्र *(ऊँ भूर्भवः स्वः)* का उच्चारण किया जाता है और उसके पश्चात *'यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं'* मन्त्रोच्चार के साथ यज्ञोपवीत धारण किया जाता है।

उपवीत किसका प्रतीक ? वैदिक-परम्परा में यज्ञोपवीत के नौ धागों में नौ देवताओं का निवास माना गया है– 1. ओघमकार 2. अग्नि 3. अनन्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

4. चन्द्र 5. पितृ 6. प्रजापति 7. वायु 8. सूर्य और 9. सब देवताओं का समूह। वेद मन्त्रों से अभिमन्त्रित एवं संस्कार पूर्वक निर्मित यज्ञोपवीत में नौ शक्तियों का निवास होता है। वह सूत्र (धागा) शरीर रूपी देवालय के लिए परम कल्याणकारी होता है।

सामवेदीय छान्दोग्यसूत्र में यज्ञोपवीत के सम्बन्ध में एक और महत्त्वपूर्ण उल्लेख यह है कि ब्रह्माजी ने तीन वेदों से तीन धागे का सूत्र बनाया। विष्णु ने ज्ञान, कर्म, उपासना-इन तीनों काण्डों से तिगुना किया और शिवजी ने गायत्री से अभिमन्त्रित कर उसमें ब्रह्म गाँठ लगा दी। इस प्रकार यज्ञोपवीत नौ तार और ग्रन्थियों समेत बनकर तैयार हुआ है।

यज्ञोपवीत के नौ धागे निम्नोक्त नौ गुणों के भी प्रतीक माने गए हैं– 1. अहिंसा 2. सत्य 3. अस्तेय 4. तितिक्षा 5. अपरिग्रह 6. संयम 7. आस्तिकता 8. शान्ति और 9. पवित्रता। इसके सिवाय अन्य भी नौ गुण बताए गए हैं, जो निम्न हैं- 1. हृदय में प्रेम 2. वाणी में मधुरता 3. व्यवहार में सरलता 4. नारीमात्र में मातृत्व की भावना 5. कर्म में कला 6. सबके प्रति उदारता और सेवा भावना 7. गुरुजनों का सम्मान 8. सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय एवं सत्संग और 9. स्वच्छता, व्यवस्था और निरालस्यता का स्वभाव।[40]

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक धर्म में नौ धागे नौ देवताओं एवं नौ गुणों के प्रतीक हैं। साथ ही उपर्युक्त विवेचन से अवगत होता है कि तीनों परम्पराओं में नव तंतु गर्भित त्रिसूत्र को ही उपवीत के रूप में स्वीकारा गया है। यद्यपि इसके उद्देश्य और प्रतीक भिन्न रहे हैं। श्वेताम्बर एवं वैदिक परम्पराएँ यज्ञोपवीत की विस्तृत चर्चा करती हैं, जबकि दिगम्बर परम्परा में अपेक्षाकृत संक्षिप्त चर्चा ही मिलती है।

उपवीत धारण करने के कुछ विधि नियम

उपवीतधारी को सदैव यह स्मरण रखना चाहिए कि यज्ञोपवीत रत्नत्रय प्राप्ति का श्रेष्ठ आलम्बन है, परम पवित्र है, परमात्मा की आज्ञा स्वरूप है, सज्जाति की अभिव्यक्ति करने का मुख्य चिह्न स्वरूप है, व्रत रूप है, श्रावक धर्म का मूल प्रतीक है, धर्म का बीज है, विचार शुद्धि का अनन्य कारण है, मोक्षमार्ग की पात्रता का आदर्श है, दान-पूजा आदि सत्कर्म एवं सदाचार में प्रवृत्ति करने का मूल आधार है अतः यज्ञोपवीत एक प्रकार से देवतुल्य है,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उससे किसी भी मलिन पदार्थ या व्यक्ति का स्पर्श न हो जाए, इस सम्बन्ध में पूर्ण सावधानी रखनी चाहिए। उपवीत की पवित्रता सदैव बनी रहे, एतदर्थ अग्र लिखित सूचनाओं का ध्यान रखा जाना चाहिए-

- मूत्र करते समय उसके छींटे उपवीत पर न गिर जाएं और गुह्यलिंग से यज्ञोपवीत का स्पर्श न हो जाए, इसलिए उस समय यज्ञोपवीत को दाहिने कान पर स्थापित करें।
- मल-विसर्जन करते समय मस्तक से लपेटकर बाँएं कान पर स्थापित करें।
- वमन की स्थिति होने पर उसे गले में दो-तीन बार लपेट लें, ताकि वमन(उल्टी) के छींटे उस पर न गिर पाएं।
- मैथुन करते समय यज्ञोपवीत को मस्तक पर रखें।
- पूजा और दान आदि कृत्य के समय सदैव लंबायमान् धारण करें।
- क्षौरकर्म कराते समय वह नाई से स्पर्शित न हो जाए इसलिए उस समय कन्धे से नीचे भाग में पीठ पर उतार लें।

यदि मल-मूत्र करते समय या मैथुन के समय उपवीत को निर्दिष्ट स्थान पर स्थापित न किया हो या अनभ्यास की वजह से उसकी पवित्रता का ध्यान न रखा हो तो नौ बार नमस्कार-मन्त्र का जाप करना चाहिए, इससे उसकी शुद्धि हो जाती है।[41]

श्रीरामशर्मा आचार्य ने यज्ञोपवीत की पवित्रता को बनाए रखने हेतु निम्न सूचनाएँ दी हैं[42] -

1. मल-मूत्र त्यागते समय जनेऊ को कान पर चढ़ाएं।
2. यज्ञोपवीत की पूजा-प्रतिष्ठा के लिए प्रतिदिन गायत्री मन्त्र की एक माला (108 बार) गिनें।
3. कण्ठ से बाहर निकाले बिना ही साबुन आदि से उसे धोएं।
4. एक भी लड़ टूट जाने पर नया यज्ञोपवीत धारण करें।
5. चाबी आदि कोई भी वस्तु उसमें न बाँधें।

उपर्युक्त वर्णन के आधार पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया जाए, तो पाते हैं कि दिगम्बर एवं वैदिक-दोनों परम्पराओं में जिनोपवीत की पवित्रता को सुरक्षित बनाए रखने हेतु महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ दी गई हैं, जबकि श्वेताम्बर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्यों द्वारा इस प्रकार का कोई निर्देश नहीं दिया गया है। मल-मूत्र आदि के समय जनेऊ को कान पर रखना, सूतक आदि के समय नया धारण करना, टूट जाने पर नया ग्रहण करना इत्यादि सूचनाओं को दोनों परम्पराओं ने समान रूप से स्वीकारा है किन्तु नया धारण करने के विषय में दोनों की मान्यता भिन्न-भिन्न हैं। दिगम्बर मान्यतानुसार प्रति एक वर्ष में श्रावण शुक्ल पूर्णिमा के दिन नवीन यज्ञोपवीत धारण करना चाहिए और वैदिक परम्परानुसार प्रति छः मास के अनन्तर नया उपवीत धारण कर लेना चाहिए। श्वेताम्बर आचार्यों ने इस सम्बन्ध में कोई सूचन नहीं दिया है।

जिनोपवीतधारी के लिए आचरणीय कृत्य

दिगम्बर मतानुसार उपवीत को इन नियमों या व्रतों का अवश्य पालन करना चाहिए-

1. मद्य-माँस-मधु का परित्याग करना।
2. पाँच प्रकार के उदुम्बर फलों का सेवन नहीं करना।
3. प्रतिदिन जिनालय के दर्शन करना।
4. रात्रिभोजन का त्याग करना।
5. पानी छानकर पीना।
6. मिथ्यात्वी देवों को नमस्कार, पूजा, उनकी मान्यता (मानता) आदि नहीं करना।
7. मिथ्या शास्त्रों का श्रवण नहीं करना, मिथ्यात्वी गुरुओं को नमस्कार नहीं करना।
8. यथाशक्ति पाँच अणुव्रतों का पालन करना।
9. प्राणीमात्र के प्रति दयाभाव रखना।[43]
10. देव, गुरु, धर्म के प्रति अविचल श्रद्धा रखना।
11. सम्यग्दृष्टि के गुणों में अनुराग रखना।
12. भोजन-शुद्धि और खाद्य पदार्थों की शुद्धि का पूरा ध्यान रखना।
13. शूद्र के हाथ का स्पर्श किया हुआ जल, घृत, तेल, आटा आदि खाद्य-पदार्थों का सेवन नहीं करना।
14. विधवा विवाह, जाति-पांति लोप और विजातीय विवाह नहीं करना।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किस स्थिति में नवीन यज्ञोपवीत धारण करें ?

उपवीत संस्कारित ब्रह्मसूत्र है, जो संस्कार के दिन से मृत्यु पर्यन्त शरीर से अलग नहीं किया जाता है किन्तु कुछ ऐसे अवसर आते हैं, जब धारण किए हुए यज्ञोपवीत को अशुद्ध मानकर नया उपवीत धारण करने की आवश्यकता पड़ती है। शास्त्रकारों ने निम्न स्थितियों में धारण किए हुए उपवीत को अपवित्र मानकर नवीन उपवीत के धारण करने का निर्देश दिया है-

1. दिगम्बर मान्यतानुसार प्रति वर्ष श्रावण पूर्णिमा के दिन नवीन उपवीत धारण करना चाहिए और पुराना जलाशय में छोड़ देना चाहिए।

2. यदि स्वयं की असावधानी से यज्ञोपवीत बाएं कन्धे से खिसककर बाएं हाथ के नीचे आ जाए अथवा उससे निकलकर कमर के नीचे आ जाए या वस्त्रादि उतारते समय उससे लिपटकर शरीर से अलग हो जाए तो नवीन प्रतिष्ठित यज्ञोपवीत धारण करना चाहिए।

3. मल-मूत्र का त्याग करते समय कान में लपेटना भूल जाएं अथवा कान में लिपटा सूत्र कान से सरककर अलग हो जाए तो नवीन धारण करना चाहिए।

ग्रन्थकारों के अनुसार यज्ञोपवीत जीवन पर्यन्त धारण करना चाहिए किन्तु निम्न स्थितियों के होने पर पुराना यज्ञोपवीत छोड़ देना चाहिए और पुनः नया धारण करना चाहिए।

1. घर पर सूतक हुआ हो, शवयात्रा में सम्मिलित हुए हों, कुटुम्ब में निकट सम्बन्धी की मृत्यु हुई हो या बालक-बालिका का जन्म हुआ हो तो यज्ञोपवीत अवश्य बदल लेना चाहिए।

2. यज्ञोपवीत टूट गया हो तो पुनः नया धारण करना चाहिए।

3. अपवित्र मल-मूत्र-रक्त आदि का उससे स्पर्श हुआ हो, अस्पर्श्य जाति के चांडालादि द्वारा छू लिया गया हो तो यज्ञोपवीत बदल लेना चाहिए। यदि अज्ञानतावश शूद्र जाति के साथ भोजन कर लिया हो अथवा मद्य सेवी और मांसभक्षी के साथ भूल से भोजन कर लिया हो तो प्रायश्चित्त कर उस यज्ञोपवीत का पुनः संस्कार करना चाहिए। नया पहनने की जरूरत नहीं है।

4. गाय, कुत्ता, बिल्ली, सर्प आदि पंचेन्द्रिय जीवों की जानबूझकर या अज्ञानता पूर्वक हिंसा हो गई हो तो प्रायश्चित्त ग्रहण कर एवं पुनः संस्कारित करवाकर धारण करना चाहिए।[44]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसी तरह अन्य प्रसंगों में भी यज्ञोपवीत के अशुद्ध होने की संभावनाएँ होने पर पुनः संस्कारित करवाकर धारण करना चाहिए।

उपवीत(जनेऊ) धारण का सार्वकालिक माहात्म्य

जैन एवं वैदिक दोनों परम्पराएँ यज्ञोपवीत के महत्त्व को स्वीकारती हैं। दिगम्बर मत में यज्ञोपवीत धारण किए बिना उसे श्रावक धर्म पालन करने का, जिनपूजा करने का और दान देने का अधिकारी नहीं माना गया है।[45] तदनुसार जो भव्य जीव जनेऊ धारण किए बिना दान, पूजा आदि सत्कर्म करना चाहते हैं या करते हैं, उनको पूजा और दान के फल की पूर्ण प्राप्ति नहीं होती है। यज्ञोपवीत शब्द की निरूक्ति से भी यही बात सिद्ध होती है कि यज्ञोपवीत धारण किया हुआ व्यक्ति ही पूजा और दान आदि कर सकता है।

यज्ञोपवीत शब्द की निरूक्ति इस प्रकार है-

"यज्ञे दानदेवपूजाकर्मणि धृतं उपवीतं ब्रह्मसूत्रं यज्ञोपवीत' अथवा 'यज्ञार्थ दानदेवपूजार्थ धृतं उपवीतं ब्रह्मसूत्रं यज्ञोपवीतमिति।' अथवा 'उपवीतं बह्मसूत्रं इत्यमरः।'

इस सम्बन्ध में जैन ग्रन्थों के अनेक उद्धरण भी दृष्टव्य हैं, जो यह सूचित करते हैं कि दान एवं पूजा आदि करने के लिए यज्ञोपवीत अवश्य धारण करना चाहिए। यज्ञोपवीत पहने हुए गृहस्थ को ही पूजा आदि करने का अधिकार प्राप्त होता है, जैसे-

- जो इज्या (जिनपूजा) दत्ति (दान) आदि षट्कर्म का आचरण करना हो, आठ मूलगुण का पालन करने वाला हो, समस्त संस्कारों को करने वाला हो और यज्ञोपवीत सहित हो उसे ही गृहस्थ कहते हैं वह गृहस्थ ही दान दे सकता है।[46]
- पूजा को प्रकट करने वाले चक्रेश्वर ने जिनेश्वर परमात्मा की पूजा के लिए विधि रूप भूषणों का चिह्न यज्ञोपवीत बतलाया है।
- शुद्ध वस्त्र और यज्ञोपवीत धारण करके ही जिनेश्वर परमात्मा की पूजा करनी चाहिए।[47] पूजक को तिलक और माला भी पहननी चाहिए।[48]
- रत्नत्रय का चिह्न(उरोलिंग) यह यज्ञोपवीत मैं भगवान की पूजा के लिए धारण करता हूँ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

- शिखा आदि लिंग के धारक और यज्ञोपवीत धारण करने वाले भगवान की पूजा करते हैं।[49]
- भरत महाराजा ने यज्ञोपवीत धारक को ही भगवान् की पूजा करने का उपदेश दिया है।
- आदिपुराण में कहा गया है-यज्ञोपवीतधारी को ही जिनेश्वर परमात्मा की पूजा, मुनियों को दान, स्वाध्याय, वार्ता, संयम, तप आदि षट्कर्म करना चाहिए। यह गृहस्थों का कुल धर्म है।[50]
- दानशासन महाग्रन्थ में निर्देश है कि भगवान् की पूजा करने वाला अपने को इन्द्र की स्थापना के लिए यज्ञोपवीत आदि धारण करे।[51]
- यही बात वैदिक ग्रन्थों में कही गई है-जो यज्ञोपवीत धारण नहीं करता, उसका यज्ञ सफल नहीं होता। दैनिक-क्रियाओं भोजन आदि में भी यज्ञोपवीत धारण करना आवश्यक है अन्यथा प्रायश्चित्त आता है।[52]

• श्री ब्रह्मसूरि आचार्य ने बतलाया है कि भगवान की पूजा यज्ञोपवीत धारण करके ही करना चाहिए तथा इसी के साथ कमर में मौंजी बन्धन और कोपीन ये कटिलिंग हैं; यज्ञोपवीत वक्षस्थल का लिंग है, शिखा मस्तक का लिंग है, तिलक भाल का चिह्न है। इन चिह्नों को धारण करने वाला ही जिन पूजन का अधिकारी होता है।[53]

- प्रतिष्ठासारोद्धार में उल्लेख है कि सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप मुक्ताफल समान तीन लड़ का स्वच्छ यज्ञोपवीत धारण करता हूँ और परमात्मा की पूजा का अधिकारी होता हूँ।[54]
- यज्ञ दीक्षा विधान नामक ग्रन्थ में वर्णन है कि-सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप यज्ञोपवीत आदि को धारण कर जिन पूजन का पात्र होता हूँ।
- इसके सिवाय देवसेन विरचित भावसंग्रह, नेमिचन्द्राचार्य रचित प्रतिष्ठातिलक, आदिपुराण आदि ग्रन्थों में भी उक्त की सटीक पुष्टि की गई है।

इस विवेचन से यह पूर्णतः सुनिश्चित होता है कि दान, पूजा आदि षट्कर्म करने के लिए यज्ञोपवीत धारण करना परमावश्यक है। इसके बिना पूजा आदि कृत्य सफल नहीं होते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यज्ञोपवीत धारण के परवर्ती नियम

जैन परम्परा के अनुसार जब बालक विधि-विधान पूर्वक यज्ञोपवीत को धारण कर ले, तदनन्तर उसे विद्याध्ययन करना चाहिए। उस समय बालक को उचित वेश एवं व्रत चर्या का पालन करते हुए यह अवधि पूर्ण करनी चाहिए। उसकी वेशभूषा इस प्रकार की होनी चाहिए-

1. कटिलिंग - कमर पर त्रिगुणित मौंजी (मूंज की रस्सी) का बन्धन हो, यह रत्नत्रय का विशुद्ध अंग है और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य लोगों का एक चिह्न है।
2. अरूलिंग - घुटने तक स्वच्छ धुली हुई सफेद धोती पहनी हुई हो, यह धोती सूचित करती है कि श्री अरिहन्त परमात्मा का कुल पवित्र और विशाल है।
3. उरोलिंग - विद्यार्थी के वक्षःस्थल पर सात सूत्रों का गुंथा हुआ यज्ञोपवीत हो, यह यज्ञोपवीत सात परम स्थानों का सूचक है। उनके नाम ये हैं- 1. सज्जाति-परम स्थान 2. सद्गृहस्थ-परम स्थान 3. परिव्राज्य- परम स्थान 4. सुरेन्द्र-परमस्थान 5. साम्राज्य-परम स्थान 6. आर्हत- परम स्थान और 7. निर्वाण-परम स्थान
4. शिरोलिंग - मस्तक पर केशों का मुण्डन किया हुआ हो, यह मन-वचन-काया की शुद्धता का सूचक है।[55]

संक्षेप में कहें तो यज्ञोपवीत धारण किए हुए विद्यार्थी को ब्रह्मचर्य पालन की अवधि तक उक्त चार प्रकार की वेशभूषा एवं चिह्न को धारण कर रहना चाहिए।

यज्ञोपवीत संस्कार विद्यार्थी के लिए निम्न व्रतों/नियमों का आचरण करना भी आवश्यक माना गया है-

- उपवीतधारी ब्रह्मचारी को वृक्ष(लकड़ी) का दातौन नहीं करना चाहिए, न पान खाना चाहिए, न अंजन लगाना चाहिए और न हल्दी आदि लगाकर स्नान करना चाहिए। उसे प्रतिदिन केवल शरीर शुद्धि के लिए दिन में स्नान करना चाहिए।
- ब्रह्मचारी विद्यार्थी को पलंग-चारपाई आदि पर नहीं सोना चाहिए, न किसी दूसरे शरीर से अपना शरीर रगड़ना चाहिए। भूमि पर अकेले ही सोना चाहिए।[56]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

- ब्रह्मचारी को गुरुमुख से श्रावकाचार पढ़ना चाहिए। गुरु मुख से पढ़ने का अभिप्राय यह है कि श्रावक जीवन की बहुत सी ऐसी क्रियाएँ हैं, जो अनेक शास्त्रों के मन्थन करने से प्राप्त होती हैं, वे गुरु मुख से सहज ही प्राप्त हो सकती हैं।
- श्रावकाचार का अध्ययन करने के बाद न्याय, व्याकरण, साहित्य आदि पारमार्थिक और लौकिक-विद्याएं पढ़नी चाहिए।

यदि विद्यार्थी क्षत्रिय है तो शस्त्र धारण करना चाहिए और वैश्य है तो व्यापार आदि में प्रवृत्त हो जाना जाहिए।

उपर्युक्त वर्णन का समीक्षात्मक दृष्टि से विवेचन करें तो यह अवगत होता है कि विद्यार्थी जीवन में प्रवेश करने एवं उससे बहिर्गमन करने की विधि विशिष्ट क्रिया द्वारा सम्पन्न होती है। इस क्रिया का बालक के मन-मस्तिष्क पर सम्यक् प्रभाव पड़ता है। विद्यार्थी जीवन की वेशभूषा एवं व्रताचरण सम्बन्धी नियम पूर्ण वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक हैं। ये नियम बालक को सदाचारी एवं धर्माचारी बनने की प्रेरणा देते हैं। एक सुनिश्चित अवधि तक उक्त नियमों के साथ जीने वाला व्यक्ति मनुष्य जीवन की चरम ऊँचाईयों (गुणों) को पार कर लेता है, यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है। भारतीय संस्कृति की यह परम्परा पूर्ण मौलिक, नैष्ठिक एवं औचित्यपूर्ण है। प्रत्येक माता-पिता को सुसंस्कारित बनने एवं बालकों को सुसंस्कारित करने के लिए यज्ञोपवीत संस्कार अवश्य सम्पन्न करना चाहिए।

जिनोपवीतधारी (विद्यार्थी) के प्रकार

यज्ञोपवीत धारण करने के बाद विद्याभ्यास करने वाले और गुरुकुल में रहने वाले ब्रह्मचारी मुख्यतया पाँच प्रकार के होते हैं। धर्मसंग्रह श्रावकाचार में ब्रह्मचारियों का स्वरूप इस प्रकार वर्णित है[57]-

1. उपनयन ब्रह्मचारी - जो यज्ञोपवीत आदि धारण करके विद्याभ्यास पूर्वक अणुव्रत आदि स्वीकार करता है, वह उपनयन ब्रह्मचारी कहलाता है।

2. अवलम्ब ब्रह्मचारी - जो क्षुल्लक रूप में यज्ञोपवीत आदि धारण कर विद्याभ्यास के साथ-साथ अणुव्रत आदि का पालन करता है, वह अवलम्ब ब्रह्मचारी है।

3. अदीक्षा ब्रह्मचारी - जो यज्ञोपवीत एवं विद्याभ्यास पूर्वक क्षुल्लक आदि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के वेश को धारण किए बिना अणुव्रत आदि का परिपालन करता है, वह अदीक्षा ब्रह्मचारी है।

4. गूढ़ ब्रह्मचारी- जिसने मुनि-पद को धारण कर लिया हो किन्तु बन्धु के आग्रह से या परिषह सहन न होने के कारण से अथवा राजा के आग्रह से मुनि धर्म को छोड़कर गृहस्थ धर्म स्वीकार करता है, वह गूढ़ ब्रह्मचारी कहा जाता है।

5. नैष्ठिक ब्रह्मचारी - जो मस्तक को मुण्डित रखता है, सफेद वस्त्रखंड पहनता है, कौपीन रखता है, भिक्षावृत्ति करता है और देवता का पूजन करता है, स्त्री को स्वीकार नहीं करता है, उसे नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहते हैं। नैष्ठिक-ब्रह्मचारी ग्यारह प्रकार के कहे गए हैं और उनकी पहचान के लिए क्रमशः से एक से ग्यारह यज्ञोपवीत दिए जाते हैं।

इन पाँच में से भी दो प्रकार के विद्यार्थी मुख्य हैं-एक गुरुकुल में रहकर विद्याभ्यास करने वाले तथा दूसरे गृहवास में रहकर प्रतिमा एवं व्रतों का पालन करने वाले। इनमें से प्रथम नैष्ठिक- ब्रह्मचारी की पहचान के लिए ग्यारह जनेऊ होती हैं और दूसरे नैष्ठिक-ब्रह्मचारी के दो ही जनेऊ होती हैं।

जिनोपवीत के शास्त्रोक्त अधिकारी

जैन परम्परा में यज्ञोपवीत धारण करने के योग्य तीन प्रकार के अधिकारी (पात्र) बताए गए हैं। प्रथम प्रकार के अधिकारी वे हैं, जो ब्रह्मचर्यव्रत को धारण कर एवं गुरुकुल में रहकर विद्याभ्यास करने के अभिलाषी हों। दूसरे प्रकार के पात्र वे हैं, जो गुरुकुल में रहने के इच्छुक नहीं है और किसी विशेष कारण से अपना गृह छोड़ना नहीं चाहते हैं, वे भरत महाराजा आदि के समान गृह पर रहकर यज्ञोपवीत धारण करें और दान-पूजा आदि कार्यों में दत्तचित्त रहें। तीसरे प्रकार के अधिकारी वे हैं, जिन्होंने पूर्वकृत पुण्योदय से उच्चगोत्र, विशुद्ध कुल और उत्तम जाति को प्राप्त किया है, परन्तु मिथ्यात्व के उदय से मिथ्यादृष्टि हो रहे हैं, ऐसे जीवों को धर्म देशना आदि द्वारा सत्य प्रतीति हो जाए तो संस्कारित करना चाहिए।

आदिपुराण में तीनों प्रकार के अधिकारियों द्वारा यज्ञोपवीत धारण करने की पृथक्-पृथक विधि बताई गई है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिनोपवीत धारण के अयोग्य कौन?

जैन साहित्य के लोकप्रिय ग्रन्थ आदिपुराण, आचारदिनकर, धर्मसंग्रहश्रावकाचार आदि में वर्णन है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य-ये तीन वर्ण वाले ही संस्कार करने-करवाने के अधिकारी होते हैं। शूद्र जाति के लिए संस्कार करने का निषेध किया गया है अर्थात् शूद्र जाति में उत्पन्न हुए व्यक्तियों का संस्कार नहीं होता है, अतएव उनके लिए यज्ञोपवीत संस्कार भी नहीं किया जाता है। यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि शूद्र को संस्कार के योग्य या मोक्षमार्ग की साधना के योग्य क्यों नहीं माना गया है? इसके कई कारण हैं-शूद्र जात्योत्पन्न व्यक्ति के लिए परम्परा से संस्कार का अभाव होता है। वे मासिकधर्म, सूतक, पातक आदि का पालन नहीं करते हैं। शूद्र की जातियों में प्रायः मद्य, मांस की प्रवृत्ति कुल परम्परा से चलती रहती है। शूद्र की वृत्तियाँ अत्यन्त हिंसाजनक होती हैं। शूद्र में पुनर्विवाह होने से पिंडशुद्धि का अभाव होता है। शूद्र की संतान-प्रतिसंतान में पिंडशुद्धि, रजवीर्यशुद्धि और संस्कार शुद्धि का सर्वथा अभाव होता है। ऐसे अन्य भी कई कारणों को लेकर उसे संस्कार का अधिकारी नहीं माना है। इसे धारण करने का अधिकार स्त्री-जाति को भी नहीं दिया गया है, क्योंकि संस्कारों के अनुपालन में शुचिता और पवित्रता का विशेष ध्यान रखना आवश्यक होता है। स्त्री के शरीर का निर्माण इस तरह से हुआ है कि उसे मास में कुछ दिन अपवित्र दशा में रहना पड़ता है। इसी तरह प्रसवकाल में भी वह अपवित्र दशा में रहने हेतु बाध्य होती है। पुरुष के समान स्त्री ब्रह्मचर्य-धर्म का पालन (रजस्वला होने पर) नहीं कर सकती है। इसी प्रकार मन्त्रों के उच्चारण की अशुद्धता भी स्त्री में रहती है। इन सबके बाद भी मनुस्मृति (2/67) में स्त्रियों का विवाह संस्कार ही उनके यज्ञोपवीत संस्कार के समान कहा है।

जिन जातियों में विजातीय विवाह होता है, उन जातियों के लिए भी संस्कार करने का निषेध किया गया है। इससे ध्वनित होता है कि आहारशुद्धि व संस्कारशुद्धि के बल पर ही आचारशुद्धि निर्भर हैं।

मूलतः यह चर्चा जैन धर्म के परवर्तीकालीन ग्रन्थों में मिलती है, जिसे किसी न किसी रूप में ब्राह्मण धर्म का प्रभाव माना जा सकता है। प्राचीन जैनागमों में शूद्र को दीक्षा का अधिकारी माना गया है। उत्तराध्ययनसूत्र के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बारहवें अध्ययन में हरिकेशीबल का उदाहरण उक्त बात का पूर्ण समर्थन करता है। ये हरिकेशीबल चाण्डाल कुलोत्पन्न थे, किन्तु श्रेष्ठ गुणों के कारण प्रव्रज्या धारण कर मुनि जीवन के उत्तम संस्कारों से वासित हो गए। इसका आशय यह है कि किसी जाति या कुल में जन्म लेने मात्र से व्यक्ति उच्च या नीच नहीं हो जाता। व्यक्ति की उच्चता-नीचता का प्रमुख कारण गुण-अवगुण, सच्चारित्रता-आचारहीनता, दूषित-अदूषित प्रवृत्ति आदि हैं।

भगवान महावीर का प्रसिद्ध उद्घोष है-'व्यक्ति जन्म से नहीं, कर्म से महान् होता है।' इसका तात्पर्य यह है कि शूद्र को संस्कार का अनाधिकारी इसलिए नहीं माना गया कि वह चतुर्थ वर्ण में पैदा हुआ है।

आचारदिनकर में कहा गया है कि शूद्र को मुनि दीक्षा प्रदान करने के लिए उसका उपनयन संस्कार करके उसे ब्राह्मण वर्ग में सम्मिलित करना चहिए, फिर उसे दीक्षा देनी चाहिए। उपनयन संस्कार द्वारा वर्ण परिवर्तन भी संभव है। शूद्र को अयोग्य इसलिए माना गया है कि वह प्रायः माँस, मदिरा आदि का सेवन करता रहता है अतः उसका अन्न, जौ-विधि और मन्त्रों से रहित है, रूधिर के समान है। यही बात शूद्र के दोषों के सम्बन्ध में आपस्तम्ब ने कही है-

अज्ञान तिमिरान्धस्य, मद्यपान-स्तस्यच ।
रूधिरं तेन शूद्रान्नं, विधिमन्त्र विवर्जितम् ।।

जैनों के अनुसार वर्ण व्यवस्था कर्माधारित है, जन्माधारित नहीं। शूद्र-जाति को हीन मानने का एक कारण यह भी है कि वह प्रायः तमोगुण प्रधान होती है और शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से इस वर्ग में अनेक दोष विद्यमान रहते हैं, अन्यथा किसी व्यक्ति या वर्ण को अकारण छोटा-बड़ा नहीं बतलाया है, वरन् उसके सामाजिक-परिवेश तथा वैयक्तिक योग्यता-अयोग्यता के अनुसार ही यह विभाजन किया गया है। वास्तविकता तो यह है कि यदि प्रत्येक वर्ग का व्यक्ति सच्चारित्री बन जाए, सन्मार्ग का पथिक बन जाए तो वह निश्चित रूप से सद्गति और मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

जैन विचारणा में वही मनुष्य शूद्र है, जिसका आचरण दूषित, गन्दा एवं निन्दनीय है, पर जिसे संसार की असारता का ज्ञान है, जो अनासक्त भाव से अपने कर्तव्य का पालन करता है और सेवा कार्य को ही परम धर्म समझकर तन मन धन से पूरा करता है तो कोई कारण नहीं कि उसको नीच समझा जाए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह बात नहीं कि शास्त्रों में अस्पृश्यता के उल्लेख नहीं मिलते हैं, पर उनका उद्देश्य भी शूद्र वर्ण का बहिष्कार नहीं है, वरन् जो व्यक्ति जिस समय किसी कारणवश दूषित वातावरण से संलग्न हो जाता है, वह उस अवस्था में अस्पृश्य मान लिया जाता है, जैसे-चिकित्साशास्त्र के अनुसार कुष्ठरोग, क्षय रोग, प्लेग, हैजा आदि के रोगियों को भी अस्पृश्य माना गया है क्योंकि उनके सम्पर्क से ये रोग अन्य व्यक्तियों को भी लग सकते हैं। इसी प्रकार रजस्वला होने पर घर की स्त्रियों को तथा जन्म-मरण का सूतक लगने पर सगे-सम्बन्धियों को कुछ काल के लिए अस्पृश्य बतलाया है, क्योंकि उस समय शारीरिक और मानसिक दृष्टि से उनका सम्पर्क हमारे लिए हानिप्रद हो सकता है। शूद्रों के सम्बन्ध में भी यही नियम लागू होता है। उनमें जो व्यक्ति सदैव गन्दे रहते हैं, शराब आदि का नशा करते हैं, अश्लील कथोपकथन करते हैं, उनके लिए ही संस्कार कर्म का निषेध है। यदि ये दुर्गुण किसी ब्राह्मण-नामधारी में हों तो वह भी उसी प्रकार अस्पृश्य माना गया है और उसे शूद्र के तुल्य कहा गया है।

सुस्पष्ट है कि व्यक्ति की उच्चता एवं नीचता का प्रमुख आधार उसके गुण-कर्म ही हैं। यदि व्यक्ति का आचरण शुद्ध, पवित्र और निर्दोष है, तो शूद्र जाति में उत्पन्न हुआ व्यक्ति भी यज्ञोपवीत आदि संस्कारों का अधिकारी बन सकता है।

दूसरा तथ्य यह विचारणीय है कि दोषों का निराकरण करने के लिए ही संस्कारों का प्रावधान किया गया है, जिससे मनुष्य को आरम्भ से ही शिष्टता और सदाचार का अभ्यास हो जाए।

उपनयन संस्कार का कर्त्ता कौन?

श्वेताम्बर परम्परा जैन ब्राह्मण या क्षुल्लक को यह संस्कार सम्पन्न करवाने का अधिकार प्रदान करती हैं। दिगम्बर परम्परा इस संस्कार का अधिकारी आचार्य, पिता या पितृ-कुलोत्पन्न किसी व्यक्ति को मानती है।[58] वैदिक परम्परा में मूलतः पिता को इस संस्कार का अधिकारी माना गया है। परवर्तीकाल में ब्राह्मण आचार्य को यह अधिकार दिया गया या ऐसा देखा जाता है।[59]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपनयन-संस्कार हेतु शुभ दिन आदि का विचार

यह संस्कार किन शुभ दिनों एवं शुभ लग्न में किया जाना चाहिए? इस सम्बन्ध में आचारदिनकर अति महत्त्वपूर्ण सूचना देता है। इसमें उपनयन संस्कार के योग्य नक्षत्रों एवं ग्रहों को अपने योग्य स्थानों पर होने का उल्लेख किया है। आचारदिनकर के अनुसार इस संस्कार के लिए श्रवण, धनिष्ठा, हस्त, मृगशिरा, अश्विनी, रेवती, स्वाति, चित्रा और पुनर्वसु उत्तम नक्षत्र माने गए हैं। उसमें यह भी कहा गया है कि मेखला का बंधन (ब्रह्मचारी के कटिभाग पर मूंज जाति के घास का बनाया हुआ कंदोरा पहनाना) और उसका मोचन मृगशिरा, रेवती, श्रवण, धनिष्ठा, हस्त, स्वाति, चित्रा, पुष्य और आश्विनी-इन नक्षत्रों में करना चाहिए।

यह संस्कार करते समय यह भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि वर्णाधिप बलवान् हो अथवा सभी वर्णों के गुरु, चन्द्र और सूर्य के योग बलवान हों। इन योगों में किया गया संस्कार हितकारी होता है। जिस दिन बृहस्पतिवार हो, बृहस्पति बलवान हो या केन्द्र में हो, तो वह दिन ब्राह्मणों के संस्कार के लिए श्रेष्ठ माना गया है। इस संस्कार के लिए कौनसा ग्रह किस स्थान पर होना चाहिए तथा उन ग्रहों का शुभ-अशुभ फल क्या होता है? इस सम्बन्ध में और भी विस्तृत चर्चा की गई है। इसी क्रम में आगे यह बताया है कि पूर्वोक्त उत्तम नक्षत्रों में, मंगलवार को छोड़कर अन्य वारों में, शुभ तिथि में, दिन शुद्धि से युक्त दिन में और शुभ लग्न में तथा विवाह संस्कार के लिए जो नक्षत्र, दिन और मास आदि त्याज्य हों, उनको छोडकर पंचम लग्न में यह संस्कार सम्पन्न करना चाहिए।[60]

दिगम्बर परम्परा के अनुसार यह संस्कार रवि, सोम, बुध, गुरु, शुक्र-इन वारों में एवं हस्त, अश्विनी, पुनर्वसु, पुष्य, उत्तरात्रय, रोहिणी, आश्लेषा, स्वाति, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा, मूल, रेवती, मृगशिरा, चित्रा, अनुराधा, आर्द्रा, पूर्वात्रिय-इन नक्षत्रों में करना चाहिए। उनके मत में यह संस्कार सामूहिक रूप से रक्षाबन्धन के दिन भी किया जाता है।[61]

वैदिक परम्परा में इस संस्कार के लिए विभिन्न मासों, ऋतुओं एवं पक्षों को प्रमुखता दी गई है। वृद्धगार्ग्य ने माघ से लेकर छः मास उपनयन के लिए उपयुक्त माने हैं। कुछ विद्वानों ने प्रतिपदा, चतुर्थी, सप्तमी, अष्टमी, नवमी,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्रयोदशी, चतुर्दशी, पूर्णमासी एवं अमावस्या की तिथियाँ प्रायः त्याज्य मानी हैं। वारों में– बुध, बृहस्पति, शुक्र, नक्षत्रों में– हस्त, चित्रा, स्वाति, पुष्य, धनिष्ठा, अश्विनी, मृगशिरा, पुनर्वसु, श्रवण एवं रेवती श्रेष्ठ माने गए हैं। इनके सिवाय जब शुक्र सूर्य के अति निकट हो, सूर्य राशि के प्रथम अंश में हो, तब अनध्याय के दिनों में तथा गलग्रह में उपनयन करने का निषेध किया गया है।[62] साधारणतः जिन मासों में सूर्य उत्तरायण में हो, वे मास उपनयन के लिए श्रेष्ठ बतलाए गए हैं।[63] वैश्य बालकों के लिए दक्षिणायन मास भी विहित है। वैदिक ग्रन्थों में विभिन्न वर्णों के उपनयन के लिए विभिन्न ऋतुएँ निश्चित की गईं हैं जैसे कि ब्राह्मण का उपनयन बसन्त में, क्षत्रिय का ग्रीष्म में, वैश्य का शरद्ऋतु में तथा रथकार का उपनयन वर्षाऋतु में करना चाहिए।[64] ये विभिन्न ऋतुएँ विभिन्न वर्णों के स्वभाव तथा व्यवसाय का प्रतीक हैं।

परवर्ती लेखकों ने विभिन्न मासों के साथ भिन्न-भिन्न गुणों का योग भी किया है। जैसे कि जिस बालक का उपनयन माघ-मास में किया जाता है, वह समृद्ध होता है, फाल्गुन में उपनीत करने पर बुद्धिमान्, चैत्र में उपनीत होने पर वेदों में निष्णात, वैशाख में उपनयन करने से समस्त सुख-भोगों से सम्पन्न, ज्येष्ठ में प्राज्ञ व श्रेष्ठ और आषाढ़ में शत्रुओं पर महान् विजयी तथा विख्यात महापण्डित होता है।[65] इन मासों में भी शुक्ल पक्ष को संस्कार के लिए प्रधान बताया गया है।इस प्रकार वैदिक ग्रन्थों में तिथि, वार या नक्षत्रादि की अपेक्षा सूर्य के उत्तरायण महीने उपनयन के लिए सर्वश्रेष्ठ कहे गए हैं।

उपनयन संस्कार हेतु शास्त्र वर्णित काल

यह संस्कार कब किया जाना चाहिए? तथा किस आयु तक यह संस्कार किया जा सकता है? इत्यादि विषय में अध्ययन करते हैं तो यह विदित होता है कि श्वेताम्बर परम्परानुसार यह संस्कार (गर्भाधान या जन्म से लेकर) ब्राह्मणों को आठवें वर्ष में, क्षत्रियों को ग्यारहवें वर्ष में और वेश्यों को बारहवें वर्ष में करना चाहिए।[66]

दिगम्बर ग्रन्थों में उपनीति संस्कार का समय बालक के गर्भ से आठवाँ वर्ष माना गया है।[67] वैदिक ग्रन्थों का साधारण नियम यह है कि ब्राह्मण का उपनयन गर्भाधान या जन्म से लेकर आठवें वर्ष में, क्षत्रिय का ग्यारहवें वर्ष में तथा वैश्य का बारहवें वर्ष में करना चाहिए।[68] अपवाद स्वरूप सोलहवें, बाईसवें एवं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चौबीसवें वर्ष तक भी उपनयन किया जा सकता है। कुछ स्मृतियों ने कम अवस्था में भी उपनयन करना स्वीकार किया है। याज्ञवल्क्य ने इस सम्बन्ध में कुल धर्म को प्रमुख माना है। इस तरह इस संस्कार को सम्पन्न करने हेतु विभिन्न काल माने गए हैं, परन्तु उनमें सबसे पहला मत अधिक प्रासंगिक है, क्योंकि वह मत तीनों परम्पराओं को मान्य है।

उपनयन संस्कार में प्रयुक्त आवश्यक सामग्री

उपनयन संस्कार के लिए निम्न सामग्री को परमावश्यक माना है। उसकी सूची इस प्रकार है-

पौष्टिककर्म के उपकरण, मौंजी(मेखला), कौपीन, वल्कल, उपवीत, सुवर्ण की अंगूठी, गौ, श्रीसंघ का एकत्रित होना, तीर्थ के जल, वस्त्र, चन्दन, दर्भ, पंचगव्य(गाय का दूध, दही, घृत, मूत्र, गोबर), बलिकर्म के योग्य वस्तुएँ, वेदी, चौकी-बाजोट, तीर्थंकर परमात्मा की चौमुखी प्रतिमा और पलाश वृक्ष का दंड।[69]

दिगम्बर साहित्य में इस संस्कार के लिए उपयोगी सामग्री का पृथक रूप से कोई उल्लेख नहीं है। वैदिक ग्रन्थों में उपनयन संस्कार के लिए निम्न सामग्री को अनिवार्य माना है[70]।

बारह रोली(कुंकुम), सात मौली, पच्चीस केसर, तीन पताशा अखंड चावल, बारह पुष्प, पुष्पमाला, तीन धूप, एक दीप, अखण्ड सात तांबूल, नौ यज्ञोपवीत, तीन प्रणीतापात्र, छ:कांस्यपात्र, एक छायापात्र, एक सुवर्ण, एक कुशा, एक स्रुवा, पाँच पूर्णपात्र, पाँच धोती, दो कौपीन, पाँच मृगचर्म, पलाशदण्ड, गुलरशाखा, एक मुंजी की मेखला, एक सुहालीया शेर, आठ पुरवा(मिट्टी के सकोरे), आठ लटिया, दो नारियल, एक पट्टी, एक चगेर, पाँच लाठी, एक गुथली, दो कसारू, घृत, तिल, दही, ग्यारह सुपारी, सात आम-पल्लव आदि वृक्ष के पत्ते, एक अंजन, एक दर्पण, पाँच वसु, दस दुर्वा दोने, अबीर छ:श्वेत, बाह्मण भोजन-दक्षिणा, पच्चीस पंचरंग आदि।

विविध परम्पराओं में चर्चित उपनयन संस्कार विधि

श्वेताम्बर– श्वेताम्बर परम्परा में उपनयन संस्कार की निम्न विधि प्रतिपादित है[71]–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

• सर्वप्रथम अपनी सामर्थ्य के अनुसार उपनयन योग्य पुरुष को सात, पाँच या तीन दिन तेल का मर्दन करवाकर स्नान कराएं। • उसके बाद गृहस्थ गुरु लग्न दिन में उसके घर आकर ब्रह्ममुहूर्त्त में पुष्टिकर्म करें। • फिर उपनयन योग्य पुरुष के सिर पर शिखा को छोड़कर शेष बालों का मुंडन कराएं। • उसके बाद योग्य भूमि पर वेदी स्थापना करें। उसे मध्य में चौकोर रखें। फिर वेदी की प्रतिष्ठा करें। • उसके ऊपर चौमुखजी की प्रतिमा स्थापित कर उसकी पूजा करें। • तदनन्तर उपनयन योग्य पुरुष वेदी (समवसरण) की तीन प्रदक्षिणा करें। • उसके बाद पश्चिम दिशाभिमुख जिनबिंब के सामने बैठकर गुरु एवं उपनयन संस्कारी शक्रस्तव बोलें। इसी तरह तीन-तीन प्रदक्षिणा देकर क्रमश: उत्तर, पूर्व और दक्षिण दिशा के सम्मुख रहे हुए जिनबिम्ब के आगे भी शक्रस्तव बोलकर चैत्यवन्दन करें। • उस समय मंगलगीत और वादिंत्र आदि का वादन होते रहना चाहिए। नगर में यदि आचार्य, उपाध्याय, साधु आदि विराजमान हों, तो उन्हें भी आमंत्रित करें।

• तदनन्तर उपनयन संस्कार प्रारंभ करने के लिए गृहस्थ गुरु वेद मन्त्र (जैन मंत्र) का उच्चारण करे तथा जिसका उपनयन संस्कार किया जा रहा है, वह बालक या पुरुष हाथ में दूर्वा और फल लेकर जिनप्रतिमा के आगे खड़े रहें एवं मन्त्र को सुने।

"ऊँ अर्हं, अर्हद्भ्यो नमः, सिद्धेभ्यो नमः, आचार्येभ्यो नमः, उपाध्यायेभ्यो नमः, साधुभ्यो नमः, ज्ञानाय नमः, दर्शनाय नमः, चारित्राय नमः, संयमाय नमः, सत्याय नमः, शौचाय नमः, ब्रह्मचर्याय नमः, आकिंचन्याय नमः, तपसे नमः, शमाय नमः, मार्दवाय नमः, आर्जवाय नमः, मुक्तये नमः, धर्माय नमः, संधाय नमः, सैद्धान्तिकेभ्यो नमः, धर्मोपदेशकेभ्यो नमः, वादिलब्धिभ्यो नमः, अष्टांगनिमित्तक्षेभ्यो नमः, तपस्विभ्यो नमः, विद्याधरेभ्यो नमः, इहलोकसिद्धेभ्यो नमः, कविभ्यो नमः, लब्धिमद्भ्यो नमः, ब्रह्मचारिभ्यो नमः, निष्परिग्रहेभ्यो नमः, दयालुभ्यो नमः, सत्यवादिभ्यो नमः, निःस्पृहेभ्यो नमः, एतेभ्यो नमस्कृत्याऽयं प्राणी प्राप्तमनुष्यजन्मा प्रविशति वर्णक्रमम् अर्हं ऊँ।"

• उसके बाद पुनः पूर्ववत चौमुख प्रतिमा की तीन प्रदक्षिणा करके गृहस्थ गुरु एवं उपनयन योग्य पुरुष दोनों ही चारों दिशाओं में णमुत्थुणं सूत्र बोलें।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

• फिर उपनयन योग्य पुरुष को आयंबिल का प्रत्याख्यान कराएं।

हृदय-कटि-ललाट पर रेखा– तत्पश्चात गुरु उपनयन योग्य पुरुष को अपनी बाईं ओर बिठाकर अमृत मंत्र से अभिमन्त्रित सर्व तीर्थों के जल द्वारा अभिसिंचित करें। • फिर नमस्कारमंत्र पढ़कर उस पुरुष को प्रतिमा के आगे पूर्वाभिमुख बिठाएं। • गृहस्थ गुरु चंदन को अभिमन्त्रित करें। उसके बाद उस चंदन के द्वारा उपनयन इच्छुक पुरुष के हृदय पर यज्ञोपवीत रूप, कटि में मेखला रूप (कंदोरा रूप) और ललाट पर तिलक रूप रेखा अंकित करे। • उसके बाद वह पुरुष *'नमोऽस्तु नमोऽस्तु'* कहते हुए गुरु के चरणों में झुके और पुनः खड़े होकर कहे-

"भगवन्! वर्णरहितोऽस्मि, आचाररहितोऽस्मि, मन्त्ररहितोऽस्मि, गुणरहितोऽस्मि, धर्मरहितोऽस्मि, शौचरहितोऽस्मि, ब्रह्मरहितोऽस्मि, देवर्षिपितृ-तिथिकर्मसु नियोजय माम्ऽ"

मेखला बंधन– उसके बाद पुनः 'नमोस्तु-नमोस्तु' कहते हुए गृहस्थ गुरु के चरणों में गिरे, तब गुरु मंत्रोच्चार पूर्वक चोटी से पकड़कर उसे खड़ा करे। • उसके बाद प्रतिमा के आगे पूर्व दिशा के सम्मुख खड़ा करे। • तदनन्तर मूंज की मेखला को अपने दोनों हाथों में रखकर निम्न मंत्र का उच्चारण करते हुए उसे अभिमन्त्रित करे। • मेखला(कंदोरा) को अभिमन्त्रित करने का यह मन्त्र है-

"ॐ अर्हं आत्मन्! देहिन्! ज्ञानावरणेन बद्धोऽसि, दर्शनावरणेन बद्धोऽसि, वेदनीयेन बद्धोऽसि, मोहनीयेन बद्धोऽसि, आयुषा बद्धोऽसि, नाम्ना बद्धोऽसि, गोत्रेण बद्धोऽसि, अन्तरायेण बद्धोऽसि, कर्मोष्टक प्रकृतिस्थितिरसप्रदेशैर्बद्धोसि तन्मोचयति त्वां भगवतोर्हतः प्रवचन चेतना तद् बुध्यस्व मामुहः, मुच्यतां तव कर्मबन्धनमनेन मेखला बन्धेन अर्हं ॐ।"

• उसके बाद गृहस्थ गुरु उपनयन संस्कारी की कटि में नौगुनी मेखला को बांधे। यहाँ ज्ञातव्य है कि ब्राह्मण के लिए इक्यासी हाथ की, क्षत्रिय के लिए चौपन हाथ की और वैश्य के लिए सत्ताईस हाथ की मेखला का विधान है। ब्राह्मण को नौगुनी, क्षत्रिय को छःगुनी और वैश्य को तीनगुनी मेखला बांधनी चाहिए।

कौपीन ग्रहण– श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार मेखला (मौंजी), कौपीन एवं जिनोपवीत के पूजन, गीत आदि और रात्रि जागरण-ये सब पूर्व दिन की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रात्रि में करना चाहिए।

• मेखला बंधन होने के बाद गृहस्थ गुरु एक बेंत(बारह अंगुल परिमाण) चौड़ा और तीन बेंत परिमाण लंबा कौपीन (लंगोट-धोती) दोनों हाथों में लेकर निम्न मन्त्र से अभिमन्त्रित करें। कौपीन को अभिमन्त्रित करने का मन्त्र यह है–

"ऊँ अर्हं आत्मन् देहिन् मतिज्ञानावरणेन, श्रुतज्ञानावरणेन, अवधिज्ञानावरणेन, मनः पर्यायावरणेन, केवलज्ञानावरणेन, इन्द्रियावरणेन, चित्तावरणेन आवृतोऽसि। तन्मुच्यतां तवावरणम् अनेनाऽऽवरणेन अर्हं ऊँ।"

फिर उपनयन योग्य पुरुष को कटि मेखला के नीचे कौपीन पहिनाए।

जिनोपवीत धारण– उसके बाद जिसका उपनयन इच्छुक 'नमोऽस्तु-नमोऽस्तु' बोलते हुए गुरु के चरणों में झुके। • फिर पूर्ववत तीन-तीन प्रदक्षिणा देकर चारों दिशा में जिनबिम्ब के सम्मुख णमुत्थुणंसूत्र बोले। • उसके बाद शुभ लग्न के आने पर गुरु पूर्वोक्त जिनोपवीत को अपने हाथ में ग्रहण करे, तब शिष्य मन्त्र पूर्वक यज्ञोपवीत पहनाने का निवेदन करे। निवेदन मन्त्र इस प्रकार है–

'भगवन्! वर्णोज्झितोऽस्मि, ज्ञानोज्झितोऽस्मि, क्रियोज्झितोऽस्मि, तज्जिनोपवीतदानेन मां वर्ण-ज्ञान क्रियासु समारोपयेऽस्मि।"

• पुनः गुरु चरणों में गिरे। 'ऊँ अर्हं देहिन्!' इत्यादि पूर्वोक्त मन्त्र पूर्वक गुरु उसे खड़ा करें। • उसके बाद अपने दाएं हाथ में जिनोपवीत रखकर मन्त्र से अभिमन्त्रित करें। यज्ञोपवीत अभिमन्त्रण मन्त्र यह है–

ब्राह्मण मन्त्र– *"ऊँ अर्हं नवब्रह्मगुप्तीः स्वकरण- कारणाऽनुमतीर्धारयेः, तदनन्तरमक्षच्च्यमस्तु ते व्रतम्, स्व-परतरण- तारणसमर्थो भव अर्ह ऊँ।"*

क्षत्रिय मन्त्र– *"ऊँ अर्हं नवब्रह्मगुप्तीः स्वकरण-कारणाभ्यां धारयेः, तदनन्तरमक्षय्यमस्तु ते व्रतम्, स्वस्य तरणसमर्थो भव अर्हं ऊँ।"*

वैश्य मन्त्र– 'ऊँ अर्हं नवब्रह्मगुप्तीः स्वकरणेन धारयेः, तदनन्तरमक्षय्यमस्तु ते व्रतम्, स्वस्य तरणसमर्थो भव अर्हं ऊँ।"

उल्लेख्य है कि वर्ण एवं योग्यता की अपेक्षा से ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य के लिए जिनोपवीत को अभिमन्त्रित करने के भिन्न-भिन्न मन्त्र कहे गए हैं। साथ ही उपनयन संस्कार जिस वर्ण के व्यक्ति का हो, उसके वर्णानुसार उपवीत को मन्त्रित कर उसके कंठ में पहनाएं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आशीर्वाद एवं मन्त्र श्रवण– उसके बाद उपनीत शिष्य गृहस्थ गुरु की तीन प्रदक्षिणा दे। *"नमोऽस्तु-नमोऽस्तु"* कहकर गुरु चरणों में नमस्कार करे। तब गुरु 'निस्तारपारगो भव' कहते हुए आशीर्वाद प्रदान करे। • तदनन्तर गृहस्थ गुरु जिनप्रतिमा के आगे बैठकर और शिष्य को अपने बाईं ओर बैठाकर गंध और अक्षत से पूजित उसके दाहिने कान में अचिन्त्य प्रभावशाली पंचपरमेष्ठी मंत्र को तीन बार सुनाएं तथा शिष्य द्वारा भी तीन बार वह मन्त्र उच्चारित करवाएं। फिर नवकार मन्त्र का माहात्म्य सुनाएं।

• पुन: उपनीत शिष्य गुरु को नमस्कार करे। • उसके बाद गुरु को स्वर्ण का जिनोपवीत, सफेद रेशमी वस्त्र और स्वर्ण की मौंजी यथाशक्ति प्रदान करें। सकल संघ का भी तांबूल वस्त्र आदि द्वारा सत्कार करें।

व्रतादेश विधि

श्वेताम्बर परम्परा में तीनों वर्णों के लिए पृथक्-पृथक् व्रतादेश विधि कही गई है। यहाँ व्रतादेश का तात्पर्य है - ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य को अपने-अपने वर्ण के अनुसार पालन करने योग्य नियमों की प्रतिज्ञा दिलाना। इस व्रतादेश के अवसर पर सर्वप्रथम जिनोपवीत संस्कारी को निश्चित अवधि के लिए पलाश-काष्ठ का दंड दिया जाता है तथा हाथ में मुद्रिका पहनाई जाती है।

पलाश काष्ठदंड प्रदान– यह विधि जिनोपवीत संस्कार के दिन आयोजित उत्सव में प्रतिमा के सम्मुख करे। • सर्वप्रथम गृहस्थ गुरु उपनीत के देह पर से उत्तरीय वस्त्र को दूर करें और काला मृगचर्म, वृक्ष का वल्कल या वस्त्र पहनाएं। • फिर उसके हाथ में पलाश-काष्ठ का दंड दें और उसे निम्न मंत्र से अभिमन्त्रित करें। पलाश काष्ठदंड को अभिमन्त्रित करने का मन्त्र इस प्रकार है[72]–

"ॐ अर्हं ब्रह्मचर्यसि, ब्रह्मचारिवेषोऽसि, अवधिब्रह्मचर्योऽसि, धृतब्रह्मचर्योऽसि, धृताजिनदण्डोऽसि, बुद्धोऽसि, प्रबुद्धोऽसि, धृतसम्यकत्वोऽसि, दृढ़सम्यक्त्वोऽसि, पुमानसि, सर्वपूज्योऽसि, तदवधिब्रह्मव्रतम् आगुरुनिदेशं धारये: अर्हं ॐ।"

मुद्रिका धारण– उसके बाद उपनीत को व्याघ्रचर्म या काष्ठासन के ऊपर बिठाएं। • फिर उसके दाहिने हाथ की तर्जनी अंगुली में दर्भ सहित स्वर्ण की अंगूठी पहनाएं। वह भी सोलह मासा परिमाण होनी चाहिए।[73] • फिर उस

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मुद्रिका को मन्त्रित करे। मुद्रिका अभिमन्त्रण का मन्त्र यह है–

पवित्रं दुर्लभं लोके, सुरासुरनृवल्लभम्।
सुवर्णं हन्ति पापानि, मालिन्यं च न संशयः।।

जिनोपवीत अनुज्ञा विधि– उसके बाद उपनीत ब्रह्मचारी नमस्कारमन्त्र का उच्चारण करते हुए चारों दिशाओं में गंध, पुष्प, अक्षत, धूप, दीप और नैवेद्य से जिनप्रतिमा की पूजा करे। • फिर जिनप्रतिमा और गुरु को प्रदक्षिणा करके वन्दन पूर्वक गुरु से निवेदन करे-मुझे उपनीत किया गया है क्या? मेरा व्रत बन्ध हो गया है क्या? मुझे ब्राह्मण आदि जाति में स्थिर कर लिया है क्या? मुझे नवब्रह्मगुप्ति रूप रत्नत्रय के पालन करने, करवाने एवं अनुज्ञा देने की अनुमति दी जा चुकी है क्या? इन सभी प्रश्नों का गृहस्थ गुरु उत्तर दे और उसे अनुमति प्रदान करे।

• यह व्रतादेश विधि ब्राह्मण की अपेक्षा से कही गई है। कुछ मतान्तर के साथ क्षत्रिय एवं वैश्य की व्रतादेश विधि भी इसी प्रकार होती है। क्षत्रिय की व्रतादेश विधि में 'आदेश और समादेश' दोनों कहें, अनुज्ञा न कहे। वैश्य के लिए 'आदेश' ही कहे, समादेश और अनुज्ञा-दोनों नहीं कहें।

ब्राह्मण व्रतादेश विधि– उसके बाद उपनीत ब्रह्मचारी व्रतादेश करने का निवेदन करे- तब गृहस्थ गुरु ब्राह्मण के लिए इस प्रकार व्रतादेश करें अर्थात नियम दिलायें-तुम परमेष्ठी महामन्त्र का सदैव स्मरण करना, तीनों काल अरिहंत देव की पूजा करना, सात बार चैत्यवंदन करना छाने हुए पानी से स्नान करना, द्विदल का सेवन मत करना, चारों आर्यवेद विधि पूर्वक पढ़ना, सत्य बोलना, अपनी जाति में भी मिथ्यात्वी और मांसाहारी के घर पर भोजन नहीं करना, उपवीत, स्वर्णमुद्रा और अंतरीय वस्त्र को कभी मत छोड़ना, व्रतारोपण को छोड़कर अवशेष पन्द्रह संस्कार निर्ग्रन्थ गुरु की आज्ञा से करना, सम्यक्त्व में दृढ़ रहना, अनार्य देश में मत जाना, त्रियोग की शुद्धि रखना, यावज्जीवन इन व्रतों/नियमों का पालन करना, कृषि, पशुपालन एवं सेवावृत्ति नहीं करना, सत्य बोलना, प्राणी रक्षा करना एवं दूसरे की स्त्री एवं धन की इच्छा नहीं करना, कषायों एवं विषयों का, दुःख आने पर भी सेवन नहीं करना, अपक्व अन्न मत खाना, नगर में भ्रमण करते हुए किसी की काया से स्पर्श मत करना, स्वयं के द्वारा बनाया हुआ ही भोजन करना, जिन-प्रतिमा की प्रतिष्ठा आदि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करवाना, निर्ग्रन्थ की आज्ञा से प्रत्याख्यान करना और अन्य को करवाना।

क्षत्रिय व्रतादेश विधि– ब्राह्मण की व्रतादेश विधि के समान ही क्षत्रिय की व्रतादेश विधि कही जाती हैं। इसमें युद्ध आदि से सम्बन्धित कुछ नियम विशेष रूप से कहे जाते हैं। विधि पूर्वक साधुओं की उपासना करना। गृहस्थों के द्वादश व्रतों का पालन करना। शत्रुओं से घिरी हुई युद्ध भूमि में वीर रस को धारण करना। युद्ध में मौत का भय बिल्कुल भी नहीं रखना। देव, गुरु और मित्र की रक्षा के निमित्त एवं देश का विभाजन होने की स्थिति में (युद्ध में) मृत्यु को भी सहन करना। शौर्य द्वारा भूमि अर्जन करने वालों के लिए दुष्टों का निग्रह करना आदि।[74]

वैश्य व्रतादेश विधि– यह व्रतादेश विधि प्राय: ब्राह्मण व्रतादेश की तरह ही होती हैं। इसमें पशुपालन, खेती एवं व्यापार से सम्बन्धित कुछ नियम अतिरिक्त दिलाए जाते हैं।[75]

चतुर्वर्ण व्रतादेश विधि– ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र इन चतुर्वर्णी अधिकारियों के लिए समान रूप से पालन करने योग्य नियम इस प्रकार हैं-देव की अर्चना, साधुओं की पूजा तथा ब्राह्मण एवं संन्यासियों को प्रणाम करना। न्याय-नीति द्वारा धन उपार्जन करना एवं परनिंदा का त्याग करना। कभी भी किसी की, आलोचना (अवर्णवाद) नहीं करना। जिस देश में पानी की कमी हो, नदी न हो एवं गुरु योग न मिलता हो, वहाँ निवास नहीं करना। राजा, सर्प, नीच, मंत्री, स्त्री, नदी, लोभी व्यक्ति एवं पूर्व के वैरियों का कभी भी विश्वास नहीं करना। कभी भी असत्य एवं अहितकर वचन नहीं बोलना। किसी से विवाद नहीं करना। सत्शास्त्रों का ही श्रवण करना। हीन अंग वाले एवं विकलागों का कभी उपहास नहीं करना। छ: शत्रुओं(क्रोध, मान, माया, मद, लोभ, मत्सर) पर विजय प्राप्त करना। गुणानुरागी बनना। देशानुरूप लोकाचार का पालन करना। दूरदर्शिता, कृतज्ञता एवं लज्जा को अपनाना। अपने और पराए का विवेक रखना। संध्या के समय मे, जलाशय में (जलाशय के किनारे) श्मशान में और देवालय में निद्रा, आहार एवं संभोग-क्रिया नहीं करना। कुएँ में प्रवेश, कुएँ का उल्लंघन एवं कुएँ के किनारे शयन-इन सबका वर्जन करना। बिना नाव के नदी पार नहीं करना। दुर्जनों की सभा में एवं जहाँ कुकर्म होते हों, उन स्थानों पर कभी नहीं बैठना। गड्ढे आदि को नहीं लांघना एवं दुष्ट स्वामी की सेवा नहीं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करना।[76] दिवस में सहवास नहीं करना एवं रात को वृक्ष के पास नहीं रहना।

• व्रतादेश-विधि सम्पन्न होने पर शिष्य जिनबिम्ब की प्रदक्षिणा करे। पूर्वदिशा के सम्मुख होकर णमुत्थुणंसूत्र बोले। • फिर *'नमोऽस्तु'* शब्द पूर्वक नमस्कार कर गुरु से निवेदन करें - "हे भगवन्! आपके द्वारा मुझे व्रतादेश दिया गया है" तब गुरु कहे - *'दत्तः सुगृहीतोऽस्तु, सुरक्षितोऽस्तु। स्वयं तर, परान् तारय संसार सागरात्'।* फिर गुरु और शिष्य-दोनों चैत्यवन्दन करें।

• आचार्य वर्धमानसूरि ने व्रतादेशधारी ब्रह्मचारी के लिए कुछ नियम इस प्रकार बताए हैं-दंड और वल्कल को धारण किया हुआ ब्राह्मण आठ वर्ष से लेकर सोलह वर्ष तक भिक्षावृत्ति द्वारा जीवन-निर्वाह करे। क्षत्रिय दस वर्ष से लेकर सोलह वर्ष तक स्वयं ही भोजन पकाएं। वैश्य बारह वर्ष से लेकर सोलह वर्ष तक स्वकृत भोजन ही करे। यदि इतने दिन पूर्वोक्त प्रकार से रहना संभव न हो तो छः माह, एक माह, पन्द्रह दिन, तीन दिन तक रहे, उतना भी शक्य न हो तो उसी दिन व्रत विसर्ग करे।

व्रत विसर्ग विधि

यहाँ व्रत विसर्ग का तात्पर्य है-निर्दिष्ट अवधि के पूर्ण होने पर मौंजी, कौपीन, वल्कल और दंड का विसर्जन करना यानी पूर्वगृहीत इन वस्तुओं का त्याग करना।[77]

• व्रत-विसर्ग करने वाला उपनीत शिष्य तीन-तीन प्रदक्षिणा पूर्वक चारों दिशाओं में पूर्ववत शक्रस्तव पाठ द्वारा चैत्यवंदन करे। • फिर गुरु से व्रत विसर्ग का आदेश लें। तब गुरु मन्त्र पूर्वक आदेश दें। • उसके बाद शिष्य नमस्कारमन्त्र का स्मरण करते हुए मेखला, कौपीन, वल्कल और दंड को गुरु के आगे रख दे।

• उसके बाद गृहस्थ गुरु शिष्य के लिए उपनयन की महिमा का व्याख्यान करे। उसमें यह बताएं कि सर्वप्रथम श्रीऋषभदेव प्रभु ने तीन वर्णों के लिए यह उपवीत धारण करने हेतु कहा था। उसके बाद तीर्थोच्छेद होने से ब्राह्मण मिथ्यात्वी हो गए। उन्होंने हिंसा की प्ररूपणा की। वसुराज ने हिंसक यज्ञ मार्ग चलाया, तब से जिनोपवीत को 'यज्ञोपवीत' कहा जाने लगा, परन्तु जैन परम्परा में इसका नाम जिनोपवीत ही है अतः तुम्हें इसको अच्छी तरह से धारण करना चाहिए। • यदि प्रमादवश जिनोपवीत निकल जाए या टूट जाए, तो तीन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपवास करके नया धारण करना चाहिए। • प्रेत-क्रिया में दाहिने कन्धे पर और बाईं काँख के नीचे इस प्रकार विपरीत क्रम से धारण करना चाहिए, क्योंकि वह विपरीत कार्य है। इसी क्रम में गोदान विधि, शूद्र को उत्तरीय वस्त्र देने की विधि, बटुकरण विधि भी कही गई है। इन विधियों का स्वरूप आचारदिनकर नामक ग्रन्थ से जानना चाहिए।

दिगम्बर– दिगम्बर परम्परा में उपनयन संस्कार की निम्नलिखित विधि प्राप्त होती है–

सर्वप्रथम उपनयन संस्कार इच्छुक बालक जिनालय में अरिहन्त देव की पूजा करे। फिर उस बालक को व्रत (अभिग्रह नियम) दिलवाएं। उसके बाद उसके कमर में तीन लड़ की बनी हुई मूंज की रस्सी बांधे। फिर व्रतों के चिह्न स्वरूप और मन्त्रों से पवित्र किया हुआ सूत्र-यज्ञोपवीत पहनाएं। यज्ञोपवीत धारण करने पर वह बालक द्विज कहलाता है। पहले तो वह जन्म से ही ब्राह्मण था और अब व्रतों से संस्कृत होकर दूसरी बार उत्पन्न हुआ है, इसलिए उसे द्विज कहा जाता है। उस समय गुरु द्वारा उस उपनीत को अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत दिलवाना चाहिए। इस अवसर पर उसके आचरण के योग्य और भी नाम रखे जा सकते हैं।[78] इस परम्परा में उपनयन संस्कार की सामान्य रूप से यही विधि उपलब्ध है। परवर्तीकाल में इसमें होमादि अनुष्ठान भी सम्मिलित कर दिए गए हैं।

उपनयन संस्कारी की विशेष क्रियाएँ– दिगम्बर परम्परा में उपनीत सिर पर चोटी रखता है, सफेद धोती पहनता है, सफेद दुपट्टा रखता है, मेखला बांधता है और जब तक विवेचन करता है, तब तक ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करता है। दिगम्बर साहित्य में यह भी उल्लेख आता है कि उस दिन राजपुत्र को छोड़कर शेष को भिक्षावृत्ति से निर्वाह करना चाहिए और राजपुत्र को भी अन्तःपुर में जाकर माता आदि से किसी पात्र में भिक्षा मांगनी चाहिए क्योंकि उस समय भिक्षा मांगने का नियम रहा है, साथ ही भिक्षा में जो कुछ प्राप्त हो, उसका अग्रभाग अरिहंतदेव को समर्पित कर शेष बचा हुआ आहार स्वयं को ग्रहण करना चाहिए।

दिगम्बर मान्यतानुसार उपनीत योग्य बालक को निम्न मन्त्रों से संस्कारित किया जाता है। इन्हें आशीर्वाद मन्त्र भी कहा गया है[79]–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"परमनिस्तारकलिंगभागीभव, परमार्षिलिंगभागीभव, परमेन्द्रलिंगभागीभव, परमराज्यलिंगभागीभव, परमार्हन्त्यलिंगभागीभव, परनिर्वाणलिंगभागीभव।"

यज्ञोपवीत पहनने का मन्त्र– "ॐ नमः परमशांताय शान्तिकराय पवित्रीकृतार्हं रत्नत्रयस्वरूपं यज्ञोपवीतं दधामि मम गात्रं पवित्रं भवतु अर्हं नमः स्वाहा।"[80]

वैदिक– वैदिक परम्परा में उपनयन संस्कार विधि का निम्न स्वरूप उपलब्ध होता है। यहाँ उपनयन विधि प्राचीन स्वरूप की दृष्टि से कही जा रही है, वर्तमान में भी यह स्वरूप मौजूद है, परन्तु क्रियाकाण्डों में कुछ परिवर्तन अवश्य आए हैं।

पूर्वकाल में उपनयन संस्कार का रूप अत्यन्त साधारण था। उस समय वेदाध्ययन एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक क्रमबद्ध रूप में चलता था। पिता स्वयं ही गुरु का कार्य करता था अतः उनके लिए की जाने वाली औपचारिकताएँ स्वभावतः सीमित ही थीं। जब वैदिक काल का अन्त होने लगा तब उपनयन संस्कार दुरूह सा हो गया तथा कर्मकाण्ड के अनेक अंग विकसित हो गए। गृह्यसूत्र उपनयन संस्कार में विकसित स्वरूप के विधि-विधानों का विशद वर्णन करते हैं।[81] विकास क्रम में अनेक अवैदिक तथा लौकिक तत्त्व भी इसमें समाविष्ट हो गए।

प्रारम्भिक कृत्य– पूर्वकाल में उपनयन संस्कार का प्रारम्भ करने के लिए एक मण्डप का निर्माण किया जाता था।[82] संस्कार के एक दिन पूर्व अनेक पौराणिक विधि-विधान किए जाते थे। मंगल के देवता गणेश की आराधना तथा श्री, लक्ष्मी, मेधा, सरस्वती आदि देवियों का पूजन किया जाता था।[83] उपनयन के पूर्व रात्रि को बालक के शरीर पर हल्दी के द्रव का लेप किया जाता था और उसकी शिखा से एक चाँदी की अँगूठी बाँध दी जाती थी।[84] इसके पश्चात् उसे सम्पूर्ण रात्रि पूर्ण मौन रहकर व्यतीत करनी होती थी। यह एक रहस्यपूर्ण विधि थी, जो बालक को द्वितीय जन्म के लिए प्रस्तुत करती थी। यहाँ पीतवर्ण गर्भ के वातावरण का दृश्य उपस्थित करता तथा पूर्ण मौन अवाक् भ्रूण का सूचक था।

सहभोज– दूसरे दिन प्रातःकाल माता और पुत्र साथ-साथ भोजन करते।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह हिन्दू संस्कार में एक असाधारण विधि थी। डॉ. अल्तेकर के अनुसार यह बालक के उत्तरदायित्वविहीन जीवन के अन्त का सूचक था तथा बालक को यह स्मरण कराता था कि अब उसे दायित्वपूर्ण जीवन जीना है।[85] यह माता और पुत्र की विदाई का भोज भी हो सकता था, क्योंकि अध्ययन हेतु वह दीर्घकाल के लिए उससे पृथक् होने जा रहा था। इस अवसर पर माता का हृदय स्नेहासिक्त होना स्वाभाविक था और उसकी अभिव्यक्ति वह उसके साथ भोजन करके ही कर सकती थी।

स्नान– भोजन के पश्चात माता-पिता बालक को उस मण्डप में ले जाते थे, जहाँ आह्वान-योग्य अग्नि प्रदीप्त रहती थी, वहाँ बालक का मुण्डन होता था। उसके बाद बालक को स्नान करवाया जाता था। यह क्रिया प्रत्येक संस्कार के लिए अनिवार्य मानी गई, क्योंकि स्नान से संस्कार्य व्यक्ति के मन और देह-दोनों शुद्ध हो जाते हैं।

कौपीन– स्नान के अनन्तर गुह्यअंगों को ढ़कने के लिए कौपीन पहनाया जाता था। उसके बाद वह आचार्य के निकट जाता और ब्रह्मचारी होने की इच्छा व्यक्त करता था।[86] आचार्य उसकी प्रार्थना स्वीकार कर मन्त्र के साथ उत्तरीयवस्त्र देता था। वह मन्त्र निम्न है-'जिस प्रकार बृहस्पति ने इन्द्र को अमृतत्व का वस्त्र दिया, उसी प्रकार मैं दीर्घायुष्य, दीर्घ जीवन, शक्ति और ऐश्वर्य के लिए यह वस्त्र देता हूँ। यह सामान्य शिष्टाचार है कि धार्मिक-कृत्यों में शरीर का ऊपरी भाग वस्त्र से आवृत्त रहना चाहिए अत: भावी विद्यार्थी को उत्तरीय दिया जाता था। प्राचीन साहित्य से ज्ञात होता है कि मूलत: इस अवसर पर दिया जाने वाला उत्तरीय मृगचर्म होता था। मृगचर्म को आध्यात्मिक तथा बौद्धिक-सर्वोच्चता का प्रतीक माना है। इसके माध्यम से ब्रह्मचारी को अनवरत रूप से यह स्मरण कराया जाता था कि उसे आदर्श, चारित्रवान् व गम्भीर बनना है। कालक्रम में जब आर्य कृषक बनें, कातने एवं बुनने की कला अस्तित्व में आई, तो विद्यार्थी को कपास का वस्त्र दिया जाने लगा। गृह्यसूत्रों में विभिन्न वर्णों के लिए विभिन्न पदार्थों से निर्मित वस्त्रों का विधान किया गया है। ब्राह्मण का वस्त्र शण से निर्मित, क्षत्रिय का क्षौम, वैश्य का कुतप या कुश का होना चाहिए।[88] वैकल्पिक रूप से सभी वर्णों के लिए कपास का वस्त्र विहित था। सम्प्रति, सभी द्विजातियों को हरिद्रा में रंगे हुए कपास के सूती वस्त्र दिए जाते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मेखला– कौपीन के अनन्तर आचार्य बालक की कटि के चारों ओर मन्त्र के साथ मेखला बाँधता था। वह मन्त्र यह है-"पाप को दूर रखती हुई, शोधक की भाँति मनुष्यों को शुद्ध करती हुई, श्वास तथा प्रश्वास की शक्ति से स्वयं को आवृत्त करती हुई, भगिनी मेखला मेरे निकट आई है।[89]"

यह मेखला तिहरे सूत्र से बनाई जाती थी, वह इसका प्रतीक है कि ब्रह्मचारी सर्वदा तीन वेदों से आवृत्त रहे। उत्तरीय वस्त्र की भाँति मेखला भी भिन्न-भिन्न वर्णों के लिए भिन्न पदार्थों से निर्मित होती थी। कहा गया है कि ब्राह्मण की मेखला मूंज की, क्षत्रिय की धनुष की प्रत्यंचा की और वैश्य की ऊन की होनी चाहिए। यह मेखला समान, चिकनी और देखने में सुन्दर होनी चाहिए।

यज्ञोपवीत– मेखला धारण करने के पश्चात् ब्रह्मचारी को उपवीतसूत्र दिया जाता था, जो परवर्ती लेखकों के अनुसार उपनयन संस्कार का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है, जबकि प्राचीनतम काल में इसका प्रचलन नहीं था, यह गृह्यसूत्रों के अध्ययन से सर्वथा स्पष्ट हो जाता है। किसी भी गृह्यसूत्र में उपवीतसूत्र धारण करने का विधान नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि बालक को दिया जाने वाला उत्तरीय ही यज्ञोपवीत का पूर्व रूप होगा और उससे ही कालान्तर में उपवीतसूत्र का जन्म हुआ।[90]

धर्मशास्त्रों के नियमानुसार ब्राह्मण को कपास का, क्षत्रिय को सन का और वैश्य को भेड़ के ऊन का उपवीत धारण करना चाहिए तथा वैकल्पिक रूप से सभी वर्णों के लिए कपास का यज्ञोपवीत विहित है। सभी वर्णों के लिए भिन्न-भिन्न रंग का उपवीत भी कहा गया है। ब्राह्मण श्वेत, क्षत्रिय लाल और वैश्य पीला यज्ञोपवीत पहनते हैं। यज्ञोपवीत के सम्बन्ध में यह जानना भी आवश्यक है कि उपवीत को ब्राह्मण कुमारी कातती है, ब्राह्मण द्वारा उसमें गाँठ दी जाती है, ये गाँठें उपवीत धारण करने वाले व्यक्ति के पूर्वजों के प्रवरों की संख्या के अनुसार दी जाती हैं। इसकी लम्बाई एक मनुष्य की चार अंगुलियों की चौड़ाई की 96 गुनी होती है, जो उसकी ऊँचाई के बराबर होती है। चार अंगुलियाँ उन चार अवस्थाओं की प्रतिनिधि है, जिनका अनुभव मनुष्य समय-समय पर करता रहता है, वे हैं जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। उपवीत के तीन धागे भी प्रतीकात्मक हैं। वे सत्त्व, रजस् व तमस् का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिनसे सम्पूर्ण विश्व विकसित हुआ है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अजिन– यज्ञोपवीत की विधि के अनन्तर ब्रह्मचारी को अजिन दिया जाता था। अजिन शब्द का अर्थ मृग अथवा बकरे आदि पशुओं के चर्म से है। पहले-पहल अजिन का व्यवहार उत्तरीय के रूप में किया जाता था, किन्तु आगे चलकर इसका व्यवहार आसन के लिए होने लगा। विभिन्न वर्णों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के अजिन उल्लिखित हुए हैं।

दण्ड– आचार्य विद्यार्थी को एक दण्ड भी देता था। वह दण्ड यात्री का प्रतीक था तथा उसे स्वीकार करते समय ब्रह्मचारी यह प्रार्थना करता था कि वह अपना दीर्घजीवन एवं दुर्गम यात्रा सुरक्षित रूप से सम्पन्न कर सके।[91] एक लेखक के मतानुसार दण्ड प्रहरी का प्रतीक था। दण्ड प्रदान कर वेदों की रक्षा का कर्त्तव्य सौंपा जाता था। कतिपय आचार्यों के अनुसार दण्ड का प्रयोजन केवल मानवीय शत्रुओं से ही नहीं, भूत-प्रेतों तथा दुष्ट शक्तियों से भी विद्यार्थी की रक्षा करना था।[92] दण्ड का एक अन्य प्रयोजन विद्यार्थी को समिधा एकत्र करने या गुरु की गाय आदि चराने के लिए वन में जाते समय अथवा अन्धकार में यात्रा के समय आत्मनिर्भर बनाना भी था।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि कौपीन, मेखला और यज्ञोपवीत की भाँति ही दण्ड भी विद्यार्थी के वर्ण के आधार पर नियत था। ब्राह्मण का दंड पलाश का, क्षत्रिय का दंड उदुम्बर का और वैश्य का दंड विल्व का होता था।[93] दण्ड की लम्बाई भी विद्यार्थी के वर्ण के अनुसार नियत थी। ब्राह्मण का दण्ड उसके केशों को, क्षत्रिय का दण्ड ललाट को स्पर्श करता था तथा वैश्य का दण्ड उसकी नासिका जितना ऊँचा होता था।[94]

प्रतीकात्मक कृत्य– प्राचीनकाल में आचार्य द्वारा विद्यार्थी को अपने संरक्षण में लेने के कुछ प्रतीकात्मक कृत्य सम्पन्न किए जाते थे। जैसे-आचार्य अपनी बंधी हुई अंजलि में जल लेकर विद्यार्थी की बंधी हुई अंजलि में एक मन्त्र के साथ छोड़ता था। यह शुचित्व का प्रतीक था। इसके बाद मन्त्र के साथ सूर्य का दर्शन करवाया जाता था। यह शिष्य को अविचल रूप से कर्त्तव्य पालन की शिक्षा देता था।

इसी क्रम में आचार्य शिष्य के दाहिने कन्धे की ओर मुख कर कुछ बोलते हुए उसके हृदय का स्पर्श करता था। इसका प्रयोजन यह था कि आचार्य और शिष्य के बीच औपचारिक नहीं, अपितु यथार्थ व पवित्र सम्बन्ध है। शिक्षाभ्यास

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एवं शिक्षा-विकास के लिए इस तथ्य की अनुभूति होना परमावश्यक थी। उसके बाद विद्यार्थी को प्रस्तर-खण्ड पर आरूढ़ होने के लिए कहा जाता था। यह विद्यार्थी को स्वाध्याय में दृढ़ एवं स्थिर रहने की प्रेरणा प्रदान करता था, क्योंकि दृढ़-निश्चयता और चारित्र-बल ही विद्यार्थी जीवन के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

तदनन्तर आचार्य विद्यार्थी का दाहिना हाथ पकड़कर उसके शिक्षक का नाम आदि पूछता था, फिर उसके अध्यापन और रक्षा की जिम्मेदारी स्वीकार करता था। इसके साथ ही उससे अग्नि की एक प्रदक्षिणा और उसमें आहुति दिलवाई जाती थी।[95] विद्याध्ययन के प्रारम्भ में विद्यार्थी को सावित्री मन्त्र का उपदेश दिया जाता था।[96] यह सावित्री मन्त्र का उपदेश बालक के द्वितीय जन्म का सूचक था, क्योंकि आचार्य बालक के लिए पितृस्थानीय और सावित्री मातृस्थानीय मानी जाती थी।

गायत्री मन्त्र के उपदेश के पश्चात यज्ञीय-अग्नि को प्रथम बार प्रदीप्त करने तथा उसमें आहुति डालने का कृत्य किया जाता था।[97] इस अवसर पर उच्चारित मन्त्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थे। इसके पश्चात वह विद्यार्थी भिक्षा मांगकर अपना निर्वाह करता था। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि वैदिक परम्परा में यह संस्कार विविध विधि-विधानों एवं महत्त्वपूर्ण अनुष्ठानों के साथ सम्पन्न किया जाता था। आधुनिककाल में उपनयन के शैक्षणिक प्रयोजन के अभाव में शैक्षणिक महत्त्व के विधि-विधान भी प्रायः लुप्त से हो रहे हैं। इस प्रकार हम पाते हैं कि यह विधि श्वेताम्बर, दिगम्बर एवं वैदिक-तीनों परम्पराओं में विस्तृत रूप से प्राप्त होती है।

उपनयन संस्कार सम्बन्धी विधि-विधानों के सारभूत प्रयोजन

बालक जब ज्ञान प्राप्ति या विद्याध्ययन के क्षेत्र में प्रथम कदम रखता है, तो वह उपनीत कहलाता है। उपनयन संस्कार के द्वारा बालक को विद्याध्ययन के लिए आचार्य के पास भेजा जाता है। उस समय आचार्य(गुरु) विविध क्रियाकलापों द्वारा विद्यार्थी के जीवन को अनुशासित करता है, तन-मन एवं बुद्धि को पवित्र भावों से संस्कारित करता है। इस संस्कार की प्रत्येक क्रिया किसी न किसी उद्देश्य से की जाती है। उपनयन संबंधी क्रियाकलापों के कुछ प्रयोजन इस प्रकार हैं-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मेखला और कौपीन धारण क्यों? मेखला और कौपीन धारण करने का प्रयोजन ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए प्रत्येक कार्य में जागरूक, निरालस एवं कर्त्तव्य-पालन में कटिबद्ध रहने की प्रेरणा देना है। यह शरीर शास्त्र का नियम है कि लड़कियों की शारीरिक-अभिवृद्धि बीस वर्ष की आयु तक और लड़कों की पच्चीस वर्ष तक होती है। यह समय दोनों के लिए सजगता पूर्वक शक्ति के सरंक्षण का है, ताकि उनका उपयोग शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य की नींव पक्की करने में हो सके। यह अवधि विद्या पढ़ने एवं जीवन निर्माण करने की है। जो इस उम्र का मूल्य नही समझते हैं, वे एक प्रकार से आत्महत्या ही करते हैं। कौपीन पहनाकर व्रत धारण करवाया जाता है तथा ब्रह्मचर्य के महत्त्व को समझने की प्रेरणा दी जाती है। कमर में मेखला बांधने का प्रयोजन वही है, जो पुलिस, फौज एवं सैनिक कमर में पट्टा बाँधकर पूरा करते हैं। कमर बाँधना जागरूकता एवं सतर्कता का चिह्न है। आलसी और लापरवाह व्यक्ति अपनी ही क्षति करते हैं। यदि जागरूक चोर और लापरवाह चौकीदार में तुलना की जाए, तो लापरवाह चौकीदार अधिक हेय माना जा सकता है, क्योंकि चोर अपना काम भी बना लेता है और जागरूकता के कारण जहाँ रहता है वहाँ अपना नुकसान भी नहीं होने देता। इसके विपरीत लापरवाह चौकीदार न अपना काम बना पाता है, न दूसरों का अत: आलस्य चाहे शारीरिक हो, चाहे मानसिक, उसे साक्षात् दुर्भाग्य ही कहना चाहिए।

इस बुरी आदत से सर्वथा बचा जाए, इसके लिए मेखला पहनाते हुए यज्ञोपवीतधारी को यह प्रेरणा दी जाती है कि वह इस कार्य क्षेत्र में सदा अपने कर्तव्यपालन के लिए फौजी या सैनिक की तरह कटिबद्ध रहे तथा जागरूकता और सतर्कता को, स्फूर्ति और आशा को, साहस और धैर्य को, अपना सच्चा सहचर समझे।

दण्डधारण के मुख्य उद्देश्य– यज्ञोपवीत धारण करने वाले को कौपीन और मेखला के उपरान्त दण्ड दिया जाता है। यह लाठी कई प्रयोजनों को लेकर दी जाती है। इस लाठी के माध्यम से दैनिक उपयोग में कुत्ते आदि से रक्षा, पानी की थाह लेना, अपनी शक्ति एवं साहसिकता का प्रदर्शन आदि कई लाभ होते हैं। शस्त्र-सज्जा में लाठी अधिक विश्वस्त और सर्व सुलभ है। उसे साथ रखने से साहस बढ़ता है। लाठी चलाना एक बहुत ही उच्च-स्तर का व्यायाम है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उससे देह-बल के साथ मनोबल भी बढ़ता है। हर धर्मप्रेमी को अनीति का प्रबल विरोध करने के लिए सदा तत्पर रहना चाहिए, लाठी इसी तत्परता का एक प्रतीक है।

लाठी आमतौर से बाँस की होती है। बाँस की अनेक गाँठें मिलकर पूरा दण्ड बनता है। इसका प्रयोजन यह है कि अनेक व्यक्तियों के मिल-जुलकर रहने से विपुल शक्ति का निर्माण होता है। संघ शक्ति ही इस युग में सर्वोपरि है। उसी के द्वारा धर्म रक्षा एवं अधर्म का प्रतिकार संभव है।

दण्ड, सत्ता एवं उत्तरदायित्व का भी प्रतीक है। शासनाध्यक्ष के हाथ में एक 'दण्ड' अभिषेक एवं शपथ ग्रहण करते समय सौंपा जाता है। यह राजसत्ता हाथ में लेने का प्रतीक है। पुलिस तथा फौज के वरिष्ठ अफसरों के हाथ में भी एक छोटा सा दण्ड रहता है, यह राजसत्ता को सम्भाले रहने की भावना का प्रतीक है। कितने ही संन्यासी हाथ में धर्म दण्ड रखते हैं। इसका अर्थ है कि वे धर्म रक्षा का उत्तरदायित्व अपने हाथ एवं कन्धों पर लिए हुए हैं। यज्ञोपवीतधारी के हाथ में भी यह दण्ड इस आशा के साथ सौंपा जाता है कि वह आजीवन यह उत्तरदायित्व अनुभव करें कि उसे व्यक्तिगत जीवन में ही धर्मात्मा नहीं रहना है, वरन् समाज में संसार में जो अधर्म हो रहा है, उसका प्रतिकार करने के लिए भी यथाशक्ति प्रयत्नशील रहना है।

सूर्य दर्शन की परम्परा क्यों? वैदिक परम्परा में विद्यार्थी को सूर्य दर्शन करवाना आवश्यक कृत्य माना गया है। सूर्य दर्शन करते-करवाते हुए सूर्य के समान तेजस्वी बनना, गतिशील रहना, लोक कल्याण के लिए जीवन समर्पित करना, स्वयं प्रकाशित होना, अपने प्रकाश से दूसरों को प्रकाशित करना अन्धकार रूपी अज्ञान को दूर करना, जैसी अनेक प्रेरणाएँ ग्रहण की जाती हैं।

सूर्य उदय होते हुए लाल और अस्त होते हुए भी लाल रहता है, उसी प्रकार विद्यार्थी को यह प्रेरणा प्राप्त करनी है कि वह उदय और अस्त में, लाभ और हानि में संतुलित, धैर्य युक्त एवं एक सा रहे। धूप-छाँव की तरह जीवन में आने वाली प्रिय-अप्रिय परिस्थितियों का शान्तचित्त से सामना करे। सूर्य किरणों की गर्मी निर्जीव प्रकृति को सजीव बनाती है, वनस्पति जगत् में प्राणों का संचार करती है, अतः बालक द्वारा सूर्य के दर्शन करते हुए इन आदर्शों पर चलने की संकल्पना की जानी चाहिए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भिक्षाटन की उपयोगिता– उपनयन संस्कार के उपरान्त भिक्षा माँगने की क्रिया की जाती है। यज्ञोपवीतधारी माता-पिता आदि परिजनों अथवा उपस्थित सम्बन्धियों से भिक्षा मांगता है। वे लोग कुछ धन, अन्न आदि देते हैं। वह सब गुरु के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है।

निरपेक्ष दृष्टि से चिन्तन करें तो व्यक्तिगत लाभ के लिए केवल अन्धे, अपाहिज, असहाय एवं असमर्थों को ही भिक्षा लेने का अधिकार है, बाकी समर्थ और स्वस्थ व्यक्ति के लिए भीख माँगना अत्यन्त लज्जा की बात है, परन्तु यज्ञोपवीत-संस्कार के समय प्रत्येक शिष्य को भिक्षा मांगनी होती है, इस विषय में किसी को भ्रम पालने की आवश्यकता नहीं है। यह भिक्षा अपने लिए या स्वार्थ के लिए नहीं, वरन् गुण एवं परमार्थ-प्रयोजन के उद्देश्य से माँगी जाती है। यह धर्म कर्त्तव्य है।

सार्वजनिक धर्मकार्यों की पूर्ति एक व्यक्ति नहीं कर सकता, फिर कोई कर भी दें, तो उससे जनसम्पर्क का उद्देश्य पूरा नहीं होता, इसलिए धर्मकार्यों में जन-रूचि जगाने के लिए प्रत्येक का सहयोग आवश्यक होता है। यह सहयोग श्रम एवं धन के रूप में एकत्रित करना होता है अत: यज्ञोपवीत के समय भिक्षा मांगना परमार्थकारी है। इस विधि को एक अभिनय के रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

प्राचीनकाल में बालकों की शिक्षा का भार उनके अभिभावकों पर ही नहीं पड़ता था, वरन् सारा समाज उसे मिल-जुलकर वहन करता था। आज वह उपयोगी परम्परा नष्ट हो गई है, फिर भी उसकी उपयोगिता का स्मरण कराने के लिए यह भिक्षाटन किसी अपेक्षा से उपादेय ही है।

जिनोपवीत धारण के मार्मिक रहस्य– उपनयन संस्कार को जिनोपवीत एवं यज्ञोपवीत संस्कार भी कहा जाता है। जिनोपवीत एक विशेष धागे से बना हुआ होता है, जिसे व्यावहारिक भाषा में जनेऊ कहा जाता है। इस संस्कार द्वारा वटुक का जनेऊ से धार्य धारक भाव होना एक अनिवार्य शर्त है। आखिर यज्ञोपवीत धारणा के पीछे क्या रहस्य है ? यह उल्लेखनीय विषय है। हाल ही में इटली में एक वैज्ञानिक शोध सम्पन्न हुआ है, जिसमें यज्ञोपवीत के महत्त्व के बारे में व्यापक छान-बीन की गई है, जिसका निष्कर्ष है कि जनेऊ धारण करने वाले व्यक्ति, शरीर के स्वाभाविक शौच आदि कर्म करने के समय अपने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कान को जनेऊ द्वारा मजबूती से बाँधते हैं, जिसका प्रभाव सीधा हृदयरोग पर पड़ता है। कान के आस-पास एक पतलीसी इस तरह की नस होती है, जिसे यदि जनेऊ से बांधा जाए तो उस पर दबाव पड़ने से हृदय प्रदेश के अवयव प्रभावित होते हैं तथा इस रोग की सम्भावना कम हो जाती है। यज्ञोपवीत धारण एवं उसके द्वारा कर्ण बंधन से मस्तिष्क सम्बन्धी रोग का भी निराकरण होता है। शक्ति क्षय की बीमारी में भी इसका अचिन्त्य उपयोगी प्रभाव देखा जाता है। हमारी नियमित दिनचर्या में हमें जाने-अनजाने अनेक प्रकार के कीटाणुओं तथा प्रदूषणों का शिकार होना पड़ता है। यज्ञोपवीत धारण करने से उनसे भी रक्षा संभव है।

यदि स्थूल रूप से विचार किया जाए, तो भी इसका महत्त्व बहुत अधिक प्रतीत होता है। मान लिया जाए कि किसी आदमी को किसी निर्जन स्थान में साँप ने डस लिया और चिकित्सालय वहाँ से मीलों दूर है तो वह आदमी अपने शरीर के उपवीत को निकालकर उस स्थान से कुछ ऊपर बाँध सकता है तथा किसी वस्तु से काटकर उस स्थान के जहरीले रूधिर को दूर कर अपनी जान बचा सकता है। इस तरह अन्य भी कईं कारण ढूंढे और अनुभव किए जा सकते हैं।

यदि हम सामान्य दृष्टि से देखें तो यज्ञोपवीत तीन बटे हुए धागों की पतली डोरी के समान ही जान पड़ता है, पर इस देश के प्राचीन मनीषियों ने इन तीन लड़ों में गहरा तत्त्वज्ञान भर दिया है। हिन्दू-शास्त्रों के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति पर तीन ऋण रहते हैं - 1. देव ऋण 2. ऋषि ऋण और 3. पितृ ऋण।

श्रीराम शर्मा आचार्य लिखते हैं– जिन महापुरुषों ने मनुष्य जीवन को प्रकाशित किया है, ऐसे आदर्शवादी महामानवों ने यदि अपना सर्वस्व खोकर हमारे सामने सद्मार्ग और सदाचरण का आदर्श न रखा होता तो आज हम धार्मिक क्षेत्र के योग्य स्थान पर नहीं होते, अतएव ऐसे महामानवों के उपदेशों का यथाशक्ति पालन करते हुए शुभ कर्मों में अपनी शक्ति लगाना, यही देव ऋण से उऋण होना है।[98]

ऋषि(गुरु) की विशेषता यह है कि वे संसार में श्रेष्ठ विचारधारा का निर्माण और प्रचार करते हैं। वे जानते हैं कि जब तक मनुष्यों की मनोभूमियों को अच्छी तरह परिष्कृत करके, जोत करके तैयार न किया जाएगा, तब तक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उसमें श्रेष्ठ विचारों के बीज जम नहीं सकते, अत: ऋषि ऋण के उऋण होने का मार्ग यही है कि हम स्वाध्याय, सत्संग और मनन द्वारा अपनी मनोभूमि को उत्कृष्ट बनाएं और अन्यों को भी उस मार्ग में जोड़ें।

पितृ का अर्थ है पूर्वज। जिन लोगों ने हमें जन्म देकर योग्य बनाया है, उनके प्रति हमारा कर्त्तव्य प्रत्यक्ष ही बनता है। यह इतिहास बताता है कि किसी समय भारतवासियों का गौरव समस्त जगत में व्याप्त था और वे 'जगत्‌गुरु' की पदवी से अलंकृत किए गए थे। उनके ऋण को चुकाने का तरीका यही है कि हम भी ऐसे काम करें, जिससे उनका गौरव उत्तरोत्तर बढ़े।

इस प्रकार देव ऋण, ऋषि ऋण और पितृ ऋण को चुकाने एवं मानव जन्म को सार्थक करने का सही सन्देश यज्ञोपवीत के माध्यम से प्राप्त होता है। उस सन्देश की प्रेरणा यही है कि जब तक अपने कर्त्तव्य का उचित रूप से पालन करते हुए, अपनी शक्तियों को सेवा परोपकार में लगाओगे नहीं तथा तीनों ऋणों को चुकाओगे नहीं, तब तक एक प्रकार का बन्धन घिरा रहेगा। इस प्रकार यज्ञोपवीत सदैव हमारे कन्धे पर रहकर हमको महत्त्वपूर्ण उपदेश और शिक्षाएँ प्रदान करता रहता है।

शिखा धारण का मुख्य ध्येय– उपनयन-संस्कार में शिशु के बाल प्रथम बार उस्तरे से काटे जाते हैं और सिर के पिछले हिस्से के ऊपरी भाग में कुछ बालों का समूह छोड़ दिया जाता है, जिसे शिखा, चूड़ा, शिरा आदि कहते हैं।

जहाँ शिखा रखी जाती है, वह स्थल ज्ञान केन्द्र का माना गया है। वहाँ शिखा रखने का तात्पर्य यह है कि बालों का एक समूह हमेशा शीतलता प्रदान करता रहे और उसके फलस्वरूप ज्ञान केन्द्र की क्रियाशीलता में वृद्धि होती रहे।[99]

इस प्रकार यज्ञोपवीत संस्कार द्वारा शारीरिक, मानसिक एवं मस्तिष्क के क्रिया-कलापों पर प्रभावकारी प्रतिक्रिया तो होती ही है। साथ ही एक सुन्दर एवं स्वस्थ वातावरण में व्यक्तित्व का निर्माण भी किया जाता है।

यज्ञोपवीत का परिमाण 96 चौआ ही क्यों? यज्ञोपवीत निर्माण के सम्बन्ध में पहला प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यज्ञोपवीत का परिमाण 96 अंगुल ही क्यों निर्धारित किया गया? दूसरा प्रश्न यह है कि प्रत्येक वर्ण में हर व्यक्ति एक ही कद और काठी का नहीं होता है, कोई ऊंचे कद का होता है,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तो कोई नाटा, कुछ स्थूल शरीर वाले होते हैं, तो कुछ दुबले-पतले अतः सभी व्यक्तियों के लिए समान परिमाण के उपवीत धारण करने का नियम क्यों बनाया गया?

पं. शिवदत्त वाजपेयी ने इसका समाधान करते हुए निम्न हेतु ये बतलाए हैं[100]–

1. **यज्ञोपवीत कटि तक ही रहें–** भारतीय मनीषियों ने शास्त्रीय आधार पर यह परिमाण निर्धारित किया है। शास्त्रोक्त प्रमाण से यज्ञोपवीत धारण करने पर वह पुरुष के बाएं कन्धे के ऊपर से आता हुआ नाभि को स्पर्श कर कटि तक ही पहुँचता है। जनेऊ इससे न तो ऊपर रहना चाहिए और न ही नीचे। यज्ञोपवीत अत्यन्त छोटा होने पर आयु का तथा अधिक बड़ा होने पर तप का विनाशक होता है, अधिक मोटा रहने पर यश नाशक और पतला होने पर धन नाशक होता है। इस निर्णय को सामुद्रिक शास्त्र ने उचित ठहराया है। उसके अनुसार मनुष्य का कद और स्वास्थ्य कैसा भी हो, मानव शरीर का आयाम 84 अंगुल से 108 अंगुल तक होता है। इसका मध्यमान 96 अंगुल ही होता है अतः इस परिमाण वाला यज्ञोपवीत हर स्थिति में कटि तक ही रहेगा।

2. **गायत्री मन्त्र के 24 अक्षरों के आधार पर–** गायत्री मन्त्र में चौबीस अक्षर होते हैं। चारों वेदों में निहित गायत्री छन्द के सम्पूर्ण अक्षरों को मिला दें, तो 24 × 4 * 96 अक्षर होते हैं। इसी के आधार पर द्विज बालक को गायत्री और वेद-दोनों का अधिकार प्राप्त होता है, इसलिए 96 अंगुल वाले यज्ञोपवीत को ही धारण करने का विधान किया गया है।

3. **वैदिक मन्त्रों की संख्या के आधार पर–** 'लक्षं तु चतुरोवेदा लक्षमेकं तु भारतम्' इस वचन के अनुसार वैदिक-ऋचाओं की संख्या एक लाख है। वेदभाष्य में पतंजलि ने भी इसकी पुष्टि की है। इस लक्ष मन्त्रों में 80,000 कर्मकाण्ड सम्बन्धी और 16,000 उपासनाकाण्ड सम्बन्धी ऋचाएँ है। चूंकि उपनीत को कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्ड का विवेचन करने का अधिकार प्राप्त होता है, अतः 96,000 ऋचाओं के अधिकार के आधार पर उपवीत का परिमाण 96 चौआ निर्धारित किया गया है।

4. **तिथि, वार, गुण आदि के आधार पर–** यह मानव जीवन तत्त्व, गुण, तिथि, वार, नक्षत्र, काल, मास आदि विविध भागों से निरन्तर सम्पर्क में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रहने के कारण उनसे प्रभावित होता रहता है। इन सभी पदार्थों की संख्या का समन्वित योग किया जाए, तो यह भी 96 ही होता है। जैसे– तिथि-15, वार-7, नक्षत्र-27, तत्त्व-25, वेद-4, गुण-3, काल-3 और मास-12 ऐसे कुल योग 96 आता है।

यज्ञोपवीत में तीन सूत्र और त्रिवृत् क्यों ? जैन धर्म में तीन की संख्या दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप रत्नत्रय की प्रतीक हैं। हिन्दू धर्म में आध्यात्मिक, आधि दैविक एवं आधि भौतिक शक्तियों का प्रतीक है। ऋक्, यजुः और साम-तीन प्रमुख वेद हैं। ब्रह्मा, विष्णु और महेश-त्रिदेव हैं। भूत, वर्तमान और भविष्य-तीन काल है। सत्त्व, रज और तम-तीन गुण हैं। ग्रीष्म, वर्षा और शीत-तीन ऋतुएँ हैं। पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक-त्रिलोक हैं। इसी त्रिगुणात्मक भाव को आधार बनाकर यज्ञोपवीत का त्रिगुणात्मक तन्तुओं से निर्माण और त्रिवृत्करण किया गया है।

तीन सूत्रों में मानवत्व, देवत्व और गुरुत्व-भाव निहित हैं। इन्हीं की प्रेरणा, मार्गदर्शन और शिक्षा से व्यक्ति मृत्युलोक से द्युलोक की ओर गमन करने के लिए उपासना, ध्यान और सत्कर्म का भाव अपनाता है। यही व्यक्ति के निर्वाण के मार्ग को प्रशस्त करता है। इसी भावना से उपवीत के तीन तारों का निर्माण किया जाता है।[101]

यज्ञोपवीत का ग्रन्थि बंधन क्यों ? यज्ञोपवीत बनाते समय नौ तन्तुओं को त्रिगुणात्मक कर, फिर तीन सूत्र में परिवर्तित कर, उसका त्रिवृत्करण करके उसके मूल भाग को जोड़ने के लिए गांठ लगाई जाती है। हिन्दू धर्म में इस गांठ को 'ब्रह्म ग्रन्थि' की संज्ञा दी गई है। इस ब्रह्म ग्रन्थि के लगने पर ही यज्ञोपवीत धारण करने योग्य बनता है।

डॉ. शिवदत्त के अनुसार ब्रह्म ग्रन्थि को लगाने का अभिप्राय यह है कि मनुष्य प्रतिक्षण ध्यान में रखें कि यह समस्त विश्व ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है। यदि मनुष्य ब्रह्म को भुलाकर माया जाल में फंस जाता है, तो वह अपने ही पतन का कारण बन सकता है।[102] उसे प्रचलित लोकोक्ति 'गांठ बांध लेना' को ध्यान में रखते हुए एक गांठ बांध लेना चाहिए, क्योंकि मनुष्य का चरम लक्ष्य ब्रह्म प्राप्ति ही है और इसे प्राप्त करने के लिए उसे श्रेय मार्ग पर चलते रहना होगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यज्ञोपवीत के धारण का उद्देश्य और लक्ष्य भी यही रहा है अत: इसके मूल में प्रणव मन्त्र के साथ लगाई जाने वाली ग्रन्थि उसे प्रणव के अ+उ+म्-इन तीन वर्णों; सत्त्व, रज, तम-इन तीन गुणों; ब्रह्मा, विष्णु, महेश-त्रिविध शक्तियों के सामीप्य का ध्यान दिलाती रहती है इसीलिए इसे ब्रह्म ग्रन्थि कहा गया है। अपने-अपने कुल, गोत्र आदि के भेद से ब्रह्म ग्रन्थि के ऊपर 1, 3 या 5 गांठ लगाए जाने का भी विधान है। ये ग्रन्थियाँ मनुष्य को अपनी कुल-परम्परा से चली आ रही शास्त्र मर्यादाओं का स्मरण कराती है तथा पूर्वजों के पद चिह्नों पर चलने की प्रेरणा देती है।

उपनयन की अनिवार्यता

जब हम उपनयन संस्कार के क्रियाकलापों से परिचित होते हैं तो इसकी अनिवार्यता के कई कारण नजर आते हैं। सर्वप्रथम इसकी पृष्ठभूमि में सांस्कृतिक कारण हैं। किसी भी प्रगतिशील समाज के लिए शिक्षा आवश्यक है। इसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन का कुछ काल गुरुकुल या किसी शिक्षा संस्था में व्यतीत करने के लिए तत्पर बनता है। इसके द्वारा साहित्य, विद्या और ज्ञान के कोश का संरक्षण एवं वृद्धि होती है अत: अपनी संस्कृति एवं पवित्र साहित्य की सुरक्षा के लिये उपनयन संस्कार अनिवार्य प्रतीत होता है। उपनयन संस्कार की एक अन्य कारण पवित्रता है। उपनयन में भावी जीवन को पवित्र करने की शक्ति है, इसलिए उससे स्वयं को अवश्य अभिषिक्त करना चाहिए।

इस संस्कार की अनिवार्यता इस दृष्टि से भी ज्ञात होती है कि उपनयन से व्यक्ति द्विज अर्थात संस्कारित बनता है। इससे उपनीत व्यक्ति की समाज में उच्च स्थान गौरव एवं सम्मान प्राप्त होता है। जिस व्यक्ति का उपनयन न हुआ हो, वह समाज से बहिष्कृत तथा अपने सभी प्रकार के विशेषाधिकारों से वंचित हो जाता है। उपनयन संस्कार एक प्रकार से अपने-अपने धर्म या वर्ण का प्रवेश-पत्र है। समाज में प्रविष्ट होने का इसे एक साधन माना गया है, क्योंकि हिन्दुओं की मान्यतानुसार उपनीत हुए बिना कोई व्यक्ति आर्य कन्या से विवाह नहीं कर सकता है। इस प्रकार हिन्दुओं की आदर्श सामाजिक योजना में उपनयन संस्कार को शिक्षा एवं सामाजिक जीवन का अनिवार्य अंग माना गया है इसे सामाजिक व्यवस्था में प्रवेश करने का License कह सकते हैं।

उपनयन की अनिवार्यता के सम्बन्ध में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इसके द्वारा दीक्षित व्यक्ति की गणना द्विजों में होती है, जो एक पवित्र,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वच्छ एवं सार्थक जीवन के प्रतीक के रूप में पूजे जाते हैं।

उपनयन संस्कार विधि का तुलनात्मक अध्ययन

यदि हम पूर्व विवेचन के आधार पर उपनयन संस्कार विधि एवं इसके महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं का तुलनात्मक दृष्टि से विचार करें, तो निश्चित रूप से इस संस्कार का पूर्वोत्तरकालीन एवं पारम्परिक स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

नाम की अपेक्षा– श्वेताम्बर एवं वैदिक-दोनों परम्पराओं में इस संस्कार के नाम को लेकर पूर्ण समानता है, किन्तु दिगम्बर परम्परा इस विषय में किंचिद् मतभेद रखती है। अर्थ की दृष्टि से देखें तो तीनों एक रूप ही हैं। श्वेताम्बर एवं वैदिक परम्परा में इस संस्कार का नाम 'उपनयन' है, जबकि दिगम्बर ग्रन्थों में इसका नाम 'उपनीति' रखा गया है।

क्रम की अपेक्षा– यदि हम क्रम की अपेक्षा से तुलना करें, तो उक्त तीनों परम्पराएँ भिन्न-भिन्न मालूम होती हैं। श्वेताम्बर परम्परा में उपनयन संस्कार का बारहवाँ स्थान है, दिगम्बर में यह चौदहवाँ संस्कार माना गया है तथा वैदिक परम्परा में इसका क्रम ग्यारहवाँ है।

अधिकारी की अपेक्षा– श्वेताम्बर मतानुसार जैन ब्राह्मण या क्षुल्लक, दिगम्बर की मान्यतानुसार आचार्य या पिता तथा वैदिक मतानुसार मूलतः पिता एवं आचार्य को इस संस्कार का कर्त्ता कहा गया है।

दिन की अपेक्षा– यह संस्कार किस उम्र में किया जाना चाहिए? इस विषय को लेकर तीनों धाराओं में प्रायः समानता है। श्वेताम्बर एवं वैदिक ग्रन्थों में वर्णीय भिन्नता के आधार पर क्रमशः आठवाँ, ग्यारहवाँ और बारहवाँ वर्ष तथा दिगम्बर परम्परा ने सभी के लिए आठवाँ वर्ष इस संस्कार के योग्य माना है।

विधि की अपेक्षा– उपनयन संस्कार से सम्बन्धित कुछ क्रियाएँ तीनों आम्नायों में समान रूप से की जाती हैं। जैसे–कटिभाग पर कंदोरा बांधना, कौपीन (लंगोटी) पहनना, मस्तक मुण्डाना या चोटी रखना, यज्ञोपवीत धारण करना, दण्ड रखना, वल्कल ग्रहण करना, इष्ट देवों का स्मरण एवं उनका पूजन करना इत्यादि। इस संस्कार के समय सम्पन्न किए जाने वाले कुछ विधि-विधान इस प्रकार के हैं, जो पारस्परिक असमानता को सूचित करते हैं। जैसे–श्वेताम्बर के अनुसार एक वेदिका का निर्माण किया जाता है। उस पर चतुर्मुखी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रतिमा स्थापित कर प्राय: सभी प्रकार के कृत्य गृहस्थ गुरु के निर्देशानुसार स्थापित जिनबिंब के समक्ष ही सम्पन्न किए जाते हैं, जबकि दिगम्बर परम्परा में यह संस्कार विधि जिनालय में सम्पादित की जाती है, वहाँ वेदिका जैसी कोई क्रिया नहीं होती। वैदिक मत में इस संस्कार को प्रारम्भ करने के लिए एक मण्डप का निर्माण किया जाता है तथा प्राय: सभी कृत्य उसी मण्डप में निष्पन्न होते हैं।

- श्वेताम्बर परम्परावर्ती ग्रन्थों में चारों वर्णों के लिए व्रत बन्धन एवं व्रतादेश की पृथक-पृथक विधियाँ कही गईं हैं, जबकि दिगम्बर ग्रन्थों में यह विधि सभी वर्णों के लिए समान रूप से निर्दिष्ट है। वैदिक ग्रन्थों में व्रत बन्धन के अन्तर्गत किए जाने वाले कृत्य-कौपीन, मेखला, यज्ञोपवीत आदि का उल्लेख वर्ण के आधार पर किया गया है, जबकि व्रतादेश की पृथक् रूप से कोई चर्चा ही नहीं हुई है।

- श्वेताम्बर मान्य आचारदिनकर में व्रत दान से सम्बन्धित गोदान विधि, वटुकरण विधि, शूद्र को उत्तरीय वस्त्र प्रदान करने की विधि आदि की अलग से चर्चा की गई है, परन्तु दिगम्बर एवं वैदिक साहित्य में इनका कोई वर्णन नहीं है।

- इस संस्कार सम्बन्धी क्रियाकाण्डों में सबसे अधिक विषमता इस बात को लेकर है कि कौपीन, मेखला, यज्ञोपवीत, दण्ड, वल्कल आदि साधन किस वस्तु से निर्मित होने चाहिए? इनका परिमाण कितना होना चाहिए? इन्हें कितने समय तक के लिए धारण करना चाहिए? ये किन संकेतों के प्रतीक हैं? इत्यादि विवेचनाएँ तीनों परम्पराओं में भिन्न- भिन्न रूप से कही गई है।

मन्त्र की अपेक्षा– श्वेताम्बर, दिगम्बर एवं वैदिक इन तीनों परम्पराओं में इस संस्कार से सम्बन्धित अनेक मन्त्रों का निर्देश हैं। उन मन्त्र पाठों को लेकर तीनों परम्पराओं मे सर्वथा भिन्नता है। दूसरा अन्तर यह है कि श्वेताम्बर और वैदिक दोनों परम्पराओं में मन्त्रोच्चार का उल्लेख इस संस्कार की प्राय: प्रत्येक क्रिया में हुआ है, जबकि दिगम्बर ग्रन्थ में केवल दो मन्त्रों का ही निर्देश प्राप्त है- 1. यज्ञोपवीत पहनने का मन्त्र 2. बालक को संस्कारित कर आशीर्वाद देने का मन्त्र। श्वेताम्बर ग्रन्थों में निम्न मंत्र पाठों का उल्लेख है– 1. वेदी प्रतिष्ठा मन्त्र 2. उपनयन संस्कार आरम्भ करने का मन्त्र 3. जलाभिमन्त्रण मन्त्र

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

4. मेखला, कौपीन, जिनोपवीत के मन्त्र 5. मेखला धारण मन्त्र 6. कौपीन धारण मन्त्र 7. जिनोपवीत धारण मन्त्र 8. पलाश काष्ठ के दंड ग्रहण का मन्त्र 9. मुद्रिका धारण मन्त्र आदि।

वैदिक ग्रन्थों में इस संस्कार से सम्बन्धित निम्न मन्त्रों का उल्लेख है– 1. बालक को उत्तरीय-वस्त्र प्रदान करने का मन्त्र 2. मेखला बन्धन मन्त्र 3. सावित्री मन्त्र 4. जल से अभिसिंचित करने का मन्त्र 5. यज्ञोपवीत नापने का मन्त्र 6. उपवीत को पवित्र करने का मन्त्र 7. यज्ञोपवीत को तिहरा मोड़ने का मन्त्र 8. उपवीत पर गाँठ लगाने का मन्त्र 9. उपवीत धारण करने का मन्त्र 10. उपवीत उतारने का मन्त्र आदि।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि श्वेताम्बर, दिगम्बर एवं वैदिक इन तीनों धाराओं में उपनयन संस्कार का अस्तित्व पुरातनकाल से रहा हुआ है। साथ ही एक परम्परा दूसरी परम्परा से प्रभावित भी रही है। यही कारण है कि अधिकतर विधि-विधान समानता को लिए हुए हैं।

उपसंहार

उपनयन संस्कार विद्यार्थी जीवन के आरम्भ में सम्पन्न होने वाला एक महत्त्वपूर्ण संस्कार है। इस संस्कार को सम्यक् विधिपूर्वक एवं श्रद्धा-निष्ठा के साथ सम्पन्न किया जाए, तो निश्चित ही इसके सुपरिणाम होते हैं। इस संस्कार के माध्यम से बालक के जीवन का एक नया अध्याय प्रारम्भ होता है। वह एक कठोर अनुशासनात्मक जीवन में प्रवेश करता है। यह संस्कार इस तथ्य का प्रतीक भी है कि बालक विद्यार्थी के रूप में ज्ञानार्जन के पथ का पथिक बना है और उसे अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अपने निश्चय में दृढ़ रहना है।

उस बालक के समक्ष यज्ञोपवीत, कौपीन, मेखला धारण या सूर्य दर्शन आदि के जो भी प्रतीक प्रस्तुत किए जाते हैं, वे उसकी भावी जीवन-यात्रा के लिए सर्वाधिक महत्त्व रखते हैं। केवल धागे पहनना शरीर की पवित्रता को ही नहीं बढ़ाता है, बल्कि उस प्रतीक के प्रति सजग होकर यज्ञोपवीतधारी शरीर से, मन से और बुद्धि से पवित्र रहता है। वह आर्यत्व के नियमों का पालन करता है। मन, वचन और कर्म को अपवित्रता से बचाए रखता है और सत्यता के मार्ग पर बढ़ता चला जाता है।

इस तरह इस संस्कार का प्रत्येक चरण विविध विशेषताओं से भरपूर है। इस संस्कार द्वारा बालक न केवल विद्या या बुद्धि के क्षेत्र में ही विकास करता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है अपितु संयम, सदाचार, सरलता, सभ्यता, शालीनता आदि गुणों को भी अपनाता है। आचार्य की संग-सन्निधि एवं समान वयस्क साथियों के रहने के कारण विनय, विवेक, भाईचारा, कुटुम्ब भावना आदि गुण स्वतः प्रकट होते हैं। एक दीर्घावधि तक कठोर अनुशासन एवं पारिवारिक-ममत्व भावों से दूर रहना जीवन की विकास यात्रा का बहुत बड़ा अध्याय कहा जा सकता है। संक्षेपतः यह संस्कार जीवन की विकास यात्रा के लिए श्रेयस्कारी, मंगलकारी एवं अभ्युदयकारी है।

सन्दर्भ-सूची

1. *षोडशसंस्कार-एक वैज्ञानिक विवेचन, डॉ. बोधकुमार झा., पृ. 29*
2. *धर्मशास्त्र का इतिहास, भा.-1, पृ. 209*
3. *अथर्ववेद, 11/5/3, हिन्दूसंस्कार, पृ. 148*
4. *'उप समीपे आचार्यादीनां बटोर्नयनं प्रापणमुपनयनम् भारूचि'। वीर मित्रोदय संस्कार, भा.-1, पृ. 334*
5. *वही, पृ. 334*
6. *संस्कृत हिन्दी कोश, पृ. 206*
7. *'उपनीयते वर्णक्रमारोह युक्त्या प्राणी पुष्टिं नीयतेनेन इत्युपनयनम्'।*
   आचारदिनकर, पृ. 20
8. *संस्कृतहिन्दीकोश, पृ. 211*
9. *अथर्ववेद, 11/5/3*
10. *हिन्दूसंस्कार पृ. 150*
11. *याज्ञवल्क्यस्मृति, 1/15*
12. *गौतमधर्मसूत्र, 8/14/24*
13. *मनुस्मृति, 2/26*
14. *वीरमित्रोदयसंस्कार, भा.-1, पृ. 137*
15. *आचारदिनकर, पृ. 19*
16. *उपदेशमाला, उद्धृत-आचारदिनकर, पृ. 19*
17. *आदिपुराण, पर्व-38, पृ. 241*
18. *प्रश्नव्याकरण अंगसुत्ताणि-2/13*
19. *यज्ञोपवीतसंस्कार, पृ. 37*
20. *उत्तरपुराण, अनु.-पन्नालाल जैन, पर्व-63, पृ. 177*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

21. मयोपनयनेऽग्राहि, व्रतं गुरुभिरर्षितम्।
मुक्त्वा गुरुजनानीतां, स्वीकरोमि न चापराम्।।
आदिपुराण, पर्व-47, पृ. 177
22. उत्तरपुराण, पर्व-62, पृ. 295
23. आचारदिनकर, पृ. 19
24. वही, पृ. 20
25. वही, पृ. 20
26. वही, पृ. 20
27. वही, पृ. 20
28. आदिपुराण, पर्व-38, पृ. 249
29. यज्ञोपवीतसंस्कार, क्षुल्लकसागरजी, पृ. 76-77
30. वही, पृ. 101
31. भट्टाकलंक संहिता, चतुर्थ परिच्छेद, श्लो. 16-19, उद्धृत-
यज्ञोपवीतसंस्कार, पृ. 101
32. यज्ञोपवीतसंस्कार, पृ. 110
33. वही, पृ. 111
34. वही, पृ. 76
35. वही, पृ. 115
36. बौधायनधर्मसूत्र, 1/5/5
37. धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ. 218
38. वही, पृ. 218
39. वही, पृ. 218
40. षोडशसंस्कारविवेचन, पृ. 6-2
41. यज्ञोपवीतसंस्कार, पृ. 95-97
42. षोड़शसंस्कार विवेचन, पृ. 6-3
43. (क) संस्कार अंक, पृ. 333 (ख) यज्ञोपवीतसंस्कार, पृ. 91
44. वही, पृ. 94-95
45. (क) श्रावकाचारसंग्रह, पं. हीरालाल शास्त्री, भा.-4, पृ. 161
(ख) यज्ञोपवीतसंस्कार, पृ. 35
46. दानशासनमहाग्रन्थ, उद्धृत-यज्ञोपवीत, पृ. 69

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

47. वही, पृ. 71
48. अर्हत्प्रतिष्ठासारसंग्रह, उद्धृत-यज्ञोपवीतसंस्कार, पृ. 72
49. धर्मसंग्रहश्रावकाचार, 211
50. आदिपुराण, 1346, उद्धृत-यज्ञोपवीतसंस्कार
51. यज्ञोपवीतसंस्कार, पृ. 76
52. धर्मशास्त्र का इतिहास, भा.-1, पृ. 217
53. प्रतिष्ठातिलक, ब्रह्मसूरि, श्लो.-133-36, 181-83, –उद्धृत यज्ञोपवीतसंस्कार, पृ. 80-81
54. प्रतिष्ठासारोद्धार, पं. आशाधर, श्लो.-22
55. आदिपुराण, पर्व-38, पृ. 249
56. वही, पर्व-38, पृ. 249
57. धर्मसंग्रहश्रावकाचार, अ.-29, श्लो.-16-23
58. यज्ञोपवीतसंस्कार, पृ. 105
59. हिन्दूसंस्कार, पृ. 163
60. आचारदिनकर, पृ. 20-21
61. जैनसंस्कारविधि, पृ. 13
62. धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ. 212
63. (क) पारस्करगृह्यसूत्र, 2/2 (ख) आश्वलायनगृह्यसूत्र, 1/19
64. बौधायनगृह्यसूत्र, 11/5/6
65. राजमार्त्तण्ड, वीरमित्रोदयसंस्कार, भा.-1, पृ. 354
66. आचारदिनकर, पृ. 20
67. आदिपुराण, पृ. 38, पृ. 248
68. (क)पारस्करगृह्यसूत्र, 2/2 (ख)आश्वलायनगृह्यसूत्र, 1/19 (ग)बौधायनगृह्यसूत्र, 2/5 (घ)गोभिलगृह्यसूत्र, 10 (ड.)मनुस्मृति, 2/36
69. आचारदिनकर, पृ. 30
70. शुक्लयजुर्वेदनामुपनयनसंस्कार, पृ. 18
71. आचारदिनकर, पृ. 21-22
72. वही, पृ. 23
73. वही, पृ. 24
74. वही, पृ. 25

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

75. वही, पृ. 25
76. वही पृ. 25-26
77. वही, पृ. 26-27
78. आदिपुराण, पर्व-38, 40, पृ. 249, 310
79. आदिपुराण, पर्व-40, पृ. 310
80. जैनसंस्कारविधि, पृ. 13
81. (क)आश्वलायनगृह्यसूत्र (ख)पारस्करगृह्यसूत्र (ग)गोभिलगृह्यसूत्र, 2/10 (घ) खादिरगृह्यसूत्र, 2/4/3/1
82. हिन्दूसंस्कार, पृ. 165
83. यह परवर्ती विकास है, जो गृह्यसूत्रों में उपलब्ध नहीं है।
84. यह अनेक प्रदेशों में प्रचलित स्थानीय प्रथा है।
85. हिन्दूसंस्कार, पृ. 166
86. पारस्करगृह्यसूत्र, 2/2/9
87. वही, 2/2/10
88. गोभिलगृह्यसूत्र, 1/17/18
89. पारस्करगृह्यसूत्र, 2/2/11
90. हिन्दूसंस्कार, पृ. 170
91. वही, पृ. 173
92. पारस्करगृह्यसूत्र, 2/6/26
93. आश्वलायनगृह्यसूत्र, 1/19/10
94. वही, 1/19/20
95. हिन्दूसंस्कार, पृ. 174-77
96. पारस्करगृह्यसूत्र, 2/3/3
97. वही, 2/4/1-8
98. षोडशसंस्कारविवेचन, पृ. 6-11
99. वही, पृ. 31-32
100. संस्कार अंक, पृ. 329
101. वही, पृ. 331
102. वही, पृ. 332

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अध्याय - 14

विद्यारम्भ संस्कार विधि का रहस्यात्मक स्वरूप

विद्या मानव जीवन का अभिन्न अंग है। विद्याध्ययन ही एक मानव को मानव की कोटी में उपस्थित करता है एवं उसमें अन्तर्निहित शक्तियों को जागृत करता है। वस्तुत: विद्याध्ययन का प्रारंभ करवाने हेतु यह संस्कार किया जाता है। जब बालक का मस्तिष्क शिक्षा ग्रहण करने योग्य हो जाए, तब उसकी शिक्षा व्यवस्था का आरंभ संस्कार के माध्यम से किया जाना चाहिए। यह संस्कार बालक की शैक्षणिक यात्रा का प्रमुख अंग है। इस शिक्षण के द्वारा वह बहुत कुछ सीखता, समझता, सुनता और पढ़ता है। इस प्रकार यह संस्कार उसके भावी जीवन का निर्माता होता है। इस समय उसे जो कुछ सिखाया या समझाया जाता है, वह उसे अपनी अन्तर्चेतना पूर्वक ग्रहण करता है, उसकी समझ-शक्ति काफी कुछ विकसित हो जाती है अत: बालक के लिए किया जाने वाला विद्यारम्भ संस्कार सभी संस्कारों से महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता है।

इस संस्कार के उद्‌भव एवं विकास की यात्रा का विवेचन करते हैं, तो जैन परम्परा की दृष्टि से यह संस्कार अति प्राचीन सिद्ध होता है, क्योंकि भगवती सूत्र, ज्ञाताधर्मकथा सूत्र, औपपातिक सूत्र, राजप्रश्नीय सूत्र, कल्पसूत्र आदि में विद्यारम्भ संस्कार का सुस्पष्ट उल्लेख मिलता है।[1] ऐतिहासिक दृष्टि से अवलोकन करने पर इसका उद्‌भव सभ्य समाज की संरचना होने पर ही हुआ– ऐसा ज्ञात होता है। यही वजह है कि क्रम की दृष्टि से देखें, तो विद्यारम्भ संस्कार उपनयन के साथ या उसके पश्चात् किया जाना चाहिए। जैन परम्परा में विद्यारम्भ संस्कार का क्रम उपनयन संस्कार के बाद स्वीकारा गया है और यह क्रम प्रमाणित भी लगता है।

गृह्यसूत्रों, धर्मसूत्रों एवं प्राचीन स्मृतियों में इस संस्कार को उपनयन-संस्कार में समाहित किया गया है। कतिपय ग्रन्थों जैसे-वीरमित्रोदय (संस्कारप्रकाश, भा.-1. पृ. 321), स्मृतिचन्द्रिका (संस्कारकाण्ड, पृ. 67)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

याज्ञवल्क्यस्मृति की व्याख्या आदि इस संस्कार के विषय में प्रमाण हैं। यहाँ ज्ञातव्य है कि उक्त सभी ग्रन्थ भारतीय कर्मकाण्ड साहित्य के इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त आधुनिक हैं।[2]

यहाँ एक प्रश्न यह उभरता है कि गृह्यसूत्रों और धर्मसूत्रों में निष्क्रमण, अन्नप्राशन जैसे साधारण संस्कारों का भी विस्तृत वर्णन किया गया है, तब विद्यारम्भ जैसे महत्त्वपूर्ण संस्कार का उल्लेख क्यों नहीं? इसका स्पष्टीकरण केवल इस तथ्य द्वारा किया जा सकता है कि जिन संस्कारों का उदय प्राक्सूत्रयुग में हुआ, उस समय वैदिक संस्कृत बोलचाल की भाषा थी और वेदों की प्राथमिक शिक्षा का आरम्भ उपनयन संस्कार से होता था, अत: वेदों के विवेचन के लिए संस्कृत भाषा को लिखने और पढ़ने की प्राथमिक योग्यता अलग से आवश्यक नहीं थी। इसके अतिरिक्त अति प्राचीनकाल में लेखन का प्रचलन भी नहीं था या कम-से-कम बालकों की प्रारम्भिक शिक्षा में उसका उपयोग नहीं होता था अत: वैदिक संहिता या श्रुति की शिक्षा आरम्भ करने के लिए उपनयन के अतिरिक्त अन्य किसी संस्कार की आवश्यकता नहीं हुई।

ऐतिहासिक विकास क्रम में जब संस्कृत साहित्यिक भाषा बन गई। उस समय संस्कृत साहित्य समृद्ध हुआ; व्याकरण, निरूक्त आदि का विकास हुआ तथा अन्य अनेक विद्याएँ और शास्त्र भी अस्तित्व में आए। साथ ही विद्या के इस विपुल भण्डार की सुरक्षा के लिए वर्णमाला और लेखनकला का आविष्कार हुआ, तब संस्कृत-साहित्य के अध्ययन की प्राथमिक शिक्षा आवश्यक हो गई, और एक नवीन संस्कार की अनिवार्यता प्रतीत हुई। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए विद्यारम्भ-संस्कार अस्तित्व में आया।[3] इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि विद्यारम्भ संस्कार कालक्रम से अस्तित्व में आया अत: यह अन्य संस्कारों की अपेक्षा परवर्तीकालीन है।

श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में विद्यारंभ संस्कार को तेरहवाँ स्थान दिया गया है, जबकि वैदिक मत में इसे दसवाँ स्थान प्राप्त है। इसमें तेरहवाँ 'समावर्त्तन' नाम का संस्कार है। दिगम्बर परम्परा में विद्यारम्भ के स्थान पर लिपिसंख्यान नाम का संस्कार है, जो विद्यारम्भ के समरूप प्रतीत होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विद्यारम्भ संस्कार का अभिप्रायार्थ

इस संस्कार के नाम से ही इसका अर्थ स्पष्ट हो जाता है। इसमें दो शब्द हैं-विद्या+आरम्भ अर्थात विद्या का आरम्भ करना। विधि-विधान पूर्वक विद्याध्ययन का प्रारम्भ किया जाता है, उसे विद्यारम्भ-संस्कार कहते हैं। विद्यारम्भ के कई पर्यायवाची नाम हैं जैसे-अक्षरारम्भ, अक्षरस्वीकरण, अक्षरलेखन, लिपिसंख्यान आदि। इन नामों से यही सूचित होता है कि यह मूलत: भाषायी एवं सांस्कृतिक विवेचन से सम्बन्धित है।[4]

विद्यारम्भ संस्कार की लौकिक आवश्यकता

इस संस्कार की आवश्यकता क्या हो सकती है? इस सम्बन्ध में चर्चा करना अपेक्षित है। प्रथम तो विद्यारम्भ संस्कार की आवश्यकता को प्रमाणित करने वाला यह शास्त्र वचन-'ज्ञानेन हीना नर: पशुभि: समाना' समझने जैसा है। शास्त्रकार ने विद्याविहीन की तुलना पशु से की है। इससे सूचित होता है कि जीवन विकास के लिए शिक्षा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। यह बात प्रत्यक्ष में भी देखते हैं कि शिक्षित व्यक्ति सर्वत्र पूजा जाता है अत: किसी भी कीमत पर शिक्षाभ्यास अवश्य करना चाहिए।

ज्ञान ही मनुष्य की विशेषता है, अन्यथा अनेक कार्यों में तो वह पशुओं से भी पिछड़ा हुआ है। हाथी के समान बलवान्, सिंह की तरह पराक्रमी, घोड़े की भाँति चलने वाला, बैल की तरह परिश्रमी, कुत्ते की तरह गन्ध-ज्ञानी, बन्दर की तरह वृक्षारोही, गौ की तरह सौम्य, भला कौन मनुष्य हो सकता है? इन दृष्टियों से मनुष्य की अपेक्षा पशु ही अधिक बढ़े-चढ़े होते हैं। उनकी तुलना में मनुष्य की जो विशेषता है, वह उसकी ज्ञान शक्ति है, किन्तु ज्ञान शक्ति का उपयोग हो, यह और भी अधिक जरूरी है। मानवोचित प्रगति के लिए ज्ञान की पूर्णता(विकास) होना एक अनिवार्य शर्त है अन्यथा जीवन-विकास के सभी द्वार बन्द हो जाते हैं। विद्या ज्ञान की आधारशिला है।

इस संस्कार की आवश्यकता का एक अन्य कारण यह है कि 'ज्ञानात् मुक्ति' सूत्र के अनुसार दु:खों और क्लेशों से छुटकारा केवल ज्ञानवान को ही मिल सकता है, अज्ञानी तो सांसारिक बन्धनों में बंधा ही रहता है और कष्ट भोगता रहता है। सही मार्ग तो ज्ञान का प्रकाश होने पर ही मिल सकता है, अज्ञान के अन्धकार से मुक्ति ज्ञान के प्रकाश द्वारा ही संभव है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस संस्कार का चौथा प्रयोजन यह है कि हमें क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए? इन प्रश्नों का उत्तर ज्ञान के आधार पर ही उपलब्ध किया जा सकता है इसलिए अध्यात्म साधना के तीन साधनों ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग में प्रथम स्थान ज्ञानयोग का ही रहा हुआ है। ज्ञान के बिना प्रगति की कोई सम्भावना नहीं रहती।[5]

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि खाने-पीने, नहाने-धोने आदि शारीरिक प्रवृत्तियों का प्रकृतिप्रदत्त ज्ञान पशु पक्षियों और कीट-पतंगों को भी होता है, तब उन्हें अज्ञानी की संज्ञा में कैसे रखा जाए? इसका स्पष्टीकरण यह है कि जैसे सांस लेने, आहार पचाने आदि की क्रियाएँ हर शरीरधारी को शरीर-धर्म के रूप में स्वत: ही मिली होती हैं, किन्तु जो मात्र इतना ही जानते हैं कि वस्तुत: वे शरीरधर्मी हैं, उनका स्तर पशु से ऊपर नहीं है। ज्ञान तो चेतना के बौद्धिक विकास को कहते हैं और इसी पर व्यक्ति के समग्र व्यक्तित्व का विकास आधारित होता है। विकसित व्यक्तित्व ही मनुष्यता की शोभा है अत: व्यक्तित्व विकास के लिए एवं मानवीय जीवन को उच्चस्तरीय बनाने के लिए विद्याध्ययन करना अति आवश्यक सिद्ध होता है।

इस संस्कार की आवश्यकता का पांचवाँ कारण यह भी माना जा सकता है कि इसके माध्यम से बालक को अध्ययन का एक अनुकूल वातावरण मिलता है। यूं तो ज्ञान की सत्ता अंकुर-रूप में प्रत्येक मानवीय-चेतना में है, पर उनका विकास तभी संभव है, जब अनुकूल परिस्थितियों का सिंचन हो। यह सिंचन गुरु के सान्निध्य से ही संभव है। यह प्रत्यक्ष अनुभवगम्य है कि छोटा बालक जिन परिस्थितियों में रहता है, वह उसी प्रकार से ढल जाता है। इस सम्बन्ध में एक घटना समाचार-पत्रों में छपी है कि कुछ दिन पूर्व आगरा जिले के खन्दौली गाँव से एक बालक को एक मादा भेड़िया उठा ले गई। उसने उसे शारीरिक क्षति नहीं पहुंचाई, बल्कि उसे अपना दूध पिलाकर उसका पालन किया। बच्चा छ: वर्ष का हो गया। शिकारियों ने उस बच्चे को भेड़ियों की माँद में देखा तो उसे पकड़ लिया। यह बालक आजकल लखनऊ के मेडिकल कॉलेज में है, उसका नाम रामू रखा गया है। बचपन से ही जैसा उसने सीखा, वह भेड़ियों की तरह ही चलता है, वैसे ही गुर्राता है, वैसे ही कच्चा माँस खाता है, उसकी सारी आदतें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भेड़ियों जैसी ही है। मनुष्य की तरह रहने, सोचने, बोलने की जानकारी उसे कराई जा रही है।[6]

हम आदिम-जाति या जनजाति के लोगों के बच्चों और सुसंस्कृत लोगों के बच्चों में जो अन्तर देखते हैं, वह उनका जन्मजात नहीं, वरन् वातावरण और संगति के प्रभाव का फल है। इस दृष्टि से विद्याध्ययन संस्कार की आवश्यकता स्वत: प्रमाणित है।

विद्यारंभ संस्कार की अनिवार्यता का छठवाँ कारण यह भी है कि मनुष्यों द्वारा कमाई और जमा की गई धन-सम्पदा तो कालक्रम में नष्ट हो जाती है पर उनके द्वारा उपार्जित ज्ञान- सम्पदा वंश परम्परा से सुरक्षित रहती है। साथ ही उसकी एक विलक्षण विशेषता यह है कि जो भी चाहे, उस महान् ज्ञानकोश को बिना किसी मूल्य या उत्तराधिकार के प्राप्त कर सकता है। यह भी एक मजेदार बात है कि पूर्वजों के धन को तो उनके वंशज या उत्तराधिकारी ही प्राप्त कर सकते हैं, पर ज्ञान भण्डार किसी भी व्यक्ति द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, इसमें मात्र गुरु कृपा ही पर्याप्त है। दूसरी बात, ज्ञान ऐसी वस्तु है, जो देने से वृद्धि को प्राप्त होता है, नष्ट नहीं होता है। इस संस्कार के सम्बन्ध में यह मननीय है कि जो जितना अधिक जानता है, वह जीवन क्षेत्र में उतना ही अधिक सफल रहता है, अतएव ज्ञानवान् होना ही सच्चे अर्थों में सामर्थ्यवान् एवं सम्पत्तिवान् बनना है। यह विद्याध्ययन के माध्यम से ही संभव है, इसलिए पढ़ना-पढ़ाना मनुष्य का अत्यन्त आवश्यक कर्त्तव्य है।

जैसे शरीर का सामर्थ्य आहार पर आधारित है, वैसे ही मन की सामर्थ्यता विद्या द्वारा विकसित होती है। बालक के जन्म और प्रथम आहार की भाँति विद्याध्ययन के अवसर पर भी उत्सव मनाया जाता है। यह उत्सव आवश्यक भी है और सार्थक भी। बालक के भविष्य को उज्ज्वल बनाने के लिए शिक्षा का प्रकाश आवश्यक है। विद्या ज्ञानचक्षु का काम करती है। किसी को नेत्र नहीं मिले हों, पर विद्याभ्यासी है, तो वह निश्चित ही सन्मार्ग का अनुगामी होगा। साररूप में इतना कहना पर्याप्त है कि जो विद्या का पारगामी नहीं है, उसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के फल से वंचित रहना पड़ता है, इसलिए विद्या की प्राप्ति आवश्यक है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विद्यारंभ संस्कार का कर्त्ता कौन?

श्वेताम्बर परम्परानुसार यह संस्कार जैन ब्राह्मण या क्षुल्लक करवा सकता है।[7] दिगम्बर परम्परा में यह संस्कार द्विज करवाता है, यद्यपि इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं है तथा वैदिक परम्परा में इस संस्कार सम्बन्धी कुछ विधान ब्राह्मण करवाता है और कुछ विधान विद्या गुरु निष्पन्न करता है।[8]

विद्यारंभ संस्कार के लिए ग्राह्य और वर्जित नक्षत्र आदि का विचार

आचारदिनकर में विद्यारंभ संस्कार हेतु निम्न नक्षत्र आदि शुभ माने गए हैं। नक्षत्रों में-अश्विनी, मूल, पूर्वात्रय, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, आश्लेषा, हस्त, शतभिषा, स्वाति, चित्रा, श्रवण और धनिष्ठा, तिथियों में-द्वितीया, तृतीया, पंचमी, सप्तमी, दशमी, एकादशी, द्वादशी एवं त्रयोदशी वारों में-बुध, गुरु और शुक्र शुभ माने गए हैं। पुनः वारों में– रवि और सोम मध्यम तथा मंगल और शनि त्याज्य कहे गए हैं। तिथियों में-अमावस्या, अष्टमी, प्रतिपदा, चतुदशी, रिक्ता, षष्ठी और नवमी ही मानी गईं हैं। यहाँ ज्ञातव्य है कि इन नक्षत्र आदि का सुयोग होने पर भी उपनयन संस्कार की भाँति शुभ लग्न में ही विद्यारंभ संस्कार आरम्भ करना चाहिए।[9] दिगम्बर परम्परा इस संस्कार के लिए निम्न नक्षत्र आदि को शुभ मानती है। नक्षत्रों में-हस्त, अश्विनी, पुनर्वसु, पुष्य, चित्रा, अनुराधा, तिथियों में-द्वितीया, तृतीया, पंचमी, षष्ठी, दशमी, एकादशी और द्वादशी वारों में-सोम, बुध, शुक्र, शनि-ये दिन विद्यारम्भ हेतु उत्तम कहे गए हैं।[10]

वैदिक परम्परानुसार इस संस्कार के लिए यह निर्देश किया गया है कि बालक के पाँचवें वर्ष कार्तिक शुक्लपक्ष के बारहवें दिन से आषाढ़ शुक्लपक्ष के ग्यारहवें दिन तक किसी भी दिन, किन्तु प्रतिपदा, षष्ठी, अमावस्या तथा रिक्ता तिथियों को और शनि-मंगल को छोड़कर विद्यारम्भ करना चाहिए।[11]

विद्यारंभ संस्कार हेतु उपयुक्त काल

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार यह संस्कार कब किया जाना चाहिए, इसका उल्लेख नहीं मिलता है। दिगम्बर मतानुसार बालक के पाँच वर्ष पूर्ण होने पर यह संस्कार करना चाहिए।[12] वैदिक विचारणा भी बालक के पाँचवें वर्ष में यह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संस्कार करना स्वीकार करती है, किन्तु इस सम्बन्ध में अन्य मत भी प्रस्तुत किए गए हैं। विश्वामित्र के अनुसार बालक के जन्म से पाँचवें वर्ष में यह संस्कार करना चाहिए।[13] पण्डित भीमसेन शर्मा की षोडश-संस्कार-विधि में किसी अज्ञातनामा स्मृतिकार के आधार पर यह संस्कार पाँचवें या सातवें वर्ष में किए जाने का निर्देश है। यदि किन्हीं अनिवार्य परिस्थितियों के कारण इसे स्थगित करना पड़ जाए तो उपनयन संस्कार के पूर्व किसी भी समय अवश्य कर लेना चाहिए। चूंकि उपनयन के समय बालक का द्वितीय जन्म होता है, अत: इसके पूर्व अक्षरारम्भ अवश्य करा देना चाहिए। इसके लिए मार्गशीर्ष से लेकर ज्येष्ठ मास तक का समय उपयुक्त है।[14]

विद्यारंभ संस्कार के लिए आवश्यक सामग्री

यह संस्कार सम्पन्न करते समय कौन-कौनसी वस्तुएँ आवश्यक रूप से होनी चाहिए? इस विषय को लेकर दिगम्बर एवं वैदिक ग्रन्थों में कोई वर्णन देखने को नहीं मिलता है। श्वेताम्बर परम्परावर्ती ग्रन्थों में इस संस्कार सामग्री का स्पष्टत: उल्लेख हुआ है। इसमें पौष्टिक क्रिया की सामग्री, मंगलगीत गाने वाली, वादित्र बजाने वाले, सारस्वत मन्त्र के उपदेश की क्रिया, दक्षिणा सामग्री, दान सामग्री आदि अनिवार्य कहे गए हैं।[15]

विद्यारंभ संस्कार की प्राच्यकालीन विधि

श्वेताम्बर– • पूर्वोक्त किसी शुभ दिन में गृहस्थ गुरु उपनीत पुरुष के घर में आकर पौष्टिक कर्म करे। • उसके बाद वह गृहस्थ गुरु जिनालय, उपाश्रय या कदंब वृक्ष के नीचे दर्भ के आसन पर बैठे और शिष्य को अपनी बाईं ओर दर्भ के आसन पर बिठाए। • उसके बाद शिष्य के दाहिने कर्ण को पूजित कर तीन बार सरस्वती मन्त्र सुनाए।

• तत्पश्चात् वह गृहस्थ गुरु बैलगाड़ी या अश्व पर बिठाकर मंगलगीत गाते हुए एवं दान देते हुए गाजे-बाजे के साथ शिष्य को अपने घर या अन्य अध्यापक की शाला में ले जाने से पूर्व उपाश्रय में यति-गुरु के पास ले जाए। • वहाँ बालक द्वारा मंडलीपूजा, वासनिक्षेप आदि करवाए। फिर पाठशाला ले जाए। फिर शिष्य से गुरु के सम्मुख निम्न श्लोक पढ़वाए-

अज्ञान तिमिरान्धानां, ज्ञानांजन शलाकया ।
नेत्रमुन्मीलितं येन, तस्मै श्री गुरवे नमः ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

• उसके बाद गृहस्थ गुरु स्वर्ण तथा वस्त्र की दक्षिणा लेकर अपने घर की ओर प्रस्थान करे। • उसके बाद अध्यापक सबसे पहले मातृकाक्षर अर्थात वर्णमाला पढ़ाए। • तदनन्तर ब्राह्मण हो तो प्रथम आयुर्वेद, फिर षडंग और पुराण आदि धर्मशास्त्र पढ़ाएं। क्षत्रिय हो तो चौदह विद्या पढाएं, फिर आयुर्वेद, धनुर्वेद, दंडनीति और आजीविका- शास्त्र पढ़ाएं। वैश्य को धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, कामशास्त्र और अर्थशास्त्र पढ़ाएं। शूद्र को नीतिशास्त्र और आजीविका-शास्त्र पढ़ाएं। शिक्षा के पूर्ण होने के बाद साधुओं को आहार-वस्त्र-पात्र और पुस्तक आदि का दान दें।[16]

दिगम्बर– दिगम्बर परम्परा में इस संस्कार विधि का उल्लेख करते हुए यह कहा गया है कि सर्वप्रथम अपनी शक्ति के अनुसार जिनमन्दिर में या गृह पर जिनप्रतिमा की पूजा करें और कुशल गृहस्थ व्रती को ही उस बालक के लिए अध्यापक पद पर नियुक्त करें। वह अध्यापक सर्वप्रथम *'ॐ नमः सिद्धेभ्यः'*-यह मन्त्र बालक से वहीं पर लिखवाए और उसका उच्चारण करवाए। उसके बाद लिपिसंख्यान के अवसर पर आशीर्वाद प्रदान करे। उस समय निम्न मंत्र बोलें- *'शब्दपारगामी भव, अर्थपारगामी भव, शब्दार्थ सम्बन्ध पारगामी भव।'*

फिर बालक को लिपि-पुस्तक दी जाए।[17]

वैदिक– वैदिक परम्परा में इस संस्कार के लिए सूर्य के उत्तरायण मासों में से कोई भी शुभ दिन निश्चित कर लिया जाता है। उस दिन सर्वप्रथम बालक को स्नान करवाते हैं और सुगन्धित पदार्थों तथा सुन्दर वेश-भूषा से उसे अलंकृत किया जाता है। उसके बाद विनायक, सरस्वती, बृहस्पति और गृह देवता की पूजा की जाती है। नारायण और लक्ष्मी की आराधना करते हैं तथा वेद और वैदिक सूत्रकारों के प्रति आदर प्रकट करते हैं। तदनन्तर होम किया जाता है। फिर अध्यापक को पूर्व दिशा में और विद्यार्थी बालक को पश्चिम दिशा की ओर मुख करके बिठाते हैं। इसके पश्चात गुरु बालक को पढ़ाना प्रारम्भ करते हैं। उस समय रजतफलक(पत्र) पर केशर तथा अन्य द्रव्य बिखेर दिए जाते हैं और स्वर्णलेखनी से उस पर अक्षर लिखे जाते हैं। स्वर्णलेखनी और रजतफलक वाली बात धनिक परिवारों के लिए ही संभव है अतः इस अवसर के लिए विशेष रूप से निर्मित की गई लेखनी से चावल पर निम्न अक्षर लिखे जाते हैं– *श्री गणेशाय नमः, सरस्वत्यै नमः,* गृहदेवताभ्यो नमः,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लक्ष्मीनारायणाभ्यां नम:। इसके अनन्तर *'ॐ नम: सिद्धाय'* लिखा जाता है[18], तब बालक गुरु की अर्चना करता है। उसके बाद गुरु बालक से लिखे हुए अक्षरों और उक्त वाक्यों को बालक से तीन बार पढ़वाते हैं। तत्पश्चात बालक गुरु को वस्त्र आभूषण आदि भेंट करता है और देवताओं की तीन प्रदक्षिणा करता है। इस अवसर पर ब्राह्मणों को दक्षिणा दी जाती है तथा उन्हें सम्मानित किया जाता है। वे बालक को आशीर्वाद देते हैं। जो नारियाँ सौभाग्यवती और पुत्र वाली हैं, वे आरती उतारती हैं। अन्त में गुरु को एक पगड़ी या साफा भेंट किया जाता है।[19]

समावर्त्तन संस्कार– वैदिक परम्परा में तेरहवाँ समावर्त्तन नाम का संस्कार कहा गया है। समावर्त्तन का शाब्दिक अर्थ है-सम्यक् शिक्षा ग्रहण कर गृहस्थ जीवन में पुन: लौटना। समावर्त्तन विद्याध्ययन का अन्तिम संस्कार है। विद्याध्ययन पूर्ण हो जाने के अनन्तर वेदपठित ब्रह्मचारी गुरु की आज्ञा पाकर अपने घर में समावर्तित होता है अर्थात लौटता है इसीलिए इसे समावर्त्तन संस्कार कहा जाता है। इस संस्कार के पश्चात शिष्य को गृहस्थाश्रम में जाने की अनुमति मिल जाती है।

इस संस्कार में वेद मन्त्रों से अभिमन्त्रित जलपूरित आठ कलशों से विशेष विधि पूर्वक ब्रह्मचारी को स्नान कराया जाता है, इसीलिए यह वेद स्नान संस्कार भी कहलाता है। इस संस्कार में गुरु दक्षिणा प्रदान करना, मौंजी-मेखला का त्याग करना, गुरु द्वारा जीवनोपयोगी शिक्षा प्रदान करना आदि कृत्य सम्पन्न किए जाते हैं।

आजकल के दीक्षान्त समारोह भी समावर्त्तन-संस्कार का ही एक अनुकरण रूप है।

विद्यारंभ संस्कार सम्बन्धी क्रियाकलापों के बहु पक्षीय प्रयोजन

विद्यारम्भ नामक यह संस्कार बालक या बालिका को पहली बार विद्याध्ययन करवाए जाने से सम्बद्ध है। जब बालक पहली बार पाठशाला या गुरुकुल में पढ़ने जाता है, उस दिन यह संस्कार सम्पन्न करते हैं। उसके बाद उसका विद्याध्ययन निश्चित अवधि के लिए शुरू हो जाता है।

सामान्यत: विद्यारम्भ संस्कार द्वारा बालक या बालिका में उस प्रकार के संस्कारों के आरोपण का प्रयास किया जाता है, जिनके आधार पर उनकी शिक्षा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मात्र अक्षर ज्ञान न रहकर जीवन निर्माण करने वाली तथा हितकारी बने। इस संस्कार या समारोह द्वारा बालक के मन में ज्ञान प्राप्ति के लिए उत्साह पैदा किया जाता है। उत्साहवर्द्धक मनोभूमि में देवाराधन तथा तत्सम्बन्धी कृत्यों से वाँछित ज्ञानपरक संस्कारों का बीजारोपण भी संभव होता है।

दूसरा उल्लेखनीय यह है कि विद्यारंभ संस्कार में की जाने वाली सभी विधियाँ विशिष्ट महत्त्व वाली हैं और किसी-न-किसी प्रयोजन से सम्बन्धित हैं अत: बालक की मनोभूमि पर उन विधि- विधानों का भी प्रभाव पड़ता है। कुछ विधि-विधानों के प्रयोजन इस प्रकार हैं–

गणेश पूजन क्यों? गणेश को विद्या का और सरस्वती को शिक्षा का देवता माना गया है। विद्या और शिक्षा-दोनों एक-दूसरे की पूरक हैं। एक के बिना दूसरी अधूरी है। शिक्षा उसे कहते हैं, जो स्कूलों में पढ़ाई जाती है। भाषा, लिपि, गणित, इतिहास, चिकित्सा आदि विभिन्न प्रकार के भौतिक-ज्ञान इसी क्षेत्र में आते हैं। शिक्षा से मस्तिष्कीय-क्षमता विकसित होती है। शिक्षा को लौकिक प्रगति की कुंजी कह सकते हैं, इसीलिए कहा गया है भगवती सरस्वती की जो आराधना करता है, उसे लौकिक-सुख-साधनों की कमी नहीं रहती है।

विद्या का प्रतिनिधित्व गणेश करते हैं। विद्या का अर्थ है-विवेक एवं सद्भाव की शक्ति। गणेश का स्मरण या पूजन शुभ कार्य में सबसे प्रथम किया जाता है, इसका तात्पर्य यह है कि उस कार्य के मूल में सदुद्देश्य का समावेश हो। उसी के द्वारा व्यक्ति एवं समाज का वास्तविक कल्याण संभव है। कितनी बार चतुर व्यक्ति अनुचित कार्यों से सफलताएँ तो प्राप्त कर लेते हैं, पर उनका अन्तत: दुष्परिणाम ही होता है। गणेश-पूजन द्वारा प्रत्येक कार्य निर्विघ्नतया हो यह अपेक्षा की जाती है इसलिए किसी भी कार्य के प्रारम्भ में गणेश-पूजन किए जाने की परम्परा अति प्राचीनकाल से चली आ रही है।

सरस्वती मन्त्र की आराधना किसलिए? जैन-परम्परा में विद्यारंभ संस्कार की मूल विधि का प्रारम्भ करते समय सरस्वती-मन्त्र सुनाया जाता है और वैदिक परम्परा में सरस्वती का पूजन किया जाता है। इसका मूल कारण यह है कि सभी देवियों में यह प्राचीनतम मानी गई है। इसे ज्ञान की देवी कहा है। ज्ञान की साधना इस संसार में सर्वोपरि पुरुषार्थ है। मानसिक-विकास पर व्यक्तित्व का विकास निर्भर है और विकसित व्यक्तित्व द्वारा ही सर्व शक्तियाँ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपार्जित की जाती हैं। चिन्तन, मनन, सत्संग आदि भी मानसिक-विकास के लिए श्रेष्ठ उपाय हैं पर उन सबका मूल शिक्षा ही है। शिक्षा के बिना मस्तिष्क का इतना विकास भी नहीं हो पाता है कि वह महत्त्वपूर्ण विषयों की भूमिका को ठीक से समझ सके। वह शिक्षा ही है, जो मनुष्य-शरीर में सबसे महत्त्वपूर्ण मस्तिष्क को विकसित कर सकती है तथा जीवन के सभी क्षेत्रों में सफलताओं के द्वार खोल सकती है, इसलिए इस संस्कार में सरस्वती की उपासना, अर्चना, मन्त्र श्रवण आदि कृत्य अनिवार्य रूप से किए जाते हैं।

देवी-देवताओं की आराधना क्यों? जैन एवं वैदिक दोनों परम्पराओं के बहुत से अनुष्ठान उस प्रकार के हैं जिनके प्रारम्भ, मध्य या अन्त में देवी-देवताओं का स्मरण, पूजन और उनकी आराधना आदि अवश्य की जाती है। इसके पीछे भी एक रहस्य है। हमारी संस्कृति प्रत्येक वस्तु को परोक्ष की सत्ता से जोड़ती हैं, पुरुषार्थ के अलावा परमार्थ का भी अस्तित्व स्वीकारती हैं अत: विद्यारम्भ संस्कार में अक्षरारम्भ से पूर्व कुछ देवी-देवताओं की अर्चना की जाती है, वैदिक परम्परा में प्रस्तुत संस्कार के समय विष्णु, सरस्वती एवं लक्ष्मी की पूजा प्रमुखत: मानी गई है। उनकी अवधारणा के अनुसार लक्ष्मी प्रेयस मार्ग की प्रतिनिधि है सरस्वती श्रेयस् मार्ग की अधिष्ठात्री है एवं विष्णु दोनों के मध्य एक विलक्षण समन्वय स्थापित करने वाले समन्वयक के रूप में अवस्थित हैं। इस प्रकार वह बालक इन तीनों तत्त्वों की पूजा के द्वारा उनके प्रति सम्मान प्रदर्शित कर अक्षरारम्भ के माध्यम से श्रेयोमार्ग व प्रेयोमार्ग की समन्वयात्मक स्थिति में पहुँचने की ओर प्रयत्नशील बनता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि किसी भी कार्य में देवी- देवताओं की आराधना अन्धविश्वास की उपज नहीं कही जा सकती। इसमें भी वैज्ञानिकता निहित है। लौकिक व्यवहार में नित्यप्रति अनुभव किया जाता है कि किसी भी कार्य के समय व्यक्ति को यदि विश्वास हो कि मेरे पीछे एक अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण शक्ति सहायता करने वाली है तो वह व्यक्ति दुगने उत्साह एवं विश्वास के साथ अपने लक्ष्य में प्रवृत्त होता है, ठीक इसके विपरीत कोई विशिष्ट आदमी भी किसी सामान्य कार्य को करते समय भी यदि अकेलापन महसूस करने लगे तो कभी-कभी उसकी हिम्मत टूटने लगती है। ऐसा अनुभव हमें कार्य जगत् के प्रत्येक क्षेत्र में होता है, यही तथ्य भारतीय-संस्कृति की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रत्येक विधा में निहित है, इसीलिए व्यक्ति द्वारा किए जाने वाले प्रत्येक कार्य को पारलौकिक-शक्तियों से जोड़ा गया है, जिससे व्यक्ति के उत्साह एवं विकास में वृद्धि होती है।

विद्यारम्भ संस्कार पाँच वर्ष की अवधि के बाद ही क्यों? विद्यारम्भ संस्कार बालक की पाँच वर्ष की आयु अथवा उसके पश्चात करने का यह कारण हो सकता है कि प्रारम्भ के पाँच वर्षों तक शिशु का जीवन लाड़-प्यार से भरा होता है। इस अवधि में उसकी चपलता, अज्ञानता एवं चित्त की अस्थिरता पराकाष्ठा पर होती है। सामान्यत: पाँच वर्ष के बाद ही बच्चे की बुद्धि परिपक्व होने लगती है, उसमें ग्राह्य शक्ति का आविर्भाव होने लगता है इसीलिए भारतीय परम्परा में विद्यारम्भ के लिए उपयुक्त समय पाँचवां वर्ष या उसके बाद का समय स्वीकार किया गया है। वर्तमान युग कम्प्यूटर का युग है। वर्तमान जीवन शैली भी द्रुतगतिमान हो गई है। तदनुरूप विद्याध्ययन का आरंम्भ भी निर्दिष्ट अवधि के पूर्व होने लग गया है। अब तो ढाई-तीन वर्ष के बच्चे को ही स्कूल में भर्ती कर देते हैं। यह कितना सही और सार्थक परिणाम दे सकेगा, यह समयाधीन है।

इस प्रकार यह संस्कार एवं तत्सम्बन्धी विधि-विधान रहस्यपूर्ण प्रयोजनों को लिये हुए हैं।

विद्यारम्भ संस्कार का तुलनात्मक विश्लेषण

जब हम विद्यारंभ संस्कार का तुलनात्मक विवेचन करते हैं तो श्वेताम्बर, दिगम्बर एवं वैदिक परम्परा की बहुत-सी समानताएँ और असमानताएँ स्वत: परिलक्षित हो जाती हैं। साथ ही इस संस्कार की मूल्यवत्ता का दिग्दर्शन भी हो जाता है।

नाम की दृष्टि से– यह संस्कार तीनों परम्पराओं में स्वीकारा गया है, किन्तु नाम को लेकर आंशिक भिन्नता है। श्वेताम्बर परम्परा में इसका नाम अध्ययनारम्भ, दिगम्बर में लिपिसंख्यान एवं वैदिकधर्म में विद्यारंभ है। यहाँ ज्ञातव्य है कि इस संस्कार में नाम की दृष्टि से भिन्नता होने पर भी अर्थ की दृष्टि से कोई भिन्नता नहीं है। तीनों परम्पराओं का तात्पर्य बालक को विद्याध्ययन प्रारंभ करवाना है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्रम की दृष्टि से– इस संस्कार क्रम को लेकर मनन करें तो श्वेताम्बरादि परम्पराओं में इस संस्कार का क्रम पूर्णतः समान नहीं है। श्वेताम्बर एवं दिगम्बर मत में इसका स्थान तेरहवाँ है, जबकि वैदिक मत में यह दसवें स्थान पर है।

अधिकारी की दृष्टि से– श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों धाराएँ इस संस्कार को कराने के अधिकारी जैन ब्राह्मण को मानती हैं, यही तथ्य वैदिक परम्परा में भी मान्य है, किन्तु वह गुरु (आचार्य) को भी इसके कर्त्ता के रूप में मानती है। इस तरह हिन्दू धर्म में कुछ विधि-विधान ब्राह्मण द्वारा, तो कुछ विधि-विधान गुरु द्वारा किए जाते हैं।

शुभ दिन की दृष्टि से– यह संस्कार किस दिन किया जाना चाहिए? इस बात को लेकर तीनों परम्पराओं में शुभ नक्षत्र आदि का उल्लेख है। विशेष इतना है कि आचारदिनकर में यह चर्चा अधिक विस्तृत और विधि-निषेध के साथ की गई है।

काल की दृष्टि से– सामान्यतया दिगम्बर एवं वैदिक मत में इस संस्कार का काल बालक के जन्म से पाँचवां वर्ष माना गया है अर्थात जब बालक पाँच वर्ष का हो जाए तो विद्यारम्भ संस्कार कर देना चाहिए। इसमें दोनों धाराएँ समान हैं, किन्तु वैदिक मत से अपवादतः यह संस्कार उपनयन के पूर्व तक कभी भी किया जा सकता है। श्वेताम्बर आचार्यों ने काल का निर्देश नहीं किया है।

स्थान की दृष्टि से– श्वेताम्बर एवं दिगम्बर ग्रन्थों के अनुसार यह संस्कार जिनालय में किया जाना चाहिए। श्वेताम्बर आचार्यों के अनुसार वैकल्पिक रूप से यह संस्कार उपाश्रय या कंदबवृक्ष के नीचे भी किया जा सकता है तथा दिगम्बर मत से गृह-आंगन में कर सकते हैं। वैदिक ग्रन्थों में स्थान विशेष का कोई उल्लेख नहीं है।

मन्त्र की दृष्टि से– श्वेताम्बर आदि तीनों परम्पराओं में विद्यारम्भ के पूर्व कहे जाने वाले मन्त्रों में लगभग भिन्नता है तथा तत्कालीन विधि में भी अन्तर है। श्वेताम्बर परम्परा में यह संस्कार प्रारम्भ करने के पूर्व उपनीत के दाहिने कान में सरस्वती-मन्त्र सुनाने का निर्देश है। दिगम्बर परम्परा में 'ऊँ-ऊँ नमः सिद्धेभ्यः' मन्त्र लिखवाने एवं उच्चारण करवाने का उल्लेख है। वैदिक मत में भी पूर्वोक्त कुछ अक्षरों और कुछ मन्त्रों को लिखने एवं उच्चारित करवाने का वर्णन है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विधि की दृष्टि से– विद्यारम्भ संस्कार विधि को लेकर विचार करें, तो उनमें आंशिक समानता और बहुत-सी विभिन्नताएँ दृष्टिगत होती हैं। तीनों परम्पराओं में संस्कार प्रारम्भ करने से पूर्व अपने-अपने इष्ट देवों एवं परमात्माओं की पूजा तथा उनकी आराधना करने को आवश्यक माना है। दिगम्बर के अतिरिक्त शेष दो परम्पराओं में विधिकारक ब्राह्मण को दक्षिणा देना भी आवश्यक बतलाया है। यदि अन्तर की दृष्टि से देखें, तो श्वेताम्बर परम्परानुसार बालक को उत्सव-महोत्सव के साथ पाठशाला ले जाना, यतिगुरु के दर्शन करवाना तथा वर्ण के अनुसार विद्याध्ययन करवाना अनिवार्य है। ये विधि-कृत्य शेष दो धाराओं में प्रचलित नहीं हैं।

वैदिक परम्परा में निर्दिष्ट लेखनी द्वारा चावल के ऊपर कुछ अक्षर एवं मन्त्र आदि लिखवाये जाते हैं। यह विधि शेष दो धाराओं में प्रचलित नहीं है।

संक्षेपत: यह संस्कार अतीव महत्त्व का है। बालक के लिए अनुकूल वातावरण बनाने हेतु इस संस्कार के माध्यम से बहुत से कार्य सम्पन्न किए जाते हैं। ये कार्य इतने प्रभावपूर्ण होते हैं कि विद्यार्थी को अनायास ही विद्याभ्यास के लिए प्रेरित कर देते हैं। वर्तमानकाल में यह विधि पूर्णतया सुरक्षित है या नहीं? कहना कठिन है, किन्तु इतना अवश्य है कि इसकी मौलिकता इतिहास के पृष्ठों पर सदैव अक्षुण्ण रहेगी।

उपसंहार

लिपि में प्रयुक्त होने वाले अक्षरों से जिस संस्कार का श्रीगणेश किया जाएं, उसे अक्षरारम्भ या विद्यारम्भ-संस्कार कहते हैं। यह संस्कार बालक को विद्याध्ययन करवाने के लिए किया जाता है। विद्या मनुष्य की असली पहचान है। इस दुनियाँ में प्रत्येक मानव का विकास या ह्रास विद्या को ग्रहण करने अथवा ग्रहण नहीं करने पर आधारित है। सृष्टि के समस्त प्राणियों में मानव-जाति का सर्वोपरि स्थान है। उसका केवल एक ही कारण है उसकी ज्ञानार्जन क्षमता। यदि मनुष्य के पास विद्या न हो, तो अन्य प्राणी भी उससे अधिक सम्मानित हो सकते हैं, किन्तु यथार्थ में वैसा है नहीं।

हम देखते हैं कि जो व्यक्ति सुशिक्षित होता है, उसे ही समाज में उच्च पद पर बिठाया जाता है, उसे सर्वत्र अग्रिम स्थान मिलता है, उसकी महिमा एवं गरिमा दिन-दुगनी बढ़ती चली जाती है। वह परिवार से लेकर राष्ट्र तक शान्ति,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समता, एकता, समन्वयशीलता आदि गुणों को स्थापित करने में सक्षम होता है। इस संस्कार के पीछे न केवल अक्षरज्ञान या पुस्तकीय-ज्ञान करवाने का उद्देश्य रहा हुआ है, अपितु जीवन निर्माण से लेकर राष्ट्र निर्माण की भावनाएँ भी निहित हैं। शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य यही कहलाता है।

आधुनिक शिक्षा पद्धति विचारणीय है। आज की शिक्षा में 'विद्या ददाति विनयम्'' वाली शिक्षाएँ लुप्त होती जा रही हैं। अब अध्यापक वर्ग भी व्यावसायिक दृष्टि से पढ़ाते हैं। गुरुकुलों की व्यवस्था समाप्त-सी हो रही हैं। शिक्षा एक व्यवसाय या उद्योग बन गया है। यहाँ विद्याध्ययन संस्कार के सम्बन्ध में जो विधि-विधान कहे गए हैं, वे गुरुकुल की अपेक्षा से निर्दिष्ट हैं और वही प्रणाली इस संस्कार को सार्थकता प्रदान कर सकती है।

अतः कहा जा सकता है कि भारतीय संस्कृति में विद्यारम्भ संस्कार सभी संस्कारों में प्रमुख है तथा मनुष्य में मनुष्यत्व का विकास करना यही इस संस्कार का चरम लक्ष्य है।

सन्दर्भ-सूची

1. (क) *भगवती, अंगसुत्ताणि, 11/11/156*
   (ख) *ज्ञाताधर्मकथा, अंगसुत्ताणि, 1/84*
   (ग) *औपपातिक, मधुकरमुनि, पृ. 10*
   (घ) *राजप्रश्नीय, मधुकरमुनि, पृ. 280*
2. *हिन्दूसंस्कार, पृ. 137*
3. *वही, पृ. 138-39*
4. *वही, पृ. 137*
5. *षोडश संस्कार विवेचन, श्रीरामशर्मा आचार्य, पृ. 8-1*
6. *वही, पृ. 8-2*
7. *आचारदिनकर, पृ. 30*
8. *हिन्दूसंस्कार, पृ. 141*
9. *आचारदिनकर, पृ. 30*
10. *जैनसंस्कारविधि, पृ. 12*
11. *धर्मशास्त्र का इतिहास, भा.-1, पृ. 206*
12. *जैनसंस्कारविधि, पृ. 12*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

13. वीरमित्रोदयसंस्कार, भा.-1, पृ. 321
14. हिन्दूसंस्कार, पृ. 140-41
15. आचारदिनकर, पृ. 31
16. वही, पृ. 30-31
17. (क) आदिपुराण, पर्व-38, पृ. 248
    (ख) जैनसंस्कारविधि, पृ. 12-13
18. इससे हिन्दू-संस्कारों पर जैन धर्म का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।
19. (क) हिन्दूसंस्कार, पृ. 141-42
    (ख) मुसलमानों में भी अक्षरारम्भ संस्कार किया जाता है। इसे 'विस्मिल्ला खानि' कहा गया है। यह संस्कार विधि पाँचवे वर्ष के चौथे मास के चौथे दिन की जाती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अध्याय - 15

विवाह संस्कार विधि का त्रैकालिक स्वरूप

विवाह, सामाजिक व्यवस्था का अमूल्य अंग है। इसी के आधार पर सम्पूर्ण सामाजिक संरचना निर्भर करती है। इसी कारण विवाह संस्कार को अद्वितीय एवं सम्मानजनक स्थान प्राप्त है। यह एक ऐसा संस्कार है, जो आज भी सभी वर्णों में किसी न किसी रूप में प्रचलित है और समारोह पूर्वक सम्पन्न किया जाता है। यह गृहस्थ धर्म का आधारभूत संस्कार है। यदि इसकी मर्यादा का सही रीति से निर्वाह किया जाए, तो यह केवल दैहिक आवश्यकता की परिपूर्ति ही नहीं करता, अपितु नैतिक एवं सामाजिक व्यवस्था में भी सहायक बनता है।

श्वेताम्बर परम्परा में चौदहवाँ संस्कार विवाह नाम का है, जबकि दिगम्बर में चौदहवाँ उपनीति नाम का एवं वैदिक परम्परा में केशान्त नाम का संस्कार माना गया है। यदि तुल्य अर्थ की दृष्टि से देखें, तो विवाह संस्कार श्वेताम्बर परम्परा में चौदहवें, दिगम्बर परम्परा में सोलहवें एवं वैदिक परम्परा में पन्द्रहवें स्थान पर है।

विवाह शब्द का पारिभाषिक अर्थ

• विवाह-'वि' उपसर्ग पूर्वक, 'वह' धातु में 'घञ्' प्रत्यय के योग से बना है। विवाह का अर्थ है-विशेष प्रकार से वहन करना अर्थात विशेष प्रकार से पारस्परिक दायित्वों का वहन करना विवाह है।

• विवाह का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है- *'विशेषेण वाह्यते इति विवाहः'* अर्थात जो विशेष प्रकार से वहन किया जाता है, वह विवाह है। अथवा विशिष्ट प्रकार से पारस्परिक सम्बन्धों को वहन करना विवाह है। यदि हम इस अर्थ की कुछ विस्तृत व्याख्या करें तो दो प्रश्न उपस्थित होते हैं कि किसे और किस प्रकार से वहन करना? इन दोनों प्रश्नों दैहिक सम्बन्ध या काम-भोग की दृष्टि से ही विचार नहीं करना है। भारतीय संस्कृति में इसकी व्याख्या जन्म-जन्मान्तर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के सम्बन्ध के रूप में की गई है। इस सम्बन्ध में भौतिक जीवन दृष्टि वह है जिसका प्रारम्भ, मध्य एवं अवसान इसी धरती पर होता है जैसे- पुरूष-स्त्री का यौन सम्बन्धों के आधार पर एक सामाजिक-रेखा के अन्दर बंधना, सांसारिक भोग विलास में रत रहना, संतानोत्पादन करना, गृहस्थ धर्म का संचालन करना, सामाजिक- दायित्वों का पालन आदि। इन्हीं बिन्दुओं के परिप्रेक्ष्य में 'विशेष' और 'वहन' शब्द का अर्थ निर्णीत करना है। सामान्यतया विवाह-संस्कार के द्वारा इन दायित्वों को एक उत्तम तरीके से सम्पादित करना विशेष वहन करना माना जा सकता है।[1]

- सायण ने विवाह शब्द की निरूक्ति इस प्रकार की है– *'तदिदं विपर्यासेन सम्बन्धनयनं विवाहम्'* अर्थात परस्पर विरूद्ध स्वभावी दो मौलिक शक्तियों का विश्वकल्याण के उद्देश्य से अन्योन्य सम्बन्ध स्थापित करना 'विवाह' है।

- विवाह की पर्याय वाच्यार्थ कुछ परिभाषाएँ निम्न हैं– उद्वाह-इसका अर्थ है, कन्या को ऊपर ले जाना। विवाह अर्थात कन्या को विशेष प्रयोजन से ले जाना। परिणय-इसका अर्थ है, किसी के साथ परिक्रमा करना या अग्नि की प्रदक्षिणा देना या प्रेम करना। उपयम-इसका अर्थ है, सन्निकट ले जाना और अपना बना लेना। पाणिग्रहण-इसका अर्थ है, हाथ पकड़ना।[2] यद्यपि ये पर्याय नाम विवाह-संस्कार का केवल एक-एक पक्ष ही बताते हैं, तथापि इन शब्दों का प्रयोग विवाह के अर्थ में हुआ है। इस प्रकार विवाह शब्द के अनेक अर्थ हैं।

- जैन परम्परानुसार विवाह की किंचिद् परिभाषाएँ निम्नोक्त हैं– तत्त्वार्थराजवर्त्तिक में सातावेदनीय और चारित्रमोहनीय के उदय से विवहन, अर्थात कन्यावरण करने को विवाह कहा गया है।[3] आचार्य सोमदेव ने नीतिवाक्यामृत में कहा है कि अग्नि, वीतरागी देव और द्विज(प्रतिष्ठाचार्य) की साक्षी पूर्वक पाणिग्रहण क्रिया का सम्पन्न होना विवाह है।[4]

- भारतीय मान्यतानुसार विवाह संस्कार की कतिपय परिभाषाएँ इस प्रकार हैं–

1. जिससे संस्कृत होकर मानव विशेषतः वेद, लोक, प्रजा और धर्म इन चार भावों की कृतकृत्यता सम्पादन करने में समर्थ होता है, वह विवाह संस्कार है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2. जिस संस्कार के बल से मानव अपने गृहस्थ प्रंपच के साथ संयुक्त करने में समर्थ होते हैं वही संस्कार 'विवाह संस्कार' है।
3. जिस संस्कार से संस्कृत होने पर शरीर के पृथक्-पृथक् रहने पर भी संस्कृत दो व्यक्तियों की आत्मा एक बन जाती है, वह विवाह संस्कार है। लौकिक दृष्टि से देखें तो विवाह एक लौकिक कर्म है, वैषयिक तृप्ति का साधन मात्र है, परन्तु प्रबुद्ध मानव की दृष्टि में 'विवाह' एक अलौकिक सम्बन्ध है, जो कभी किसी भी उपाय से विच्छिन्न नहीं किया जा सकता।
4. जिस संस्कार के बल से मानव मानवी मात्र में निसर्गतः प्रवृत्त अपने राग को एक मानवी में और मानवी मानव मात्र में निसर्गतः प्रवृत्त अपने राग को एक मानव में नियन्त्रित करने हेतु समर्थ हो सके, वही विवाह संस्कार है।
5. जिस संस्कार के बल से लौकिक राग को दिव्य राग में परिणत किया जा सके, वही दिव्य संस्कार विवाह संस्कार है।

लौकिक प्रेम आसक्ति है और अलौकिक प्रेम भक्ति है। लौकिक आसक्ति संसार है और ईश्वर में आसक्ति भक्ति है। भक्ति ही मुक्ति है।

लौकिक आसक्ति का तिरोभाव एवं अलौकिक आसक्ति का आविर्भाव–ब्रह्मचर्य, संयम, सेवा और सदाचार जैसे दिव्य गुणों से ही सम्भव है। इन दिव्य गुणों के प्रकटीकरण में विवाह ही सहकारी होता है। इस तरह महर्षि वात्स्यायन ने विवाह को मुक्ति का पारम्परिक कारण माना है।

6. जिस संस्कार से समाज व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य, कुटुम्ब-स्वातन्त्र्य, समाज-स्वातन्त्र्य, राष्ट्र-स्वातन्त्र्य, विश्व-स्वातन्त्र्य रक्षा की ओर उन्मुख हो सकें, वही विश्व रक्षक संस्कार विवाह संस्कार है।[5]

वेदों में तन्त्र शब्द का अर्थ मर्यादा किया है अतः अपनी-अपनी नैसर्गिक मर्यादा ही अपना स्वातन्त्र्य है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि प्रत्येक दशा में विवाह संस्कार के अर्थ को घटित किया जा सकता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विविध संस्कृतियों में विवाह का स्वरूप

विवाह दो आत्माओं का पवित्र बन्धन है। इसके द्वारा दो प्राणी अपने अलग अस्तित्वों को समाप्त कर एक सम्मिलित इकाई का निर्माण करते हैं। संसार के प्रत्येक व्यक्ति में खुबियाँ और खामियाँ दोनों तत्त्व रहे हुए हैं। विवाह द्वारा एक-दूसरे की अपूर्णताओं को अपनी विशेषताओं से पूर्ण किया जाता है। इससे व्यक्ति के समग्र व्यक्तित्व का निर्माण होता है, इसलिए विवाह को सामान्यतया मानव जीवन की एक आवश्यकता माना गया है।

एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि धर्मनीति, समाजनीति एवं लोकनीति की मर्यादाओं को अस्वीकार करते हुए अनियंत्रित रीति से स्वेच्छाचार करना 'स्वच्छन्दता' है जबकि इन्हीं मर्यादाओं को विवेक पूर्वक स्वीकार करते हुए नियंत्रित जीवन जीना 'स्वतन्त्रता' है। दोनों मे गति तो है, किन्तु अन्तर नियंत्रण का है। जैसे वाहन चालू (गति में) है, परन्तु उसका नियंत्रक (ड्राइवर) न हो, तो वह स्व-पर के लिए घातक सिद्ध होता है, इसी प्रकार अमर्यादित जीवन यात्रा भी व्यक्ति के स्वयं के लिए एवं सम्पर्क में आने वाले अन्य व्यक्तियों के लिए भी घातक सिद्ध होती है अतः विवाह मर्यादित जीवन शैली का साक्षात स्वरूप है।

यह एक ऐसा संस्कार है, जो पति-पत्नी के जीवन रूपी गाड़ी को गृहस्थ धर्म रूपी पटरियों पर मर्यादित करके गतिशील रखता है। जब तक नर या नारी, पति और पत्नी के धर्म की मर्यादाओं का पालन करते हैं, उनकी गाड़ी कभी पटरी से नहीं उतरती है बल्कि वे धर्म, अर्थ एवं काम रूपी लक्ष्यों को प्राप्त करते हुए मोक्ष रूपी परम लक्ष्य को भी प्राप्त कर सकते हैं।

भारतीय संस्कृति में विवाह को एक संस्कार के रूप में माना है, जबकि आधुनिक जगत में इसे 'विषय भोग का वैधानिक प्रमाण पत्र' मानते हैं। यह दृष्टि बदलाव का कारण है और इन दोनों के परिणाम भी स्पष्ट हैं। एक में निष्ठा, सहयोग और समर्पण के साथ पारस्परिक विश्वास एवं एक दूसरे की मनोभावनाओं का सम्मान करते हुए चतुर्विध पुरूषार्थ की साधना करते हैं, जबकि दूसरे में 'प्रमाण पत्र' के रूप में स्वीकार करने वाले दम्पति कई बार इस प्रमाण पत्र को बदल लेते हैं, लेकिन यथार्थ में विवाह-सेवा, समर्पण एवं विश्वास की एक अनुगूंज है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भारतीय परम्परा में विवाह के आयोजन में अनेक प्रकार की औपचारिकताएँ एवं अनुष्ठान किए जाते हैं। यह दाम्पत्यसूत्र में बंधने वाले युगल को मनोवैज्ञानिक रूप से एक-दूसरे के प्रति निष्ठावान बनाते हैं। जो इनकी मनोवैज्ञानिकता को नहीं समझ पाते हैं, वे लोग(आधुनिक पीढ़ी) इन्हें 'व्यर्थ का आडंबर', 'ढकोसला' और 'समय एवं धन की बरबादी' जैसी उपाधियाँ प्रदान करते हैं। वे 'फास्टफूड' की तरह 'इंस्टंट मैरिज' की ओर अधिक ध्यान देने लगे हैं, किन्तु इनके परिणाम सुन्दर नहीं आते। प्रत्येक औपचारिकता एवं अनुष्ठान का भी अपना एक उद्देश्य और महत्त्व होता है। जैसे माँ या पत्नी द्वारा बनाया हुआ भोजन हो, उसमें केवल भोजन के रस ही नहीं होते, बल्कि आत्मीयता, स्नेह एवं अपनत्व की भावनाएँ भी होती हैं, इसी प्रकार भारतीय पद्धति के अनुसार विवाह संबंधी अनुष्ठान दाम्पत्य जीवन में आध्यात्मिक सरसता के संस्कारों का निर्माण करते हैं, जिनका माधुर्य यावज्जीवन बना रहता है और इसीलिये विवाह माधुर्य भावों में बंधने का एक अमोघ सूत्र है। गृहस्थ जीवन की सार्थकता के लिए विवाह एक सुपरिचित एवं मर्यादित संस्था है। अच्छे संस्कारित जीवन के लिए आत्म धर्म और लोकधर्म इन दोनों का पालन करना अत्यावश्यक है तथा लोक धर्म का पालन संस्कारित विवाह सम्बन्ध पर निर्भर है। गृहस्थ जीवन में रहते हुए धर्म, अर्थ, काम-इन तीन पुरूषार्थों को प्राप्त करना संभव है अत: भारत की सभी प्राचीन परम्पराओं में धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक समन्वय के लिए विवाह को आवश्यक विधान माना है।[6]

सागारधर्मामृत में कहा गया है कि 'विवाह में उत्तम कन्या का सम्बन्ध साधर्मी व्यक्ति के साथ करने पर उसे धर्म, अर्थ एवं काम की पूर्ति करने वाला गृहस्थाश्रम प्रदान किया जाता है, क्योंकि विद्वज्जन गृहिणी को ही घर कहते हैं, दीवार और छप्पर को नहीं।[7]

समाहारतः विवाह एक मर्यादित जीवन जीने की उत्तम संस्था है, लोक धर्म पालन का मुख्य केन्द्र है और तीन पुरूषार्थों को समन्वित रूप में साधने का अमोघ उपाय है। साथ ही धार्मिक, पारिवारिक एवं सामाजिक-गतिविधियों को सुव्यवस्थित रूप देने का एक प्रमुख साधन है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विवाह संस्कार की आवश्यकता विभिन्न संदर्भों में

भारतीय संस्कृति में विवाह एक धार्मिक संस्कार है। यह धर्म धारक, संस्कार शोधक एवं गुणाधायक तत्त्व है। संस्कार के दो अर्थ ये भी हैं- मलापकर्षण तथा गुणातिशय का आधान। इस परिभाषा के अनुसार स्त्री-पुरूष के अन्तःकरण की मलिनता या कषाय भावना का निराकरण करके उनमें सतीत्व, संयम, विशुद्ध अनुराग एवं धर्मानुष्ठान आदि गुणों का आधान करना यही विवाह संस्कार का उद्देश्य है। यद्यपि प्रजा उत्पादन विषयक भावना भी इसमें निहित होती है, तथापि वह धर्म के विरूद्ध नहीं होती। भारतीय राजनीति में यह क्रम बताया गया है कि धर्म से अर्थ, अर्थ से काम और काम से सुख का उदय होता है। जो धर्म और अर्थ का त्याग करके केवल काम परायण होता है, वह अपनी ही हानि कर बैठता है, अतएव यह संस्कार धर्म पुष्टि के लक्ष्य से किया जाता है।

यदि इस संस्कार की आवश्यकता के पीछे और भी अन्य कारणों को ढूंढा जाए तो प्रतिफलित होता है कि सामाजिक एवं पारिवारिक-जीवन का समुचित ढंग से निर्वाह करने के लिए यह एक आवश्यक अंग है। इस संस्कार के माध्यम से सहिष्णु एवं कर्मशील समाज की स्थापना होती है। सदाचारी और संयमनिष्ठ समाज का निर्माण होता है, आत्मा की उन्नति होती है, पति-पत्नी में उत्पन्न होने वाला प्रेम पवित्र होता है, संतान धर्मनिष्ठ बनती है। यह इस संस्कार की आवश्यकता का प्रथम कारण कहा जा सकता है। भारतीय परम्परा में प्रत्येक व्यक्ति के लिए चार आश्रमों की व्यवस्था की गई है, उनमें से दूसरा आश्रम गृहस्थाश्रम है। इस आश्रम में प्रवेश करने के लिए विवाह एक अनिवार्य शर्त रूप है, अतः गृहस्थाश्रम का संचालन करने हेतु यह संस्कार किया जाता रहा है।

हिन्दू परम्परा के स्मृति ग्रन्थों में तो पुरूष को अनिवार्य रूप से विवाह करने का निर्देश दिया गया है क्योंकि इसके अभाव में वह अपत्नीक पुरूष अयज्ञीय कहलाता है, जो उसके लिए अत्यन्त निन्दा सूचक शब्द माना जाता रहा है। विवाह के अभाव में उसे धार्मिक क्रियाओं का अधिकारी भी नहीं माना जाता है, अतः इस अधिकार को प्राप्त करने के उद्देश्य से भी यह संस्कार किया जाता है।[8]

इस संस्कार का एक कारण वंश परम्परा को अक्षुण्ण रखना भी समझा जा सकता है, क्योंकि स्वच्छंद यौन सम्बन्धों में वंश या कुल परम्परा को बनाए

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रखना संभव नहीं है। साथ ही हिन्दू परम्परा में *'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति'* के अनुसार पुत्र की प्राप्ति हेतु विवाह आवश्यक है। स्मृति ग्रन्थों के आधार पर आश्रम व्यवस्था को ईश्वरीय विधान माना गया है और फलस्वरूप उसका पालन करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए धार्मिक कर्त्तव्य बनता है अत: इस कर्त्तव्य का परिपालन करने हेतु यह संस्कार अनिवार्य रूप से किया जाता होगा। व्यक्तित्व-विकास के लिए भी गृहस्थाश्रम अनिवार्य माना गया है।

गृहस्थाश्रम(विवाह) की आवश्यकता को रेखांकित करते हुए मनुस्मृतिकार ने कहा है- आयु का आद्य भाग गुरुकुल में, द्वितीय भाग विवाहयुक्त गृहस्थाश्रम में, तृतीय भाग वन में और चतुर्थ भाग के समय समस्त सांसारिक संगों का त्यागकर संन्यास ग्रहण कर लेना चाहिए।'[9] हारीत ने कहा है- जो व्यक्ति उक्त विधि के अनुसार आश्रमों का पालन करता है, वह समस्त लोकों पर विजय प्राप्त कर ब्रह्मलोक प्राप्त करने में समर्थ होता है।

दक्ष के अनुसार– प्रथम तीन आश्रमों का व्यतिक्रम नहीं किया जा सकता। जो इसके विपरीत आचरण करता है, उससे अधिक पापी संसार में कोई नहीं है।[10] अस्तु, विवाह संस्कार सामाजिक संगठन का मूल केन्द्र है। जिस प्रकार समस्त जन्तु अपने जीवन के लिए वायु पर आश्रित हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण आश्रम गृहस्थाश्रम पर आधारित हैं। इस दृष्टि से भी विवाह संस्कार की आवश्यकता सिद्ध होती है।

यदि हम प्राचीन काल पर दृष्टिपात करते हैं, तो ज्ञात होता है कि आरम्भ में वंश की अक्षुण्णता बनाए रखने के लिए सन्तानोत्पत्ति ही विवाह का प्रमुख उद्देश्य था। देवताओं की पूजा और पितरों का श्राद्धकर्म सन्तान पर ही अवलम्बित था, जो केवल विवाह द्वारा ही किया जा सकता था। शनैः शनैः विवाह के लिए सामाजिक और आर्थिक कारण भी अपेक्षित बन गए, किन्तु आज तो कामवासना की संतुष्टि ही अधिक महत्त्वपूर्ण हो गई है। यह भी विवाह संस्कार की आवश्यकता को परिपुष्ट करता है।

यदि हम अन्य धर्मों एवं अन्य देशों के आधार पर इस संस्कार की आवश्यकता को व्याख्यायित करना चाहें, तो उसके प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं। यूनान में विवाह को अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखा जाता है और उसे एक पवित्र संस्कार समझा जाता है। उनका मानना है कि विवाह द्वारा वंश-परम्परा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अक्षुण्ण रहती है, सम्पत्ति के उत्तराधिकारी की समस्या का समाधान हो जाता है और पितरों के श्राद्ध की परम्परा भी अविच्छिन्न रूप से चलती रहती है, अतः अविवाहित रहना पूर्वजों के विरूद्ध एक पाप एवं अपराध है। एथेन्स में यह भावना इतनी बद्धमूल हो गई है कि एक अधिनियम द्वारा नगर के प्रथम शासक को इस बात की देखभाल करने का आदेश दिया जाता है कि कहीं कोई वंश उच्छिन्न न हो जाए।[11] प्लूटार्क लिखता है कि स्पार्टा में अविवाहित व्यक्ति अनेक अधिकारों से वंचित कर दिया जाता है और युवक अविवाहित वयोवृद्धों का आदर नहीं करते हैं। अन्य राष्ट्रों की भाँति रोम भी विवाह को महत्त्वपूर्ण मानता है तथा सार्वजनिक दृष्टि से अविवाहित रहने को अवांछनीय समझता है।

ईसाई धर्म के एक नेता ने लिखा है– 'भ्रष्टाचार के निरोध के लिए प्रत्येक पुरूष की अपनी पत्नी होनी चाहिए और प्रत्येक स्त्री का अपना पति। यदि अविवाहित पुरूष और स्त्रियाँ संयम-सदाचार एवं शीलमय जीवन का पालन कर सकें तो अति उत्तम है, किन्तु उनमें यह क्षमता न हों, तो विवाह कर लेना चाहिए, क्योंकि भ्रष्टाचार व अन्तर्दाह की अपेक्षा विवाह ही अच्छा है।'[12]

इस विवेचन से फलित होता है कि वंश परम्परा को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए, कुछ सामाजिक अधिकारों को प्राप्त करने के लिए, पारिवारिक दायित्वों का समुचित रूप से निर्वहन करने के लिए, एक उन्नत एवं सदाचारमय समाज की स्थापना करने के लिए, भ्रष्टाचार और स्वच्छंदता की परम्परा को रोकने के लिए तथा गृहस्थाश्रम का परिपालन करने के लिए विवाह-संस्कार की आवश्यकता महसूस की गई और वह उक्त सभी दृष्टियों से अर्थ पूर्ण है। इस आधार पर विवाह शारीरिक ही नहीं, एक भावनात्मक सम्बन्ध भी है। इसके साथ यह समझ लेना भी जरूरी है कि शारीरिक सम्बन्ध भावनात्मक सम्बन्धों के बिना अपूर्ण है।

विवाह संस्कार की प्राचीनता

सभी परम्पराओं में विवाह संस्कार को एक पवित्र संस्कार के रूप में माना गया है। यह गृहस्थ जीवन की एक उत्तम संस्था मानी गई है। इस संस्कार के माध्यम से बहुत से उद्देश्यों एवं प्रयोजनों को पूर्ण किया जाता है। जब हम इस संस्कार के उद्भव, विकास एवं प्राचीनता को लेकर विचार करते हैं, तो यह संस्कार जैन एवं वैदिक-दोनों परम्पराओं की अपेक्षा से प्राचीनतम सिद्ध होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन परम्परा के भगवती, प्रश्नव्याकरण, औपपातिक, राजप्रश्नीय[13] आदि आगम ग्रन्थों में विवाह संस्कार को उत्सव-आयोजन पूर्वक सम्पन्न करने के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। जैन मान्यतानुसार इस युग में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव भगवान ने इस संस्कार का प्रारम्भ किया था। वैदिक परम्परा के आश्वलायन, पारस्कर, बौधायन आदि गृह्यसूत्रों में विवाह को पहला संस्कार कहा गया है अर्थात इस संस्कार को सोलह संस्कारों में पहला स्थान दिया है। गृह्यसूत्रों की अवगणना वैदिक परम्परा के प्राचीन ग्रन्थों में की जाती है। इस दृष्टि से वैदिक परम्परा में भी यह संस्कार अति प्राचीनकाल से किया जाता रहा है-ऐसा सिद्ध होता है।

इस सम्बन्ध में यह कह पाना मुश्किल है कि इसका उद्भव कब और किन परिस्थितियों में हुआ। यद्यपि वैदिक ग्रन्थों एवं जैन धारणाओं के आधार पर यह कह सकते हैं कि इस संस्कार का उद्भव न केवल यौन सम्बन्धों को लेकर हुआ अपितु संतान प्राप्ति के आदर्श की पृष्ठभूमि मुख्य थी। विवाह के उद्भव के मूल में संभवतः यौन-सम्बन्धों का नियंत्रण और पारिवारिक सुरक्षा संबंधी कारण भी रहे हैं।

विवाह संस्कार के मूलभूत उद्देश्य

विवाह गृहस्थाश्रम का सर्व प्रमुख संस्कार है। इस संस्कार के मुख्य तीन उद्देश्य हैं– 1. अनर्गल प्रवृत्ति का निरोध 2. सन्तानोत्पत्ति द्वारा वंश की रक्षा एवं 3. भगवत्प्रेम का अभ्यास अर्थात इस संस्कार का प्राथमिक उद्देश्य संयम पूर्वक जीवन निर्वाह करते हुए, वंश परम्परा को स्थायित्व प्रदान करना तथा दो आत्माओं के संयोग से उस महती शक्ति का निर्माण करना रहा है, जो दोनों के लौकिक एवं आध्यात्मिक जीवन विकास में सहायक सिद्ध हो सके। विवाह संस्कार का एक उद्देश्य यह भी है कि पति-पत्नी परस्पर एक-दूसरे को अपनी योग्यताओं एवं भावनाओं का आदान-प्रदान करते हुए दो पहियों की तरह प्रगति पथ पर अग्रसर होते चले जाएं। वासना की परिपूर्ति करना दाम्पत्य जीवन का मूल नहीं है। वास्तव में दाम्पत्य जीवन में वासना का अत्यन्त तुच्छ स्थान है, दाम्पत्य का मूल लक्ष्य है-यौन सम्बन्धों का नियंत्रण या संयम।

इस संस्कार का मूलभूत उद्देश्य चारों पुरूषार्थों की प्राप्ति करना भी रहा है। भारतीय दर्शन में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-ये चार पुरूषार्थ चतुष्टय के रूप

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में माने गए हैं। हर एक व्यक्ति के जीवन का यही लक्ष्य होता है कि वह धर्म की प्राप्ति करे, फिर धर्म द्वारा अर्थ का उपार्जन करे, इन दोनों के सहकार से काम की पूर्ति करे और फिर मोक्ष के लिए प्रयत्न करे। इन चारों में धर्म का स्थान सर्वप्रथम है और बाद में अर्थ, काम और मोक्ष का स्थान है। इससे निर्णीत होता है कि धर्म शेष पुरूषार्थ के लिए बीज का काम करता है। एक दृष्टि से यह कह सकते हैं कि धर्म के बिना अर्थ एवं काम की तात्कालिक पूर्ति हो सकती है, किन्तु मोक्ष तो धर्म के बिना प्राप्त नहीं हो सकता है।

इस प्रकार पुरूषार्थ चतुष्टय में धर्म का प्रथम स्थान है। धर्म का अत्यन्त व्यापक अर्थ है। आधुनिक-युग में धर्म को पूजा-पाठ की परिधि के अन्तर्गत मान लिया गया है, यह हमारी भूल है। धर्म शब्द का अर्थ– *'धारयति इति धर्म'* अर्थात जो धारण करें, वही धर्म है।[13] वैवाहिक संस्कार द्वारा पुरूषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति सरलतया हो जाती है। इसके लिए बाह्य प्रयास की अपेक्षा नहीं रहती है, क्योंकि इस संस्कार के माध्यम से इनकी प्राप्ति हेतु एक स्वाभाविक वातावरण स्वत: निर्मित हो जाता है। इस तरह धर्मादि पुरूषार्थ की प्राप्ति करना विवाह संस्कार का श्रेष्ठ उद्देश्य कहा जा सकता है। गृहस्थ धर्म सम्बन्धी नियम मर्यादाओं एवं आचार का समुचित परिपालन करना तथा उन क्रियाकलापों को समझना एवं तदनुसार जीवन यात्रा के पथ को सुगम एवं सुखद बनाना इसका प्रमुख उद्देश्य प्रतीत होता है।

विभिन्न अपेक्षाओं से विवाह संस्कार का महत्त्व

विवाह एक संस्कार है, एक धर्मनीति है, एक लौकिक रिवाज है, जीवन परिष्कार का यज्ञ है, शारीरिक सुखों का केन्द्र है, गृहस्थ जीवन का आश्रय स्थल है। यह संस्कार विभिन्न दृष्टियों से अपना महत्त्व रखता है। संस्कार स्वयं एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। जिस प्रकार खान से निकलने वाले सोने को सोलह ताप देकर शुद्ध सोना बनाया जाता है, उसी प्रकार गर्भ से मृत्यु तक सोलह संस्कारों द्वारा मनुष्य के जीवन को सुसंस्कारित किया जाता है। जैसे मिट्टी के कच्चे घड़े को अग्नि द्वारा संस्कारित करके उसे पकाया जाता है और पाषण या धातु की प्रतिमा को मंत्रों द्वारा संस्कारित करके उसमें भगवान् की प्रतिष्ठा की जाती है, वैसे ही विवाह आदि प्रसंगों के माध्यम से मन्त्रोच्चार पूर्वक मनुष्य के जीवन को संस्कारित किया जाता है, अतएव जीवन की विकास यात्रा के लिए संस्कारों का महत्त्व स्वीकारना होगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धार्मिक दृष्टि से– भारतीय संस्कृति नारी को गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। नारी को पूज्य के रूप में स्वीकारा गया है। वय क्रम के आधार पर अपने से छोटी स्त्री को 'बेटी' समान वय वाली को 'बहन' और अधिक वय वाली को 'माता' शब्द से सम्बोधित करते हैं। यह अवधारणा जीवन व्यवहार में आज भी दृष्टिगोचर होती है। इस अवधारणा का आधार नारी के शील और सम्मान की रक्षा करना है। एक प्रसिद्ध मुस्लिम नेता ने भारतीय विवाह पद्धति के धार्मिक स्वरूप को प्रस्तुत करते हुए कहा है-"जैन और हिन्दू संस्कृति में स्त्री-पुरूष का विवाह उनके शरीरों से नहीं होता, उनकी आत्माओं से होता है। शरीर तो नष्ट हो जाते हैं, किन्तु उनके मत में आत्मा अमर है, इसलिए उनका प्रेम मरता नहीं है। उनमें तलाक की प्रथा नहीं है। एक बार विवाह होने पर जीवन पर्यन्त बना रहता है।[14]"

दूसरी ओर, मुसलमानों में निकाह दो शरीरों के बीच होता हैं। वह सम्बन्ध स्थाई नहीं होता। वहाँ तलाक की प्रथा है। तीन बार तलाक शब्द कहने मात्र से सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाते हैं। यही कारण है कि पति-पत्नी के सम्बन्धों में न तो स्थायित्व रहता है और न ही दाम्पत्य-निर्वाह का गुण ही मौजूद रहता है। यूरोप में विवाह एक समझौता है। वहाँ पहले प्रेम होता है, तब विवाह होता है। हमारे देश में पहले विवाह होता है, फिर प्रेम होता है। समझौता एवं तलाक की भावना लेकर चलने वालों में एक-दूसरे के प्रति समर्पण के भाव के विकास की दृष्टि हो नहीं सकती। वैवाहिक सम्बन्ध के बिना संतान का असली पिता कौन है? यह पता लगाना भी मुश्किल हो जाता है, तब वे पिता अपने बच्चों के प्रति किस प्रकार कर्त्तव्य निभा सकते हैं? जबकि भारतीय संस्कृति में विवाह को एक धार्मिक अनुष्ठान के रूप में स्वीकारा गया है।

यहाँ विवाह धार्मिक विधि-विधान से होता है। आज यूरोपियन सभ्यता में दो दोस्तों के करार से अधिक विवाह का कोई महत्त्व नहीं रह गया है। चूंकि वह संस्कृति भोग पर केन्द्रित है, अतः वहाँ विवाह एक सौदा बन गया है, किन्तु प्राचीनकाल में वहाँ भी विवाह जीवन पर्यंत का सम्बन्ध होता था। ईसाई धर्म भी विवाह को त्याग एवं समर्पण का प्रतीक ही मानता है। भारतीय संस्कृति में विवाह संस्कार को धार्मिक इसलिए माना जाता है कि यहाँ स्त्री एक मात्र पति के प्रति समर्पित होती है, अन्य पुरूष की मन से भी इच्छा नहीं करती, क्योंकि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धार्मिक-विधानों के अनुसार इससे स्त्री के शील का विनाश होता है। जब तक स्त्री की लज्जा और उसका शील सुरक्षित है, तभी तक स्त्री धर्मपत्नी, पतिव्रता और सती कहलाती है।

भारतीय परम्परा में नारी 'सप्तपदी' के द्वारा अग्निदेवता और पंचों की साक्षी में जिस पुरूष के साथ विवाह करती है, उसे ही सर्वस्व के रूप में स्वीकार करती है। इतिहास साक्षी है कि मुस्लिम शासकों ने जब-जब हिन्दू राजाओं पर आक्रमण किया वे राजा प्रजा के साथ जी-जान से युद्ध के मैदान में कूद पड़े और उनकी रानियाँ एवं नगर की कुलवधुएँ अपने शील की रक्षा के लिए जलती हुई चिताओं में कूद पड़ी। लाखों नारियों ने लपलपाती हुई अग्नि ज्वाला में हँसते-हँसते अपने प्राणों का उत्सर्ग कर दिया। असलियत में हिन्दू-नारियों की सोच यह थी कि 'पति युद्ध में वीर गति को प्राप्त करेंगे, शत्रुओं से अपने शील की रक्षा करना कठिन होगा' इसलिए जलती चिताओं में कूदकर वे अपने प्राणों को गंवा देती थी। इस प्रकार वे प्राणों से भी मूल्यवान् अपने शील की रक्षा को मानती थी। विवाह का धार्मिक महत्त्व इसी कारण माना गया है कि वह भोग का नहीं, कामवासना के संयम का प्रतीक है।

जैन धर्म ने विवाह संस्कार की शुद्धता को बनाए रखने के लिए यह तर्क दिया है कि पर पुरूष के साथ संसर्ग करने से रक्तशुद्धि या पिण्डशुद्धि नहीं रह सकती, अतएव भारतीय परम्परा में विवाह का सम्बन्ध धर्म, सदाचार, शील एवं निष्ठता से रहा है।

नैतिक दृष्टि से– विवाह संस्कार सम्पन्न होने के बाद गृहस्थ धर्म का आरम्भ होता है। गृहस्थ धर्म विशुद्ध आचार और पवित्र जीवन का शुभारम्भ है। भुक्ति और मुक्ति, प्रवृत्ति और निवृत्ति-ये दो धाराएँ प्राच्यकालीन है। इनमें भुक्ति मार्ग गृहस्थ धर्म से सम्बन्धित है और वह प्रवृत्तिमार्गी होने के बावजूद भी इस धारा में इतनी नैतिकता और पवित्रता है, जो स्वयं निवृत्तिधारा में परिवर्तित हो सकती है।

गृहस्थ जीवन विशाल संभावनाओं से भरा पूरा है। सामाजिक व्यवस्था और सांस्कृतिक विरासत की सुरक्षा गृहस्थ ही सुगमता पूर्वक कर सकता है। यह विवाह धर्म सागार धर्म कहलाता है। न्याय नीतिपूर्वक धर्म का पालन भी अनेक उपलब्धियों में हेतुभूत बनता है। इसके परिणाम स्वरूप परिवार और वंश

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परम्परा को स्थायित्व प्राप्त होता है। तीर्थंकरों के माता-पिता होने का गौरव भी इसी धर्म द्वारा प्राप्त है। इस दृष्टि से पाणिग्रहण द्वारा आरम्भ होने वाला गृहस्थ जीवन सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास की अटूट गाथा है। दाम्पत्यसूत्र में बंधने के बाद गृहस्थ धर्म के नीति-नियमों का पालन करने वाला व्यक्ति चारित्रिक विकास के चरम सोपानों को हासिल कर सकता है। व्यक्ति 'पाणिग्रहण' के समय कुछ नीति-नियमों के पालन करने की शपथ भी ग्रहण करता है। वह नियम अग्नि की साक्षी में लिया जाता है, उसके बाद उन्हें न तोड़ा जा सकता है और न ही वापस लिया जा सकता है। मन, वचन और काया से इसे जीवन पर्यन्त निभाना होता है। इसे निभाने की प्रक्रिया में पति-पत्नी दोनों को नैतिकता का पालन करना होता है। उन्हें निरन्तर यह विश्वास बना रहता है कि उनका जीवन परस्पर समर्पित है। पत्नी पति एक-दूसरे के लिए पूरक है। किसी एक के बिना दूसरे का जीवन अपूर्ण है। दोनों एक ही रथ के दो पहिए हैं और जब ये दोनों चक्र नैतिक मर्यादापूर्वक समान रूप से चलते रहें तो गृहस्थ अपने जीवन के गन्तव्य पारिवारिक सुख समृद्धि को प्राप्त कर सकता है। इस तरह वैवाहिक जीवन में नैतिक-सिद्धान्तों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा हुआ है।

दार्शनिक दृष्टि से– दार्शनिक सिद्धान्तानुसार सृष्टि की संरचना के लिए प्रकृति और पुरूष दोनों का समन्वय होना अत्यन्त आवश्यक है। सांख्य दार्शनिकों ने सृष्टि हेतु प्रकृति एवं पुरूष के प्रदेय की व्याख्या की है। स्त्री प्रकृति स्वरूपा होती है वही पुरूष पुरूष स्वरूप होता है। इन दोनों के सहयोग से मानव-जाति का विकास होता है। इस प्रकार संतानोत्पत्ति की प्रक्रिया, जो सृष्टि का बीज है, इसकी भूमिका विवाह संस्कार से बनती है तथा जो भी संस्कार शास्त्रों द्वारा निर्दिष्ट हैं, वे सारे के सारे आधेय हैं और उनका आधार विवाह संस्कार है। इस तरह संतानोत्पत्ति इस संसार का बहुत ही अनिवार्य अंग है, जिसका सम्पादन विवाह संस्कार द्वारा ही संभव हो पाता है।[15]

पारिवारिक दृष्टि से– विवाह संस्कार द्वारा परिवार के वातावरण में अपूर्व परिवर्तन होता है। इससे पूर्व परिवार में माता-पिता, भाई-बहिन ही होते हैं, किन्तु इस संस्कार द्वारा पति-पत्नी के रूप में एक नवीन रिश्ते की सृष्टि होती है। यदि दाम्पत्य जीवन में आत्मीयता एवं समर्पणभाव हो, तो घर में केवल खुशियाँ ही नहीं रहती हैं, शुभ संवेदनाएँ भी होती हैं। कहीं भी उदासीनता या

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दुःख का स्थान नहीं होता। घर का वातावरण मधुमय हो जाता है। इस प्रकार एक विलक्षण वातावरण की सृष्टि वैवाहिक संस्कार पर ही आधारित है।

सामाजिक दृष्टि से– जिस प्रकार अवयव से अवयवी का निर्माण होता है, अनेक फूलों से माला बनती है, उसी प्रकार अनेक परिवारों से समाज का निर्माण होता है, परन्तु यह ध्यातव्य है कि समाज वैसा ही होगा, जैसा कि परिवार रहेगा। परिवार का प्रत्येक पहलू समाज को अपने स्वरूप से मण्डित करता है। हम देखते हैं कि पाणिग्रहण संस्कार द्वारा संतान की उत्पत्ति होती है और वही आगे जाकर समाज निर्माण का एक मुख्य अंग होता है। इस प्रकार व्यक्ति और समाज में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। यह विवाह संस्कार द्वारा ही संभव हो पाता है। समाज निर्माण में व्यक्ति के अलावा जिन तत्त्वों की आवश्यकता होती है, वे या तो गौण कारण हैं या फिर सहकारी कारण है, किन्तु विवाह संस्कार एक प्रधान कारण है, जिसकी छवि उपर्युक्त व्याख्या के रूप में परिलक्षित होती है।[16] निःसन्देह विवाह द्वारा परिवार का एवं परिवार से समाज का निर्माण होता है।

प्राकृतिक दृष्टि से– उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय-ये सृष्टि के शाश्वत सत्य हैं। इनको कथमपि नकारा नहीं जा सकता। इन तीनों का उदाहरण हमें पारिवारिक वातावरण में मिलता है। हिन्दू मान्यता के अनुसार माता और पिता ब्रह्मा के रूप में बच्चे को जन्म देते हैं, विष्णु के स्वरूप में उनका पालन करते हैं तथा इन सभी का काल के द्वारा परिवार में ही अन्त हो जाता है। इस तरह किसी एक छोटे परिवार में भी संसार के सत्य स्वरूप को देखा जा सकता है। यह सब तभी संभव है, जबकि विवाह संस्कार का प्रचलन हो और उससे सर्जना की धारा चलती रहे।

सांस्कृतिक दृष्टि से– मनुष्य के जीवन का रास्ता अत्यन्त ही घुमावदार है। उसके जीवन में अनेक प्रकार के मोड़ आते रहते हैं। इस मानवीय यात्रा में सबसे जबर्दस्त मोड़ तब आता है, जब उक्त संस्कार द्वारा मानव संस्कृत होता है। इससे व्यक्ति की दिनचर्या बिल्कुल बदल जाती है। उसके आचरण, व्यवहार, नियति आदि सभी पक्षों अपूर्व परिवर्तन आ जाता हैं। वह काल-परिवर्तन के रंग में रंग जाता है। सारा अनुभव नया ही नया लगता है। इस प्रकार विवाह संस्कार द्वारा जो भी परिवर्तन होते हैं, उन्हें सांस्कृतिक-महत्त्व की कोटि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में रखा जा सकता है। भारतीय परम्परा में भौतिकता महत्त्वपूर्ण नहीं है। इस संस्कृति में सबसे विलक्षण बात यह देखने को मिलती है कि किसी भी वस्तु या तत्त्व का सकारात्मक एवं नकारात्मक दृष्टिकोण से तथा इहलौकिक एवं पारलौकिक ध्येय से प्रतिपादन किया जा सकता है। कहीं भी किसी भी एक पक्ष को नहीं स्वीकारा गया है। यही कारण है कि भारतीय परम्परा सभी में सर्वोच्च रही है तथा इस परम्परा में मानवीय परिवर्तन के विविध तत्त्व रहे हुए हैं और वे ही सांस्कृतिक बदलाव में प्रमुख कारण बनते हैं।

समष्टि रूप में कहा जा सकता है कि विवाह सांसारिक अव्यवस्था को दूर करने वाला सर्वोत्तम संस्कार है। इसी से व्यक्ति सुसंस्कृत, सभ्य एवं धर्मात्मा बनता है। इस संस्कार के माध्यम से जीवन में एकदम परिवर्तन आ जाता है। पुरूष और नारी-दोनों को परस्पर सबसे अधिक प्रिय और आत्मीय जीवनसाथी मिल जाता है, जो हर स्थिति में जीवन भर साथ निभाता है। इस संस्कार के माध्यम से दोनों अपना-अपना दायित्व समझने लगते हैं। इस दायित्व-बोध तले दोनों एक-दूसरे के प्रति, परिवार के प्रति, समाज के प्रति एवं राष्ट्र के प्रति अपनी जिम्मेदारी समझने लगते हैं और उसे निभाने लगते हैं। उनकी पहचान भी बदल जाती है। वे युवक एवं युवती न रहकर पति-पत्नी कहलाने लगते हैं। विवाह सम्पन्न करने से पहले क्रमश: वाग्दान(सगाई), प्रदान (कन्याप्रदान), वरण (वर द्वारा वधू को स्वीकृत करना), ग्रन्थि बंधन, पाणिग्रहण(हथलेवा) और सप्तपदी(भांवर) होते हैं। इन क्रियाओं के बाद वर और वधू पति-पत्नी के रूप में अपने भावी जीवन के आनन्द और शांति के लिए सात-सात वचन रखते हैं और उन नियमों को सबके समक्ष जीवन भर पालन करने का वचन देते हैं। ये सब प्रक्रियाएँ भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विशिष्ट महत्त्व रखती हैं। इस प्रकार भारतीय चिन्तनधारा में वैवाहिक संस्कार के अनेक हेतु स्वीकार किए गए हैं। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेख्य है कि हिन्दू समाज में तीन प्रकार के ऋण प्रचलित हैं- पितृऋण, ऋषिऋण एवं देवऋण। इस संस्कार द्वारा पितृऋण से तो मुक्ति मिलती ही है, साथ ही ऋषिऋण एवं देवऋण से भी आंशिक रूप से विमुक्ति प्राप्त होती है। इस दृष्टि से विवाह संस्कार को दायित्त्व के रूप में भी आंका जा सकता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विवाह किसके साथ हो ?

भारतीय संस्कृति संस्कार प्रधान है। वह सत्संस्कारों का बीजारोपण करने के लिए समान कुल, जाति एवं वर्ण के पारस्परिक सम्बन्ध पर विशेष बल देती है। वह यह मानती है कि दोनों पक्ष समान कुल वाले हों, तो वर वधू की जीवन यात्रा सुखद व सामंजस्यता से युक्त होती है।

जैन परम्परा के मुख्य ग्रन्थों में ये निर्देश प्राप्त होते हैं कि विवाह सम्बन्ध संस्कार युक्त एवं धर्म युक्त परिवार में ही करना चाहिए, क्योंकि असमान कुल एवं विपरीत आचार वाले युगल के बीच स्थाई प्रेम रह नहीं सकता तथा प्रेम रहित विवाह जीवन पर्यन्त परिताप देने वाला होता है।[17]

शान्तिनाथ चरित्र में कहा गया है-संसार में जो समान वैभव और समान कुल वाले हों, उनके बीच ही मैत्री, विवाह और विवाद करना ठीक है।[18] सागारधर्मामृत में वर्णन आता है– यदि धर्मयुक्त संतान, क्लेशरहित प्रेम, संयमयुक्त परिवार और देव-शास्त्र-गुरु एवं अतिथि के सम्मान तथा पूजा की इच्छा हो, तो सदाचारी युवक को संस्कारयुक्त कन्या के साथ विवाह करना चाहिए।[19] आचारदिनकर में निर्देश है-'जिनका समान शील-स्वभाव हो और समान कुल हो, उनका ही विवाह और मैत्री संगत है। इसके विपरीत एक उत्तम हो और दूसरा हीन हो, तो विवाह और मैत्री करना योग्य नहीं है, अतएव जो कुल शील एवं जाति से समान हों तथा जिनका देश, वंश और कार्य परस्पर जानते हों, उनमें ही विवाह सम्बन्ध करना चाहिए।[20]

सुकुमारचारित्र में विवाह हेतु सात गुणों की परीक्षा करने का निर्देश दिया गया है। इसमें कहा गया है-'कन्या के पिता अथवा अभिभावक को चाहिए कि वह कुलीन, शीलवाहक, स्वस्थ, वयस्क, विद्वान्, धर्म सम्पन्न और भरे-पूरे कुटुम्ब से युक्त वर के साथ अपनी कन्या का विवाह करे, फिर भी यदि कन्या को ससुराल में कष्ट मिले, तो यह उसका दुर्भाग्य है। महाभारत में कहा गया है कि समान धन, समान विद्या वालों में ही मैत्री एवं वैवाहिक सम्बन्ध सफल होते हैं, असमानता वालों के नहीं।[21]

जैन ग्रन्थों में यह उल्लेख भी देखा जाता है कि 'यदि पति-पत्नी में वैचारिक मेल है, उनमें आपसी सूझबूझ अच्छी है, तो उनका गृहस्थाश्रम भी सफल है। यदि परस्पर सौहार्द्र एवं सौमनस्य न हो, तो दाम्पत्य जीवन निष्फल हो जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आज पारिवारिक विघटन एवं दाम्पत्य जीवन के संघर्ष का मुख्य कारण समान कुल जाति एवं समदृष्टि का न होना भी है। आज के सम्बन्ध केवल रूप एवं वैभव पर आधारित होते हैं, न कि शील, स्वभावादि गुण और समान धर्म पर। इसी कारण भारतीय परम्परा के परिवारों में भी तलाक होने लगे हैं, जो संस्कृति के बिल्कुल विरूद्ध हैं। विवाह की वर्तमान स्थिति का चित्रण करते हुए किसी नीतिकार ने कहा है- कन्या वर के सौन्दर्य को देखती है, कन्या की माँ वैभव को और पिता वर की योग्यता को देखता है, बान्धवजन अपने हितों की इच्छा करते हैं, जबकि सामान्य लोग(बाराती आदि) प्रीतिभोज के मिष्ठान्न पर ध्यान रखते हैं।[22] वास्तविकता यह है कि कन्या संस्कार युक्त हो और धर्म, अर्थ, काम, पुरूषार्थ की पूरक हो। ऐसी सुशिक्षित कन्या ही कर्त्तव्यपरायणी भार्या और प्रेम-वत्सला माता का रूप धारण कर सकती है।

विवाह की योग्यता को जानने के मापदंड

जैन संस्कृति के अनुसार विकृत कुल की कन्या के साथ विवाह नहीं करना चाहिए। विकृत कुल किसे कहें? इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है- जिस वंश का पुरूष रोग वाला हो, बवासीर का रोगी हो, परिमाण से छोटे कद वाला हो, दाद का दर्दी हो, चित्रकोढ़ से ग्रसित हो, नेत्र व उदर की व्याधि से आक्रान्त हो तथा वभ्रु जाति का हो, वह वंश विकृत कुलीन कहलाता है, ऐसे वंश की कन्या के साथ विवाह नहीं करना चाहिए।' विकृत कन्या का लक्षण बताते हुए कहा है-जो अधिक अंग वाली हो, हीन अंग वाली हो, भूरा-भूखरा वर्ण वाली हो, ऊँची दृष्टि वाली हो तथा जिसका चेहरा और नाम भयानक हो, वह विकृत कन्या कहलाती है। वह कन्या विवाह हेतु त्याज्य कही गई है। साथ ही 'जो कन्या देव, ऋषि, ग्रह, तारा, अग्नि, नदी और वृक्षादि नाम वाली हो, जिसके शरीर पर बहुत रोम हों, पीली-माँजरी आँख हो तथा घर्घर स्वर वाली हो, वह कन्या भी विवाह के लिए अयोग्य कही गई है।[23]

इसी प्रकार विकृत कुलीन वर के साथ कुलीन कन्या को भी नहीं देना चाहिए। जो कुलहीन हो, जिसमें क्रूर स्वभाव वाली नारियाँ हों, आपदा युक्त या व्यसनी घर हो, बहुत कम संतानें हों, वह वर का विकृत कुल माना गया है। ऐसा कुल कन्यादान के लिए वर्जित करना चाहिए। साथ ही विकृत वर का भी त्याग कर देना चाहिए। विकृत वर का लक्षण बताते हुए कहा है-'जो मूर्ख,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निर्धन, दूर देश में रहने वाला, योद्धा, वैरागी और कन्या से तीन गुना अधिक उम्र वाला हो, वह विकृत वर है।[24]'

इसका आशय यह है कि विकृत कुल वाली कन्या के साथ कुलीन वर का और कुलीन वर के साथ विकृत कन्या का सम्बन्ध कभी भी नहीं करना चाहिए। अपनी कन्या को उच्चकुल में ही देनी चाहिए और उच्चकुलीन कन्या को ही पुत्रवधू के रूप में स्वीकार करना चाहिए, परन्तु दोनों प्रकार के विकृत कुल वाले और दोनों विकृत वर-कन्या परस्पर विवाह कर सकते हैं।

इस सम्बन्ध में यह भी निर्देश दिया गया है कि कुल, शील, स्वामी, विद्या, धन, शरीर और उम्र-ये सात गुण वर में अवश्य देखने चाहिए। उसके बाद ही कन्या देनी चाहिए।[25]

जैन-ज्योतिष के अनुसार कन्या और वर का सम्बन्ध पाँच शुद्धियाँ देखकर करना चाहिए। पाँच शुद्धियों के नाम ये हैं– 1. राशि 2. योनि 3. गण 4. नाड़ी और 5. वर्ग।

उक्त वर्णन से एक नवीन तथ्य यह प्रकट होता है कि विवाह संस्कार के पूर्व वैवाहिक जीवन की सम्पूर्ण सफलता के लिए कुछ बातों पर अवश्य ध्यान दिया जाना चाहिए। जैसे-कन्या का कुल कैसा हो? कन्या और वर किन-किन लक्षणों से युक्त हों? इत्यादि। इस प्रकार जैन-विचारणा में विवाह सम्बन्ध को लेकर अति महत्त्वपूर्ण तथ्य कहे गए हैं।

विवाह के मुख्य प्रकार

जैन एवं वैदिक परम्परा में प्रमुख रूप से विवाह दो प्रकार के बताए गए हैं- 1. धर्म्य विवाह और 2. पाप विवाह। इन्हें प्रशस्त और अप्रशस्त-विवाह भी कह सकते हैं। प्रशस्त और अप्रशस्त विवाह भी चार-चार प्रकार के निर्दिष्ट हैं, इस तरह विवाह के आठ प्रकार होते हैं।[27]

धर्म्य विवाह के चार भेद ये हैं- 1. ब्राह्म विवाह 2. प्राजापत्य विवाह 3. आर्ष विवाह और 4. दैवत विवाह। ये चारों विवाह माता-पिता की आज्ञा से होते हैं, इसलिए लौकिक-व्यवहार में ये धर्म्य-विवाह गिने जाते हैं।

पाप विवाह के चार भेद इस प्रकार हैं- 1. गांधर्व विवाह 2. आसुर विवाह 3. राक्षस विवाह और 4. पैशाच विवाह। ये चारों विवाह अपनी इच्छानुसार किए जाते हैं, इसलिए ये पाप विवाह रूप माने जाते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विवाह के आठ प्रकारों का संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है-

1. ब्राह्म विवाह– यह विवाह का शुद्धतम प्रकार है। कन्या को यथाशक्ति वस्त्रालंकार से सज्जितकर विद्या सम्पन्न और शीलवान वर को घर पर बुलाकर विधि पूर्वक कन्यादान करना ब्राह्म विवाह है।[28] इस विवाह का आधार कामुकता, धन लिप्सा, दहेज याचना न होकर सामाजिक-शालीनता और धार्मिक-निष्ठता है।

2. प्राजापत्य विवाह– जिस विवाह में 'तुम दोनों धर्म का साथ-साथ आचरण करो'-यह आदेश दिया जाता है, वह प्राजापत्य विवाह कहलाता है। यहाँ प्रजापति नाम यह सूचित करता है कि नव दम्पति प्रजापति के प्रति अपना ऋण चुकाने अर्थात सन्तान उत्पन्न करने एवं उसके पालन-पोषण के लिए विवाह करते हैं। यह विवाह इस तरह माता-पिता द्वारा अनुमोदित है।

3. आर्ष विवाह– जिसमें कन्या का पिता यज्ञादि धर्म कार्यों के लिए एक या दो जोड़ी गाय अथवा बैल लेकर ऋत्विक्(पुरोहित) को कन्या प्रदान करता है, वह आर्ष विवाह है।[30] इसकी एक परिभाषा यह भी उचित लगती है-किसी ऋषि पुत्र की आध्यात्मिक और बौद्धिक-योग्यता देखकर उसके साथ कन्या का विवाह करना आर्ष कहलाता है।[31] इस विवाह में किसी प्रकार का उत्सवादि नहीं होता है।

4. दैवत विवाह– किसी पुरोहित द्वारा यज्ञ किए जाने पर उसे अलंकृत एवं सुसज्जित कन्या दक्षिणा के रूप में प्रदान करना वह दैवत विवाह है।[32] जैन परम्परा में इस विवाह को अकृत्य माना है तथापि हिन्दू परम्परा के प्रथम तीन वर्गों में यह विवाह प्रचलित रहा है।

5. गांधर्व विवाह– वर और कन्या के पारस्परिक-प्रेम और शर्त पर जो विवाह सम्पन्न होता है, उसे गान्धर्व विवाह कहते हैं। स्वयंवर प्रथा का इसी के अन्तर्गत समावेश होता है।

6. आसुरी विवाह– कन्या को शर्त पूर्वक ग्रहण करना जैसे-जुआ खेलते समय शर्त लगाना कि "मैं हारूंगा, तो अपनी कन्या दूंगा, तुम हारोगे, तो तुम्हारी लड़की मैं लूंगा"-इस प्रकार शर्त लगाकर कन्या ग्रहण करना आसुरी विवाह है। वैदिक ग्रन्थों में आसुरी-विवाह के सन्दर्भ में विभिन्न परिभाषाएँ दी गई हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

7. राक्षस विवाह– कन्या का बल पूर्वक हरण कर विवाह करना राक्षस विवाह है। इस प्रकार के विवाह में कन्या के पिता या स्वयं कन्या, किसी की भी स्वीकृति नहीं ली जाती है, अपितु बल पूर्वक कन्या का हरण कर, उसे अपने उपभोग के लिए रख लिया जाता है।

8. पिशाच विवाह– निद्रिता, मद्यपान से विह्वला या किसी अन्य प्रकार से उन्मत्ता-प्रमत्ता कुमारी के साथ एकान्त में भोग सम्बन्ध द्वारा किया गया विवाह पैशाच विवाह है। गृह्यसूत्र के अनुसार सुप्त, मत्त या अचेतन कन्या का हरण करना पैशाची विवाह है। यह विवाह का निकृष्टतम प्रकार है।

आचारदिनकर के अनुसार प्रशस्त(धर्म्य) विवाहों में प्राजापत्य विवाह को छोड़कर शेष तीन विवाह इस कलियुग में प्रचलित नहीं हैं। चार पाप विवाह अप्रशस्त होने से उनकी वेदोक्त विधि भी नहीं है। इस सम्बन्ध में कहा गया है- गोमेध और नरमेध आदि यज्ञ, ब्रह्म, आर्ष और दैवत-ये तीनों प्रकार के विवाह तथा गोत्रज और गुरु संतति-ये कलियुग में नहीं होती हैं।[33] वर्तमान हिन्दू समाज में ब्राह्म व गान्धर्व-ये दो प्रकार के विवाह प्रचलित हैं।

यहाँ ज्ञातव्य है कि चार प्रकार के प्रशस्त विवाह में पिता द्वारा या किसी अन्य अभिभावक द्वारा वर को कन्यादान दिया जाता है। प्रथम प्रकार के विवाह को संभवतः ब्राह्म-विवाह इसलिए कहा जाता है कि यह धर्म सम्मत है अतः पवित्र विवाह है।

आर्ष-विवाह में वर से एक जोड़ा पशु लिया जाता है अतः यह ब्रह्म से निम्न है। प्राजापत्य-विवाह में पत्नी के जीते-जी पति को गृहस्थ रहने, संन्यासी न बनने आदि का वचन देना पड़ता है, इसमें शर्त लगी रहती है। चौथे विवाह का नाम 'दैव' इसलिए है कि यज्ञ में देवों की पूजा होती है। आसुर-विवाह में धन का सौदा रहता है। गांधर्व में पिता द्वारा दान की कोई बात ही नहीं रहती, प्रत्युत इसके लिए कन्या पिता को उसके अधिकार से वंचित कर देती है। इसका गान्धर्व नाम इसलिए भी है कि गान्धर्व कामातुर कहे गए हैं। राक्षस एवं पिशाच नाम इसलिए हैं कि ये विवाह निकृष्ट कृत्य रूप एवं राक्षसी-पैशाची के स्वभाव रूप होते हैं इन्हें अपहरण की संज्ञा दे सकते हैं।[34]

विवाह के अन्य प्रकार

दिगम्बर परम्परामूलक साहित्य में विवाह के निम्नोक्त प्रकार भी बताए गए हैं- **1. प्रशस्त-विवाह–** इसमें प्राजापत्य एवं दैव-विवाह को माना है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2. **अप्रशस्त विवाह**- इसमें गान्धर्व एवं राक्षस-विवाह को गिना है
3. **स्वयंवर विवाह**- इस विवाह को तीन भागों में विभाजित किया है।[35]

1. साधारण स्वयंवर– जब राजकन्या युवावस्था को प्राप्त हो जाए, तब राजा द्वारा स्वयंवर की घोषणा सुनकर उसमें भाग लेने के लिए आगत राजकुमारों में से कन्या की इच्छानुसार किसी एक का वरण करना साधारण स्वयंवर विवाह है।

2. सशर्त स्वयंवर– कन्या के पिता या भाई द्वारा रखी गई शौर्यपरक शर्त को पूर्ण करने वाले राजकुमार के गले में वरमाला डालकर उसे पति रूप में स्वीकार करना सशर्त विवाह है। इस विवाह में शर्त पूर्ण होने के उपरान्त वरमाला डाली जाती है। द्रौपदी का सशर्त विवाह हुआ था।

3. प्रतियोगिता स्वयंवर– कन्या की पूर्व घोषणा के अनुसार कला, विज्ञान, वेद आदि जिसमें वह निष्णात हो, उसमें पराजित करने वाले राजकुमार के साथ विवाह करना प्रतियोगिता स्वयंवर है।

इनके अतिरिक्त विनिमय विवाह, सेवा विवाह, अन्तर्वर्ण विवाह, सगोत्र विवाह, असगोत्र विवाह, सप्रवर विवाह, अनुलोम विवाह, प्रतिलोम विवाह, बहुपत्नी बहुपति विवाह, पुनर्विवाह एवं बालविवाह आदि के भी उल्लेख मिलते हैं।

ब्राह्म विवाह में कन्यादान होता है, किन्तु आसुर विवाह में लड़की के पिता या अभिभावकों को उनके लाभ के लिए शुल्क देना पड़ता है। गान्धर्व-विवाह आजकल अधिक प्रचलित हो रहे हैं, जिसमें वर और कन्या भागकर कोर्ट-मैरिज आदि कर लेते हैं। कुछ लोगों के अनुसार इस युग में पलने वाले नवयुवक एवं नवयुवतियाँ गान्धर्व-विवाह की ओर उन्मुख हो रहे हैं। यदि कोई विधवा स्वयं विवाह करे तो उसे गान्धर्व के रूप में ग्रहण किया जा सकता है, क्योंकि उस स्थिति में कन्यादान नहीं होता है।

विवाह संस्कार करने का अधिकारी कौन?

श्वेताम्बर परम्परा में यह संस्कार जैन ब्राह्मण या क्षुल्लक द्वारा करवाया जाता है। दिगम्बर परम्परा में पूर्व निर्दिष्ट गुण वाला द्विज इस संस्कार का अधिकारी माना गया है। वैदिक परम्परा में इस संस्कार का अधिकार ब्राह्मण को दिया गया है।[36]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विवाह संस्कार के लिए शुभ दिन का विचार

विवाह-संस्कार के लिए शुभ नक्षत्र आदि के सम्बन्ध में अध्ययन किया जाए, तो श्वेताम्बरमूलक आचारदिनकर में विशद विवरण सम्प्राप्त होता है। आचारदिनकर के मतानुसार मूल, अनुराधा, रोहिणी, मघा, मृगशिरा, हस्त, रेवती, तीन उत्तरा और स्वाति-इन नक्षत्रों में विवाह करना चाहिए। वेध, एकार्गल, लता और पाप उपग्रह सहित नक्षत्रों में विवाह नहीं करना चाहिए तथा युति, क्रान्ति और साम्यदोष में भी लग्न नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार तीन दिन को स्पर्श करने वाली तिथि, क्षय तिथि, क्रूर तिथि, दग्धा तिथि, रिक्ता तिथि, अमावस्या, अष्टमी, षष्ठी और द्वादशी-इन तिथियों में विवाह नहीं करना चाहिए। भद्रा में, गंडान्त में, दुष्ट नक्षत्र, तिथि, वार और योग में, व्यतिपात में, वैधृति में और निन्द्य समय में विवाह नहीं करना चाहिए। सूर्य के स्थान पर बृहस्पति हो या बृहस्पति के स्थान पर सूर्य हो तो दीक्षा, विवाह, प्रतिष्ठा आदि शुभ कार्य नहीं करना चाहिए।

चातुर्मास में, अधिक मास में, गुरु अस्त या शुक्र अस्त में, मल मास में और जन्म मास में दीक्षा-विवाह आदि कार्य नहीं करना चाहिए। मासांत में, संक्रान्ति में, संक्रान्ति के दूसरे दिन में, ग्रहण आदि दिन में और ग्रहण के बाद सात दिन तक भी विवाह आदि कृत्य नहीं करना चाहिए। इसके सिवाय जन्म तिथि, जन्म वार, जन्म नक्षत्र, जन्म लग्न, जन्म राशि और जन्म का स्वामी अस्त होने पर या क्रूर ग्रहों से हत होने पर विवाह आदि नहीं करना चाहिए, परन्तु स्थिर लग्न में, द्विस्वभाव वाले लग्न में, सद्गुण संयुक्त चर लग्न में, उदयास्त के विशुद्ध होने पर विवाह करना शुभ माना गया है। इसके साथ ही लग्न और सप्तम घर ग्रह से वर्जित हो, तीसरे, छठवें और ग्यारहवें घर में रवि, मंगल और शनि हो, छठवें और तीसरे घर में तथा पाप ग्रह वर्जित पाँचवे घर में राहु हो, लग्न में तथा पाँचवें, चौथे, दसवें और नौवें घर में बृहस्पति हो, ऐसे ही शुक्र, बुध हो, लग्न के छठवें, आठवें और बारहवें घर से अन्यत्र पूर्ण चन्द्रमा हो, तब विवाह करना चाहिए। क्रूर ग्रहों से दृष्ट और क्रूर ग्रहों से संयुक्त चन्द्रमा का वर्जन करना चाहिए। इसमें विवाह लग्न की उदय शुद्धि और अस्तशुद्धि अवश्य देखना चाहिए। लग्न का स्वामी और लग्न के नवांश का स्वामी नवांश को देखता हो या नवांश से युक्त हो, उसे उदय शुद्धि कहते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सप्तम नवांश का स्वामी सप्तम नवांश को देखता हो या नवांश से युक्त हो, उसे अस्तशुद्धि कहते हैं।[37] इस प्रकार जैन विवाह के सम्बन्ध में पूर्वोक्त नक्षत्र एवं लग्नादि को शुभ व अशुभ जानना चाहिए और शुभ नक्षत्रादि का योग होने पर विवाह संस्कार करना चाहिए।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार इस संस्कार के लिए नक्षत्रों में-मूल, अनुराधा, रेवती, उत्तरात्रय, हस्त, स्वाति, मघा और रोहिणी, मासों में-मार्गशीर्ष, माघ, फाल्गुन, वैशाख, ज्येष्ठ और आषाढ़ शुभ माने गए हैं। वर के लिए सूर्यबल और कन्या के लिए गुरुबल तथा दोनों के लिए चन्द्रबल होना जरूरी है। ग्रहों में-वर की राशि से सूर्य 3, 6, 10, 11 वीं राशि में शुभ और 4, 8, 12 वीं राशि में अशुभ होता है। कन्या की राशि से गुरु 9, 5, 11, 2, 7 वीं राशि में शुभ और 4, 8, 12 वीं राशि में अशुभ होता है। चन्द्रमा वर और कन्या की राशि से 3, 6, 7, 10, 11 वाँ शुभ और 4, 8, 12 वाँ अशुभ होता है।[38]

विवाह संस्कार हेतु योग्य आयु विचार

विवाह किस उम्र में किया जाना चाहिए? श्वेताम्बर मान्यतानुसार कन्या का विवाह आठ वर्ष से लेकर ग्यारह वर्ष तक कर देना चाहिए तथा पुरूष का विवाह आठ वर्ष से लेकर अस्सी वर्ष की अवधि के बीच कभी भी किया जा सकता है, तदुपरान्त पुरूष प्राय: वीर्य रहित होता है।[39]

दिगम्बर परम्परा मान्य यशस्तिलकचम्पू के अनुसार कन्या बारह वर्ष की और किशोर सोलह वर्ष का होने पर विवाह के योग्य होता है।[40]

वैदिक परम्परा में पुरूष के विवाह के लिए कोई निश्चित अवधि नहीं रखी गई है। पुरूष यदि चाहे, तो आजीवन अविवाहित रह सकता है, कन्या के विवाह के लिए अवधि का निर्धारण किया गया है। गृह्यसूत्रों एवं धर्मसूत्रों के अनुसार सामान्यत: कन्या युवावस्था के सन्निकट पहुँच जाए या युवाकाल प्रारम्भ हो जाए तब ही विवाह के योग्य मानी गई है।[41] वैदिक के कुछ ग्रन्थों में कन्या के लिए बाल विवाह किए जाने का उल्लेख भी मिलता है।

विवाह संस्कार में प्रयुक्त सामग्री

श्वेताम्बर परम्परा में विवाह के लिए अग्रलिखित सामग्री अनिवार्य मानी गई है-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वैवाहिक नक्षत्रों में अभिषेक करने योग्य तेल, वादिंत्र, धवल-मंगल गाने वाली सौभाग्यवती नारियाँ, कुलवृद्धा स्त्रियाँ, वर और कन्या-इन दोनों पक्ष के सगे-सम्बन्धी, विवाह-मंडप, मातृपूजा, कुलकरपूजा, शान्तिक क्रिया और पौष्टिक क्रिया की वस्तुएँ, वेदी, तोरण, अर्ध्य आदि वस्तुएँ, भोज की विपुल सामग्री, कौसुंभवर्णी सूत के दो वस्त्र, ऋद्धि-वृद्धि समारोह, जवारारोपण आदि, गृहस्थ गुरु को देने योग्य वस्त्र और आभूषण, वर को देने योग्य वस्त्राभूषण, भोजन बनाने के योग्य बरतन, स्वशक्ति के अनुसार देने योग्य धन, इसके अतिरिक्त यथावश्यक अन्य वस्तुएँ।[42]

दिगम्बर परम्परा में विवाह संस्कार के लिए निम्नोक्त सामग्री आवश्यक मानी गई है[43]– श्रीफल-2, विनायक-1, यन्त्र, शास्त्र-1, सिंहासन-1, चमर-1, छत्र-3, अष्टमंगल, द्रव्य (ठोणा), चमर, छत्र, दर्पण, ध्वजा, झारी, कलश, पंखा), जल से भरा सफेद लोटा-1, सफेद कपड़ा एक हाथ, लाल चोल एक हाथ, फूलमाला-2, तीन कटनी वाली वेदी-1, पक्की नम्बरी ईंटें-8, सूखी काली मिट्टी-1 किलो, कुंकुम-25 ग्रा., पिसी हल्दी और मेहन्दी-25 ग्रा; लच्छा-25 ग्रा., नागरवेलपान-2, सुपारी-4, हल्दी गांठ-4, सरसों-25 ग्रा., दीपक-4, रूई, माचिस-1, घी-500 ग्रा., चाटू लकड़ी का-1, लाल चन्दन की समिधा-200 ग्राम, सफेद चन्दन की समिधा(लकड़ी)-400 ग्राम, बड़ पीपल-आम-ढ़ाक की सूखी समिधा-400 ग्राम देशी कपूर-15 ग्राम, पूजन द्रव्य (चावल-1 कि., नारियल गिरी (चटक-100 ग्राम) (केशर-3 ग्राम, बादाम-50 ग्राम, लौंग-10 ग्राम) पूजन उपकरण, हवन-द्रव्य (बादामगुली-25 ग्राम, खोपरा-25 ग्राम, पिस्ता-10 ग्राम, लौंग-10 ग्राम, इलायची-10 ग्राम, खारक-15 ग्राम, शक्कर का बूरा-15 ग्राम, शुद्ध दशांगधूप-75 ग्राम) थाली-4, कटोरी-2, शुद्धगादी या गलीचा-1, पाटे-4, चौकी-2, आसन-2, चवन्नी-2, सूत की माला-1, पंचरत्न-पूड़ी-1।

विभिन्न संस्कृतियों में विवाह संस्कार सम्बन्धी विधि

कन्यादान(सगाई) विधि– यह जनप्रसिद्ध है कि विवाह के पहले सगाई की रस्म की जाती है। श्वेताम्बर मतानुसार उसकी विधि इस प्रकार है-सर्वप्रथम समान कुल और समान शीलयुक्त वर या कन्या की खोज करनी चाहिए।

• फिर निर्णीत कुल के साथ सगाई करते समय कन्या-कुल का जो ज्येष्ठ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुरूष, वर-कुल के ज्येष्ठ पुरूष को अपने देश और कुलाचार के अनुसार नारियल, सुपारी, जिनोपवीत, चावल, दूर्वा और हल्दी देकर कन्यादान करे अर्थात सगाई का सम्बन्ध पक्का करे। उस समय गृहस्थ गुरु निम्न मन्त्र पढ़े-

"ऊँ अर्हं परमसौभाग्याय, परमसुखाय परमभोगाय, परमधर्माय, परमयशसे, परमसन्तानाय, भोगोपभोगान्तरायव्यवच्छेदाय, इमाम् अमुकनाम्नी कन्याम्, अमुकगौत्राम्, अमुकनाम्ने वराय, अमुकगोत्राय ददाति, प्रतिगृहाण अर्हं ऊँ।"

• उसके बाद कन्यापक्ष के लोग सबको तांबूल दें। • फिर वरपक्ष के द्वारा उस कन्या के लिए वस्त्र, आभूषण, श्रृंगार सामग्री आदि उसके पिता के घर पहुँचाई जाए। • कन्या का पिता भी परिवार सहित वर को निमन्त्रित करे और महोत्सव के साथ भोजन कराए तथा वर को वस्त्र, अंगूठी आदि दें।[44]

• **दिगम्बर परम्परा** में कन्यादान को 'वाग्दान' के नाम से सम्बोधित किया है। तदनुसार वरपक्ष और कन्यापक्ष अपने वंशादि एवं गोत्रादि का परिचय देकर पंचों के समक्ष सगाई का सम्बन्ध निश्चित करते हैं। उनकी कुछ जातियों पोरवाल आदि में इस अवसर पर विनायक यन्त्र की पूजा भी की जाती है।[45]

• **वैदिक परम्परा** कुछ निश्चित व्यक्तियों को कन्यादान करने का अधिकारी मानती है। उनमें कन्या के पिता को प्रमुख माना है। इनके वहाँ पिता कुछ मन्त्रों का उच्चारण कर कन्या प्रदान करता है, इसमें कन्यादान की यही विधि वर्णित है।[46]

विवाह की प्रारम्भिक विधि– विवाह संस्कार करने हेतु लग्नदिन से पहले मास या पक्ष में दोनों पक्ष के परिवारजनों को इकट्ठा करके ज्योतिषी को उत्तम आसन पर बिठाकर उसके हाथ से शुभ भूमि पर विवाह लग्न लिखवाएँ। • फिर जन्म लग्न की भाँति विवाह लग्न की स्वर्ण मुद्रा, फल, पुष्प और दूर्वा से पूजा करें। • फिर दोनों पक्ष के बुजुर्ग ज्योतिषी को वस्त्र, अलंकार एवं पान दें। यह विवाह को प्रारम्भ करने की क्रिया है। • उसके बाद मिट्टी के नए सकोरे में जौ बोएँ। • फिर कन्या के गृह में मातृ स्थापना और षष्ठीमाता की स्थापना करें। यह विधि पूर्व में कही जा चुकी है।[47] दिगम्बर एवं हिन्दू[48] परम्परा में गणपति की स्थापना करते हैं।

• उसके बाद श्वेताम्बर परम्परानुसार वरपक्षीय सात कुलकरों की स्थापना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और उसकी पूजा करें। यह विधि आचारदिनकर (पृ. 34) से जाननी चाहिए। यहाँ उल्लेखनीय है कि विवाह के बाद भी कुलकर की स्थापना तथा गणेश एवं कामदेव की स्थापना सात दिन-रात तक रखनी चाहिए।

• उसके बाद वर के गृह में शान्तिक एवं पौष्टिक कर्म करें। • फिर पूर्व प्रक्रिया के अनुसार कन्या के घर में मातृपूजा करें। • फिर विवाह काल से पूर्व सातवें, नवें, ग्यारहवें या तेरहवें दिन वर-वधू अपने-अपने घर में मंगलगीत और वादिंत्र के साथ तेल का मर्दन कर स्नान करें। यह रीति विवाह पर्यन्त करें। • जिस दिन तेल मर्दन की क्रिया शुरू हो, उस दिन वर के घर से तेल, सिर के प्रसाधन की सामग्री, सुगंधित वस्तुएँ, द्राक्ष आदि खाद्य पदार्थ और सूखा मेवा आदि कन्या के घर भेजे जाएं। उस दिन नगर की स्त्रियाँ वर के घर और कन्या के घर तेल-धान्य आदि लेकर जाएँ। वर और कन्या के घर की वृद्ध स्त्रियाँ तेल आदि लाने वाली महिलाओं को पकवान आदि दें।

• यहाँ ज्ञातव्य है कि गणेश आदि की स्थापना, कंकण बंधन और विवाह सम्बन्धी अन्य सभी विधि-प्रक्रियाएँ वर-वधू के चन्द्रबल में और विवाह सम्बन्धी नक्षत्र में करें। धूलिपूजा, करवापूजा, सौभाग्यवती नारियों द्वारा पवित्र जल लाना आदि सभी मंगल कार्य, मंगल गीत एवं वाद्य सहित अपने-अपने देशाचार और कुलाचार के अनुरूप करें।

बारात विधि– जैन विचारणा के अनुसार बारात के प्रथम दिन मातृका पूजा पूर्वक सभी लोगों को भोजन कराएं। • दूसरे दिन वर स्नान करके, चंदन का लेप लगाकर, सुन्दर वस्त्र, सुगंधित पदार्थ और पुष्पमाला आदि से अलंकृत होकर, मस्तक पर मुकुट धारण कर तथा अश्व, गज या मानवगाड़ी पर आरूढ़ होकर चलें। • उसके साथ-साथ आनंद-प्रमोद करते हुए सगे-सम्बन्धी व ज्ञातिजन चलें। दोनों ओर मंगलगीत गाती हुई नारियाँ चलें। • उसके आगे ब्राह्मण लोग ग्रहशान्ति मन्त्र पढ़ते हुए चलें।

यह ग्रहशान्ति मन्त्र अत्यन्त भावपूर्ण एवं वर के श्रेष्ठ जीवन के लिए वरदान रूप माना गया है। वह मन्त्र निम्न है -

"ॐ अर्हं आदिमोऽर्हन्, आदिमो नृपः, आदिमो नियन्ता, आदिमोगुरुः, आदिमः स्रष्टा, आदिमःकर्त्ता, आदिमःभर्त्ता, आदिमोजयी, आदिमोनयी, आदिमः शिल्पी, आदिमो विद्वान्, आदिमोः जल्पकः, आदिमः शास्ता, आदिमो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रौद्रः, आदिमः सौम्यः, आदिमः काम्यः, आदिमः शरण्यः, आदिमो दाता आदिमो वन्द्यः, आदिमः स्तुत्य, आदिमो ज्ञेयः, आदिमो ध्येयः, आदिमो भोक्ता, आदिमः सोढ़ा, आदिमः एकः, आदिमोऽनेकः, आदिमःस्थूलः, आदिमः कर्मवान, आदिमोऽकर्मा, आदिमो धर्मवित्, आदिमोऽनुष्ठेयः, आदिमोऽनुष्ठाता, आदिमः सहजः, आदिमो दशावान्, आदिमः सकलत्रः, आदिमोविकलत्रः, आदिमो विवोढ़ा, आदिमः ख्यापकः, आदिमो ज्ञापक, आदिमो विदुरः, आदिमः कुशलः, आदिमो वैज्ञानिकः, आदिमः सेव्यः आदिमो गम्यः, आदिमोविमृष्यः, आदिमो विमृष्टा, सुरासुरनरोरगप्रणतः, प्राप्तविमलकेवलो, यो गीयते यत्यवतंसः, सकलप्राणिगणिहितो, दयालुरपरापेक्षः, परात्मा, परं ज्योतिः, परं ब्रह्म, परमैश्वर्यमाक्, परंपरः रापरोऽपरंपरः, जगदुत्तमः, सर्वगः, सर्ववित्, सर्वजित्, सर्वीयः, सर्वप्रशस्यः, सर्ववन्द्यः, सर्वपूज्यः, सर्वात्मा, असंसारः, अव्ययः, अवार्यवीर्यः, श्री संश्रय, श्रेयः संश्रयः, विश्वावश्यायहृत, संशयहृत, विश्वसारो, निरंजनो, निर्ममो, निष्कलंको, निष्पापात्मा, निष्पुण्यः, निर्मनाः, निर्वचाः, निर्देहोः, निःसशयो, निराधारो, निरवधि, प्रमाणं, प्रमेयं, प्रमाता, जीवाजीवाश्रवबन्धसंवरनिर्जरा मोक्षप्रकाशकः स एव भगवान् शान्तिं करोतु, तुष्टिं करोतु, पुष्टिं करोतु, ऋद्धिं करोतु, वृद्धि करोतु, सुखं करोतु, श्रियं करोतु, लक्ष्मीं करोतु, अर्हं ऊँ।''

• फिर इसी विधि से और महोत्सव पूर्वक चैत्यपरिपाटी, गुरुवन्दन, मंडलीपूजा, नगर देवता आदि का पूजन करें। • फिर कन्या के नगर में प्रवेश करें। वर की बहन विशेष प्रकार से लवणोत्तरण आदि करें। इस प्रकार गृहस्थ गुरु के साथ वह बारात कन्या के गृह द्वार तक पहुँचे। • वहाँ वर की सास आदि कपूर एवं दीपक से वर की आरती उतारें। फिर कुटुम्बी स्त्री जलते हुए अंगारों एवं नमक से युक्त शरावसंपुट, जिसमें तड़-तड़ इस प्रकार की आवाज आ रही हो, को वर के ऊपर से उतारकर प्रवेश मार्ग में बाईं ओर स्थापित कर दे। • उसके पश्चात दूसरी स्त्री कुसुंभ वस्त्र से अलंकृत मन्थनदंड(मथानी) सामने लाए और उससे वर के ललाट को तीन बार स्पर्शित करें।

• फिर वर वाहन से उतरकर उस अग्नि और नमक वाले शरावसंपुट को अपने बाएं पैर से तोड़े। • उसके बाद सास या कन्या की भाभी या मामा वर के कंठ में उस कौसुंभ वस्त्र को डालकर खींचते हुए मातृगृह में ले जाए। वहाँ पहले

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से ही बैठी हुई कन्या की बाईं तरफ और मातृदेवी के सामने वर को बिठाएं।[49]

हथलेवा विधि– उसके बाद लग्नवेला के उपस्थित होने पर गृहस्थ गुरु पीसी हुई शमी एवं पीपल की छाल को चन्दन द्रव्य के साथ मिलाकर वर-वधू के हाथ में उसका लेप करे। • फिर वर का हाथ सीधा नीचे तथा उसके ऊपर वधू का हाथ उलटा रखते हुए दोनों के दाहिने हाथ को मिलाएं। ऊपर में कौसुंभसूत्र बांध दें। • उस समय हस्त बन्धन का निम्न मन्त्र पढ़ें।[50]

"ॐ अर्हं आत्मासि, जीवोऽसि, समकालोऽसि, समचित्तोऽसि, समकर्माऽसि समाश्रयोऽसि, समदेहोऽसि, समक्रियोऽसि, समस्नेहोऽसि, समचेष्टितोऽसि, समभिलाषेऽसि, समेच्छोऽसि, समप्रमोदोऽसि, समविषादोऽसि, समाध्वस्थोऽसि, समनिमित्तोऽसि, समवचाअसि, समक्षुत्तृष्णोऽसि, समगमोऽसि, समविहारोऽसि, समविषयोऽसि, समशब्दोऽसि, समरूपोऽसि, समरसोऽसि, समगन्धोऽसि समस्पर्शोऽसि, समेन्द्रियोऽसि, समाश्रवोऽसि, समबन्धोऽसि, समसंवरोऽसि, समनिर्जरोऽसि, सममोक्षोऽसि। तदेह्येकत्वमिदानीं अर्हं ॐ।।"

वैदिक परम्परा में देश या कुल परम्परा के अनुसार हस्त बंधन की क्रिया करते समय वर को मधु-पर्क (दही और घृत के साथ मिलाया हुआ शहद) खिलाना, गाय का जोड़ा देना और कन्या को आभूषण पहनाना आदि कार्य किए जाते हैं।

वेदिका (चंवरी) रचना विधि– तदनन्तर वर और कन्या मातृगृह में बैठे रहें और कन्यापक्ष वाले वेदी (चंवरी) की रचना करें। उसकी विधि यह है-कुछ लोग मण्डप के बीच में काष्ठ स्तंभों से व काष्ठ के आच्छादन से युक्त चौकोनी वेदी बनाते हैं और चारों कोनों में एक के ऊपर एक रखे गए छोटे-छोटे सोना, चाँदी, ताम्र या मिट्टी के सात-सात कलशों को चारों तरफ चार-चार हरे बाँस से बांधकर वेदी (चँवरी) बनाते हैं। चारों और वस्त्र या काष्ठमय तोरण बांधते हैं, मध्य में त्रिकोण अग्निकुंड बनाते हैं। • फिर गृहस्थ गुरु वासचूर्ण, पुष्प और चावल को हाथ में ग्रहण कर निम्न मन्त्र पढ़ते हुए वेदी की प्रतिष्ठा करे और हस्तगृहीत पुष्प आदि को उस पर उछालें। वेदी प्रतिष्ठा का मन्त्र यह है-

"ॐ नमः क्षेत्रदेवतायै शिवायै, क्षाँ क्षीँ क्षूँ क्षौं क्षः। इह विवाह मण्डपे आगच्छ आगच्छ। इह बलिपरिभोग्यं गृण्ह- गृण्ह। भोगं देहि, सुखं देहि, यशो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देहि, सन्ततिं देहि, ऋद्धि देहि, वृद्धिं देहि, सर्व समीहितं देहि देहि स्वाहा।।''

तोरण प्रतिष्ठा विधि- पूर्ववत पुष्प आदि उछालकर तोरण की प्रतिष्ठा करे। तोरण प्रतिष्ठा का मन्त्र निम्न है–

''ॐ ह्रीं श्रीं नमो द्वारश्रिये सर्वपूजिते सर्वमानिते सर्वप्रधाने। इह तोरणस्या सर्व समीहितं देहि-देहि स्वाहा।।''

अग्निस्थापना विधि- तत्पश्चात वेदी के मध्यभाग में निर्मित अग्निकुंड के आग्नेयकोण में मन्त्र पूर्वक अग्नि की स्थापना करे। अग्नि स्थापना मन्त्र निम्न है-

''ॐ रं रां रीं रूं रौं रः। नमोऽग्नये, नमो बृहद्धानवे, नमोऽनन्ततेजसे, नमोऽनन्तवीर्याय, नमोऽनन्तगुणाय, नमोहिरण्यरेतसे नमःछागवाहनाय, नमो हव्याशनाथ। अत्र कुण्डे आगच्छ आगच्छ, अवतर अवतर, तिष्ठ तिष्ठ स्वाहा।।''

• उसके बाद नूतन वर-वधु को पुरूष एवं नारियों की गोद में बिठाकर, गीत गाते हुए, दक्षिणद्वार से प्रवेश करवाकर वेदी के बीच में लाएं। • उसके बाद अपने-अपने देशाचार और कुलाचार के अनुसार काष्ठासनों, बेंत के आसनों, सिंहासनों या घास निर्मित आसनों पर वर-कन्या को पूर्व दिशा की ओर मुख करके बिठाएं। • फिर हस्तलेप एवं वेदीकर्म के हो जाने पर कुलाचार के अनुरूप कोरा वस्त्र, कौसुंभवस्त्र या स्वाभाविक वस्त्र वर-कन्या को पहिनाएं।

होम विधि– तत्पश्चात गृहस्थ गुरु उत्तराभिमुख होकर एवं मृगचर्म पर बैठकर निर्दिष्ट वस्तुओं द्वारा अग्नि प्रज्वलित कर मन्त्र पूर्वक घी, शहद, तिल, जौ और विविध प्रकार के फलों की आहुति दें, हवन करें।[51] वह हवन मन्त्र इस प्रकार है-

''ॐ अर्हं! ॐ अग्ने! प्रसन्नः सावधानो भव। तवौयमवसरः तदाकारयेन्द्रंयमं, नैर्ऋतिं वरूणं वायुं कुबेरमीशानं नागान् ब्रह्माणं लोकपालान्, ग्रहांश्च सूर्य-शशि-कुज-सौम्या-बृहस्पति-कवि-शनि- राहु-केतुन्, सुरांश्चासुरनाग सुपर्णविद्युदग्निद्वीपोदधिदिक्कुमारान् भवनपतीन्, पिशाच-भूत-यक्ष-राक्षस-किन्नर-किंपुरूष-महोरग- गन्धर्वान्, व्यन्तरान् चन्दौर्कग्रह-नक्षत्र-तारकान्-ज्योतिष्कान्, सौधर्मेशान सनत्कुमार-माहेन्द्र-ब्रह्मलान्तक-शुक्र-सहस्त्रारौनतद प्राणतौरणाच्युत ग्रैवेयकौनुत्तरभवान् वैमानिकान्, इन्द्रसामानिकान्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पार्षद्यत्रायस्त्रिंशल्लोकपालानीक प्रकीर्ण-सायुधबल-वाहनान् स्वस्वोपलक्षित चिह्वान्, अप्सरसश्च परिगृहीतौपरिगृहीताभेद भिन्नाः ससखिकाः सदासिकाः साभरणारूचकवासिनीर्दिक्कुमारिकाश्च सर्वाः, समुद्रनदी गिर्यकर-वनदेवतास्तदेतान् सर्वान् सर्वाश्च इदं अर्घ्यं पाद्यमाचमनीयं बलिं चरूं हुंत न्यस्तं ग्राह्यग्राह्य, स्वयं गृहाणगृहाण स्वाहा अर्हं ऊँ।''

• फिर अच्छी तरह से अग्नि प्रज्वलित हो जाने पर गृहस्थ गुरु वधू के सम्मुख बैठकर अभिषेक मन्त्र का उच्चारण करे। फिर तीर्थोदक से दोनों को सिंचित करे।

• फिर वधू के दादा, पिता, भाई, नाना या मामा धर्मानुष्ठान हेतु वर-कन्या के आगे बैठें। • फिर शान्तिक-पौष्टिककर्म करें। • तदनन्तर गृहस्थ गुरु के कहने पर दोनों के परिवारिकजन अपनी कुल, जाति या वंश को प्रकट करें। • तदनन्तर वर-कन्या से अग्नि की पूजा कराएं। उसके बाद वधू अंजली भर 'लावे' की अग्नि में आहुति दें।

फेरा विधि– तत्पश्चात सर्व परिवार और अग्नि की साक्षी में हस्त मिलाप एवं ग्रन्थि बंधन सहित वर कन्या अग्नि की चार प्रदक्षिणा दें। • यहाँ तीन लाजाओं की तीन प्रदक्षिणाओं में वधू को आगे और वर को पीछे रखते हैं और अग्नि में लाजा-मुष्ठि से हवन करते हैं। प्रथम की तीन प्रदक्षिणाओं में वधू को दाहिनी और एवं वर को बाईं ओर बिठाएं। • तीन प्रदक्षिणा की विधि सम्पन्न होने पर प्रचलित प्रथा के अनुसार वर कन्या की ओर से सात-सात वचन दिए जाते हैं। • उसके बाद चौथे फेरे के समय कन्या का हाथ नीचे और वर का हाथ ऊपर करे। फिर वर को आगे करें और कन्या को पीछे करें। • तदनन्तर अग्नि में लाजा की मुष्ठी प्रक्षिप्त कर अग्नि की चौथी प्रदक्षिणा कराए।

• यहाँ इतना विशेष है कि प्रत्येक प्रदक्षिणा के पूर्व गृहस्थ गुरु फेरे का मन्त्र बोलते हैं। वे मन्त्र इस प्रकार हैं -

प्रथम फेरे का मन्त्र– *''ऊँ अर्हं अनादि विश्वमनादिरात्मा, अनादिः कालोऽनादिकर्म, अनादिः सम्बन्धो देहिनां देहानुमतानुगतानां क्रोधाहंकारछद्मलोभैः संज्वलनप्रत्याख्याना-वरणानन्तानुबन्धिभिः शब्द रूपरसगन्धस्पर्शैरिच्छानिच्छा-परिसंकलितै सम्बन्धोनुबंधः प्रतिबन्धः संयोग सुगमः सुकृतः सुनिवृत्तः सुतुष्टः सुपुष्टः सुलब्धो द्रव्य भाव विशेषेण अर्हं ऊँ।''*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दूसरे फेरे का मन्त्र– *"ऊँ अर्हं कर्माऽस्ति, मोहनीयमस्ति, दीर्घस्थित्यस्ति निबिडमस्ति, दुश्छेद्यमस्ति, अष्टाविंशति प्रकृत्यस्ति। क्रोधोऽस्ति, मानोऽस्ति, मायाऽस्ति लोभोऽस्ति संज्वलनोऽस्ति, प्रत्याख्यानावरणोऽस्ति, अप्रत्याख्यानावरणोऽस्ति, अनन्तानुबन्ध्यस्ति, चतुश्चतुर्विधोऽस्ति हास्यमस्ति, रतिरस्ति, अरतिरस्ति, भयमस्ति, जुगुप्साऽस्ति, शोकोऽस्ति, पुंवेदोऽस्ति स्त्रीवेदोऽस्ति, नपुंसकवेदोऽस्ति। मिथ्यात्वमस्ति मिश्रमस्ति, सम्यक्त्वमस्ति। सप्ततिकोटाकोटिसागरस्थित्यस्ति अर्हं ऊँ।"*

तीसरे फेरे का मन्त्र – *"ऊँ अर्हं कर्माऽस्ति, वेदनीयमस्ति, सातमस्ति, असातमस्ति। सुवेद्यं, सातम्, दुर्वेद्यमसातम्। सुवर्गणाश्रवणं सातं, दुर्वर्गणाश्रवणंमसातम्। शुभषड्रसास्वादनं सातं, अशुभषड्- रसास्वादनमसातं। शुभगन्धाघ्राणं सातं, अशुभगन्धाघ्राणं सातं, अशुभ- गन्धाघ्राणमसातं। शुभपुद्गलस्पर्शः सातं, अशुभपुद्गल-स्पर्शोऽसातं। सर्वं सुखकृत्सातं, सर्वं दुखकृत् असातं। अर्हं ऊँ।।"*

चौथे फेरे का मन्त्र– *"ऊँ अर्हं सहजोऽस्ति, स्वभावोऽस्ति, संबन्धोऽस्ति, प्रतिबद्धोऽस्ति। मोहनीयमस्ति, वेदनीयमस्ति, नामाऽस्ति, गोत्रमस्ति, आयुरस्ति। हेतुरस्ति, आश्रवबद्धमस्ति, क्रियाबद्धमस्ति। तदस्ति सांसारिकः संबन्धः। अर्हं ऊँ।।"*

दायजा (धन) प्रदान विधि- जब वर-कन्या अग्नि की प्रदक्षिणा करें, उस समय कन्या को देने योग्य सभी प्रकार की वस्तुएँ-वस्त्र, आभूषण, पात्र, वाहन, पलंग आदि वेदी (चँवरी) के स्थान पर लाए जाएं। वर-कन्या चौथी प्रदक्षिणा देकर बैठ जाएं। विशेष इतना है कि चौथी प्रदक्षिणा के बाद वर दाईं ओर एवं कन्या बाईं ओर बैठे।[52]

• उसके बाद गुरु मन्त्र पूर्वक वास, दूर्वा, चावल और दर्भ का दोनों के मस्तक पर निक्षेप करें। फिर गृहस्थ गुरु के कहने पर कन्या का पिता जल, यव, तिल और दर्भ को वर के हाथ में देकर 'सुदायं ददामि प्रतिगृहाण' मन्त्र को बोलते हुए पूर्वोक्त वस्त्र आदि दहेज के रूप में प्रदान करे।

करमोचन विधि– तदनन्तर गुरु वर कन्या को मातृगृह में ले जाएं। फिर कन्या के पिता द्वारा निवेदन किए जाने पर गुरु मन्त्र पूर्वक करमोचन करें। करमोचन का मन्त्र निम्न है-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"ऊँ अर्हं जीवत्वं कर्मणा बद्धः, ज्ञानावरणेन बद्धः, दर्शनावरणेन बद्धः, वेदनीयेन बद्ध, मोहनीयेन बद्धः, आयुषा बद्धो, नाम्नाबद्धो, गोत्रेणबद्धः, अन्तरायेणबद्धः प्रकृत्या बद्धः स्थित्या बद्धः, रसेन बद्धः, प्रदेशेन बद्धः। तदस्तु ते मोक्षो गुणस्थानारोहक्रमेण। अर्हं ऊँ।।"

करमोचन के अवसर पर कन्या का पिता दामाद को यथाशक्ति दान करे।

आशीर्वाद विधि– उसके बाद वर-कन्या पुनः वेदीगृह में आएं। गृहस्थ गुरु आशीर्वाद प्रदान करे। • फिर श्रृंगारगृह में प्रवेश करे, वहाँ पूर्व स्थापित काम की कुल व वृद्धों के अनुसार पूजा करें। • तदनंतर दोनों क्षीरान्न का भोजन करें।

अन्य विधियाँ– तदनन्तर पूर्वोक्त उत्सव पूर्वक अपने नगर में लौटें। वहाँ अपने देशाचार और कुलाचार के अनुरूप वर-वधू की निरूंछन-मंगल विधि करें। • कंकणबंधन, कंकणमोचन, द्यूतक्रीडा और वेणी गूंथना आदि देशाचार के अनुसार करें। उसके बाद कन्यापक्ष विवाह संस्कार के सात दिन बाद मातृ-विसर्जन की क्रिया करे। • वर पक्ष वाले कुलकर की विसर्जन विधि करें। उसके बाद पूर्ववत मंडलीपूजा, गुरुपूजा, वासग्रहण, ज्ञानपूजा, मुनियों को दान आदि करें।

• यह विवाह-विधि आचारदिनकर के अनुसार कही गई है। वर्तमान की विवाह पद्धति इससे कुछ भिन्न प्रतीत होती है। आजकल जैन पद्धति से विवाह करने की परिपाटी समाप्त-सी हो चुकी है। • वर्तमान प्रचलित तोरण स्पर्श करना, कन्या के गृहद्वार पर तोरण बांधना, दुल्हन की गोद भरना, दुल्हे का कुंकुम आदि से तिलक करना, दुल्हे के द्वारा मिट्टी के घड़े में मुद्रादि डालना, वधू की माँ के द्वारा वर के पाँव दूध से धोना, धूसर, मंथान, मूसल, हल और चरखे की त्राक से वर की पौंखन-क्रिया करना अर्थात धूसर आदि पंच वस्तुओं को लाल कपड़े में बांधकर तीन बार वर के मस्तक पर फिराना इत्यादि क्रियाओं का आचारदिनकर में उल्लेख नहीं हैं, किन्तु वर्तमान में ये सभी विधियाँ की जाती हैं। इससे ध्वनित होता है कि पूर्व निर्दिष्ट नेकाचार पन्द्रहवीं शती के बाद अस्तित्व में आए हैं। ये विधान कब-कैसे, विवाह-संस्कार के अंग बन गए? इस सम्बन्ध में प्रामाणिक जानकारी के बिना कुछ कह पाना मुश्किल है। इसके सिवाय भिन्न-भिन्न देश एवं भिन्न-भिन्न कुल परम्परा के कारण अन्य भी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनेक रीति-रिवाज किए जाते हैं, वे अपनी परम्परा के आधार पर समझने योग्य हैं।

दिगम्बर– दिगम्बर परम्परा में विवाह-संस्कार की यह विधि उल्लेखित है- विवाह के दिन प्रातःकाल में वर और कन्या अपने-अपने जिनालय में जाकर शुभ मुहूर्त्त में विनायकयन्त्र की पूजा करें।[53] फिर घर आकर गृहस्थाचार्य से कंकणबंधन करवाएं। यह कंकणबंधन कन्या के बाएं हाथ में और वर के दाएं हाथ में किया जाए। कन्या के कंकण में पाँच और वर के कंकण में सात गाँठ लगाएं। कंकण बांधने का मन्त्र यह है-

जिनेन्द्र गुरु पूजनम् श्रुतवचः सदा धारणम्।
स्वशीलयमरक्षणं ददन सत्तपोवृहंणम्।।
इति प्रथितषट्क्रिया, निरतिचारमास्तां तवे।
त्यथ प्रथितकर्मणि विहित रक्षिकाबंधनम्।।

दिगम्बर-परम्परानुसार विवाह के पूर्व टीका के अवसर पर कन्यापक्ष की ओर से वर के लिए वस्त्र एवं अंगूठी तथा विवाह- मुहूर्त्त लिखा हुआ मांगलिक लग्नपत्र पंचों के समक्ष भेजा जाता है। वह वर को पट्ट पर बिठाकर फल व पुष्पमाला सहित उसके गोद में दिया जाता है। यदि आवश्यकता हो, तो विवाह के सात या पाँच दिन पूर्व विवाह-मण्डल तैयार किया जाता है। इसे स्तंभारोपण कहते हैं। यह विधि ज्योतिषी से पूछकर आग्नेय-कोण में वर एवं कन्या के गृहांगन में की जाती है। स्तंभारोपण करने के लिए गड्ढा खुदवाते हैं, फिर मंगलकलश एवं यन्त्र-पूजादि पूर्वक स्तंभ आरोपित करते हैं। स्तंभ के ऊपर के हिस्से में लाल वस्त्र में श्रीफल, सुपारी, हल्दी गाँठ, चवन्नी, सरसों, पान, आम के पत्ते, अमरबेल आदि बांधकर लटकाते हैं।

वर के यहाँ केवल मण्डप की रचना होती है, जबकि कन्या के यहाँ मण्डप के सिवाय भाँवर(फेरे) के लिए वेदी की रचना भी होती है। वेदी के योग्य स्थान पर चन्दोवा ताना जाता है और कहीं-कहीं मानस्तम्भ व कलश भी स्थापित करते हैं। वेदी बनाने के लिए कम-से-कम चार हाथ की लम्बी-चौड़ी जमीन के आस-पास चारों कोनों में चार कुण्ड रखकर चार-चार बाँस व ऊपर भी कुल चार बाँस लगाकर उन्हें मूंज की रस्सी से बांध देते हैं। बीच में उतना ऊँचा चन्दोवा बांधा जाता हैं, जिसके नीचे वर-कन्या आसानी से खड़े रह सकें।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वर्तमान में यह तैयार भी मिलती है। उस वेदी के बीच एक हाथ लम्बा-चौड़ा स्थंडिल(हवन कुण्ड) बनाते हैं। यहाँ हवन कुण्ड से तात्पर्य गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय-ऐसी तीन अग्नियों की स्थापना करना है। विवाह की समस्त क्रियाएँ इन अग्नियों के समक्ष की जाती है। जो वेदी तीन कटनी की बनाई जाती है उनमें प्रथम, द्वितीय, तृतीय कटनीगत अग्नि की स्थापना इन तीन अग्नियों से की जाती है, अतएव फेरे का समय होने के पूर्व स्थंडिल(हवन कुण्ड) पर कुंकुम से स्वस्तिक बनाएं, चारों ओर दीपक रखें। फिर पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुख करके टंगी हुई कटनी में ऊपर यंत्र, बीच में शास्त्र और नीचे में गुरु-पूजा के निमित्त कागज पर चौसठ ऋद्धि की रचना कर रखें। अष्टमंगल की सजावट करें।[54]

उसके बाद शुभ मुहूर्त्त में वर-कन्या वेदी के स्थान पर आएं। उस समय वधूपक्ष के दरवाजे पर कन्या की माता चावल का छोटा-सा चौक पूरकर पट्ट रखें और उस पर जल द्वारा वर के पाँव धोए तथा उसकी आरती करे। कन्या का मामा वर का तिलक कर एक रूपया व श्रीफल प्रदान करे। फिर दोनों वेदीस्थान के समक्ष आकर खड़े हो जाएं। उस समय दोनों को एक-एक पुष्पाहार दिया जाए। गृहस्थाचार्य मंगलाष्टक पढ़े और शुभ मुहूर्त्त के होने पर वर कन्या को और कन्या वर को पुष्पमाला पहनाए। फिर दोनों बिछाई हुई दरी पर बैठें। कन्या वर के दाईं ओर बैठें। गृहस्थाचार्य वर से मंगल कलश की स्थापना करवाए, उस कलश को सुपारी, हल्दी गाँठ, चवन्नी आदि मांगलिक वस्तुएँ डालकर लालवस्त्र से आच्छादित करे।

उसके बाद जिनेन्द्रदेव की पूजा करें, नवदेवता का पूजन करें, विनायक यन्त्र की पूजा करें, फिर सिद्ध प्रतिमा की पूजा करें। यन्त्रादि की पूजा विधि समाप्त होने पर कन्या के पिता व कन्या के मामा यन्त्र के सामने तथा वर के पिता और वर के मामा यन्त्र के पीछे हाथ जोड़कर खड़े हो जाएं। उसके बाद गृहस्थाचार्य कन्या की सम्मति पूर्वक कन्या के पिता व मामा से वर के प्रति यह वाक्य बुलवाए-''मैं आपकी धर्माचरण, समाज एवं देश की सेवा में सहयोग देने के लिए अपनी यह कन्या प्रदान करना चाहता हूँ। आप इसे स्वीकार करें और धर्म का पालन करें।'' इसी प्रकार वर के पिता व मामा यन्त्र को नमस्कार कर कहें-''हम आपकी कन्या को स्वीकार करते हैं और इसके सहयोग से वर धर्म,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ और काम का सेवन करेंगे।'' इस अवसर पर उपस्थित सभी स्त्री, पुरूष वर-कन्या के प्रति 'वृणीत्वं वृणीध्वं(वरो)' कहकर पुष्प उछालें। उसके बाद कन्या के पिता झारी या कलशी में जल लेकर वर के दाएं हाथ की कनिष्ठिका अंगुली से कन्या के बाएं हाथ की कनिष्ठिका अंगुली का स्पर्श करवाएं और मन्त्रपूर्वक उन पर जलधारा छोड़ें। कन्या भेंट करने का मन्त्र निम्न है-

''ऊँ नमोऽर्हते श्रीमते वर्धमानाय श्री वलायुरारोग्य संतानाभिवर्धनं भवतु क्ष्वीं क्ष्वीं हं सः स्वाहा।''

तत्पश्चात् पूर्व निर्दिष्ट हवन कुण्ड पर ही चौकोण तीर्थंकर कुण्ड, गोल गणधर कुण्ड और त्रिकोण सामान्यकेवली कुण्ड की स्थापना करें। फिर श्लोक के उच्चारण पूर्वक उन पर कन्या से तीन अर्घ चढ़वाएं। फिर आहुति प्रदान करें। एक आहुति काम्य मन्त्र पढ़कर दें। वर-कन्या पर पुष्पक्षेप करें। इसी क्रम में जातिमन्त्र, निस्तारकमंत्र, ऋषिमंत्र, सुरेन्द्रमन्त्र, परमराजादिमन्त्र, परमेष्ठिमन्त्र, आहुतिमंत्र बोलकर एक-एक आहुति दें। फिर शांतिमन्त्र के उच्चारण पूर्वक 108 या 27 बार आहुति दें। उसके बाद सप्तपदी पूजा कराएं।

ग्रन्थि बंधन– हवन-विधि के बाद कन्या की साड़ी के पल्ले में चवन्नी, सुपारी, हल्दीगाँठ, सरसों व पुष्प बांधें। फिर उससे वर के दुपट्टे के पल्ले को बांध दें। यह ग्रन्थि बन्धन की क्रिया सौभाग्यवती स्त्री द्वारा करवाई जाए। ग्रन्थि बंधन का मन्त्र निम्न है-

''अस्मिन् जन्मन्येष बन्धोर्द्वयोर्वै, कामे धर्मे वा गृहस्थत्वभाजि। योगो जातः पंचदेवाग्नि साक्षी, पंचदेवाग्नि साक्षी, जाएंपत्त्योरंचलग्रंथि बंधात्।''

पाणिग्रहण– ग्रन्थि बंधन होने का बाद कन्या का पिता कन्या के बाए हाथ में और वर के दाहिने हाथ में जल मिश्रित हल्दी का लेप करे। लोक में जो पीले हाथ करने की बात कही जाती है, यह वही विधि है। फिर वर के दाएं हाथ में थोड़ी-सी गीली मेंहदी और एक चवन्नी रखकर उस पर कन्या का बायां हाथ रखें। कन्या का हाथ ऊपर और वर का हाथ नीचे हो, इस प्रकार करके वर-कन्या का हथलेवा बांध दें। पाणिग्रहण हथलेवा का मन्त्र यह है-

महारिद्रपंकमवलिप्य सुवासिनीभिर्दतं द्वयोर्जनकयोः खलु तौ गृहीत्वा। वामं करं निजसुताभवमग्रपाणिम्, लिम्पेद्वरस्य च करद्वययोजनार्थं।।

पाणिग्रहण के बाद कन्या को आगे और वर को पीछे करके चँवरी(हवन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कुण्ड) के चारों और छः फेरे दिलवाएं।[56] इस समय गृहस्थाचार्य प्रत्येक फेरे के बाद निम्न मन्त्रोच्चार पूर्वक अर्घ चढ़ाएं।

फेरे के मन्त्र–

ऊँ ह्रीं सज्जाति परमस्थानाय अर्घ्यम्।
ऊँ ह्रीं सद्गृहस्थ परमस्थानाय अर्घ्यम्।
ऊँ ह्रीं पारिव्राज्य परमस्थानाय अर्घ्यम्।
ऊँ ह्रीं सुरेन्द्र परमस्थानाय अर्घ्यम्।
ऊँ ह्रीं साम्राज्य परमस्थानाय अर्घ्यम्।
ऊँ ह्रीं आर्हन्त्य परमस्थानाय अर्घ्यम्।

प्रदक्षिणा (फेरों) के समय स्त्रियाँ मंगलगीत गाएं। छः फेरों के बाद दोनों अपने स्थान पर बैठ जाएं। तब गृहस्थाचार्य वर-कन्या दोनों से एक-दूसरे के प्रति सात-सात प्रतिज्ञा वचन बुलवाए। इन प्रतिज्ञाओं को सप्तपदी कहते हैं। फिर वर को आगे करके सातवाँ फेरा लगवाए।

तदनन्तर गृहस्थाचार्य मन्त्र पूर्वक नवदम्पति पर पुष्प क्षेपण करे। फिर दोनों ओर से यथाशक्ति दान की घोषणा करवाए, फिर हथलेवा छुडवाए। फिर खड़े होकर मंगल कलश करे अर्थात 'पुण्याहवाचन' के पाठ पूर्वक एक पात्र में जलधारा छुड़वाईं जाए। इस समय शांतिधारा का पाठ भी बोले।

आशीर्वाद एवं आरती– तत्पश्चात गृहस्थाचार्य श्लोक पूर्वक नवदम्पति को आशीर्वाद प्रदान करे। फिर कन्या की माता वर का तिलक कर उसकी आरती करे। उसके पश्चात् मंगल गीत पूर्वक वर-वधू को विदा करें।

आदिपुराण में दिगम्बरीय विवाह पद्धति का संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार मिलता है[57]– विवाह के दिन द्विज (विधिकारक गुरु) सिद्ध परमात्मा की सम्यक् प्रकार से पूजा करे। फिर तीनों अग्नियों की पूजा करे। फिर उनकी साक्षी पूर्वक वैवाहिक क्रियाएँ सम्पन्न करे। यह विवाहोत्सव महान वैभव के साथ सिद्ध परमात्मा की प्रतिमा के समक्ष करना चाहिए। वर-वधू को सात दिन तक ब्रह्मचर्यव्रत धारण करने का संकल्प लेना चाहिए। विवाहोत्सव के उपरान्त अपने योग्य किसी देश या तीर्थ भूमि में भ्रमण कर महान आडम्बर के साथ अपने घर में प्रवेश करें।

यहाँ दिगम्बर मान्य विवाह विधि प्रचलित परम्परा के अनुसार कही गई है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह विधि अथ से इति तक धार्मिक अनुष्ठानों से सम्बन्ध रखती है। इस विधि को पढ़ने से ज्ञात होता है कि यह एक धर्मानुमोदित परम्परा है। इस परम्परा ने प्रत्येक संस्कार को धार्मिकता से जोड़ा है। यद्यपि श्वेताम्बर मान्य विवाह विधि भी धार्मिक भावों से अनुप्राणित हैं, तथापि सिद्धप्रतिमापूजन, मंगल कलश स्थापन, जिनेन्द्र भक्ति आदि का इसमें विशेष उल्लेख है। इसमें तोरण स्पर्श करना, लवण उतारना, पौंखना करना, वर की नाक खींचना, अग्नियुक्त सकोरा तोड़ना आदि क्रियाकलापों का सूचन नहीं भी है। संभवत: ये प्रचलित विधान इस परम्परा में भी अवश्य ही सम्पन्न किए जाते होंगे, परन्तु उल्लेख न करने का हेतु विचारणीय है।

वैदिक– हिन्दू परम्परा में विवाह संस्कार की विधि का अत्यन्त विस्तृत स्वरूप प्राप्त होता है। इसी के साथ विवाह सम्बन्धी कृत्यों को लेकर इस परम्परा में कई मत-मतान्तर भी देखे जाते हैं। यहाँ विवाह संस्कार के महत्त्वपूर्ण एवं प्रचलित कृत्यों का दिग्दर्शन मात्र किया जा रहा है-

वधू-वर गुण परीक्षा– वैवाहिक सम्बन्ध तय करने के लिए वधू-वर के योग्य गुणों की परीक्षा की जाती है।

वरप्रेषण– प्राचीन काल में कन्या के पास व्यक्ति भेजे जाते थे। मध्यकाल के क्षत्रियों में भी यह प्रथा थी। आधुनिक काल में ब्राह्मणों तथा बहुत सी अन्य जातियों में लड़की का पिता वर ढूंढ़ता है, यद्यपि शूद्रों में यह प्राचीन परम्परा अब भी मौजूद है।

वाग्दान– विवाह तय करना अथवा वर को कन्यादान की मौखिक स्वीकृति देना।

मण्डपकरण– विवाह के लिए पण्डाल बनाना।

वधुगृहगमन– वर का बारात के रूप में वधू के घर जाना।

मधुपर्क– वधू के घर वर का प्रथम बार आगमन होने पर श्वसुर द्वारा स्वागत के रूप में दिया जाने वाला खाद्य पदार्थ। इस सम्बन्ध में अनेक मत प्रचलित हैं।

स्नापन-परिधापन एवं सन्नहन– विवाह के दिन वधू को स्नान कराना, नया वस्त्र पहनाना, उसकी कटि में धागा या कुश की रस्सी बांधना।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समंजन– विवाह के पूर्व सात, नौ, ग्यारह या तेरह दिन वर एवं वधू के शरीर पर उबटन या सुगन्ध लगाना।

प्रतिसरबन्ध– वधू के हाथ में कंगन बाँधना।

वधू-वर निष्क्रमण– घर के अन्त:कक्ष से वर एवं वधू का मण्डप में आना।

परस्पर समीक्षण– वर-वधू का एक दूसरे की ओर देखना। यह क्रिया विशिष्ट विधि पूर्वक होती है।

कन्यादान– वर को कन्या प्रदान करना। यह कृत्य आज भी मौजूद है।

अग्नि स्थापन एवं होम– विवाह लग्न के ठीक पूर्व अग्नि की स्थापना करना एवं अग्नि में आज्य की आहुतियाँ डालना।

पाणिग्रहण– कन्या का हाथ पकड़ना अर्थात हथलेवा-विधि।

लाजहोम– कन्या द्वारा अग्नि में धान के लावा (खीलों) की आहुति देना।

अग्निपरिणयन– वर द्वारा वधू को लेकर अग्नि एवं कलश की प्रदक्षिणा देना।

अश्मारोहण– वधू को पत्थर पर चढ़ाना।

सप्तपदी– चावल की सात राशियों पर वर वधू द्वारा प्रत्येक पर सात-सात पग चलना।

मूर्धाभिषेक– वर-वधू के मस्तक पर जल छिड़कना।

सूर्योदीक्षण– वधू को सूर्य की ओर देखने को कहना।

हृदयस्पर्श– मन्त्र के साथ वधू के हृदय का स्पर्श करना।

प्रेक्षकानुमन्त्रण– नवविवाहित दम्पति की ओर संकेत करके दर्शकों को सम्बोधित करना।

दक्षिणादान– आचार्य को भेंट देना।

गृहप्रवेश– वर के गृह में प्रवेश करना।

ध्रुवारून्धती-दर्शन– विवाह के दिन कन्या को ध्रुव एवं अरून्धती तारे की ओर देखने को कहना।

आग्नेय-स्थालीपाक– अग्नि को पक्वान्न की आहुति देना।

त्रिरात्रव्रत– विवाह के उपरान्त तीन रात्रियों तक कुछ नियमों का पालन करना।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चतुर्थीकर्म– विवाह के उपरान्त चौथी रात्रि का कृत्य।

सीमान्तपूजन– वधू के नगर में वर एवं उसकी बारात के पहुँचने पर उनका सम्मान करना। आधुनिककाल में यह कृत्य वाग्दान के पूर्व किया जाता है।

हर-गौरीपूजा– शिव एवं गौरी की पूजा करना।

तैलहरिद्रारोपण– वधू के शरीर पर तेल एवं हल्दी के लेप के उपरान्त बचे हुए भाग से वर के शरीर का लेपन करना।

आर्द्राक्षतारोपण– वर एवं वधू द्वारा भीगे हुए अक्षतों को परस्पर में एक-दूसरे पर छिड़कना।

मंगलसूत्र बन्धन– वधू के कण्ठ में स्वर्णिम एवं अन्य प्रकार के दाने धागे में पिरोकर बांधना। आधुनिक युग में यह मंगलसूत्र नामक एक आभूषण होता है, जो पति के जीवित रहने तक धारण किया जाता है।

उत्तरीयप्रान्त बन्धन– वर एवं वधू के वस्त्र के कोनों में हल्दी एवं पान बांधकर उन दोनों को एक साथ बांधना।

एरिणीदान– एक बड़े थाल में जलते हुए दीपक के साथ भाँति-भाँति की भेंट सजाकर कन्या की सास को देना, जिससे वह वधू को स्नेह से रखे।

देवकोत्थापन एवं मण्डपोदवासन– आमन्त्रित देवी-देवताओं का विसर्जन करना और विवाह-मण्डप को हटाना।[58]

वैदिक परम्परा में विवाह को पन्द्रहवाँ संस्कार कहा गया है यहाँ तुलनापरक दृष्टि से ही इस संस्कार की विधि चौदहवें संस्कार के क्रम में कही गई है। मूलतः इस परम्परा में चौदहवाँ संस्कार केशान्त नाम का माना गया है।

केशान्त संस्कार– केशान्त का शब्दशः अर्थ है-केश का अन्त कर देना अर्थात केश का मुण्डन करवा देना।

वैदिक मान्य वेदारम्भ(11वाँ) संस्कार में ब्रह्मचारी बालक गुरुकुल में वेद ग्रन्थों का अध्ययन करता है। उस समय ब्रह्मचारी के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करना, केश और श्मश्रु(दाढ़ी) रखना, मौंजी-मेखला आदि धारण करना अनिवार्य माना गया है। जब विद्याध्ययन पूर्ण हो जाता है, तब केशान्त संस्कार, गुरु कुल में ही सम्पन्न किया जाता है अर्थात श्मश्रु वपन(दाढ़ी बनाने) की क्रिया सम्पन्न की जाती है अतः यह श्मश्रु-संस्कार भी कहलाता है। इसे गोदान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संस्कार भी कहा जाता है, क्योंकि 'गौ' यह नाम केश(बालों) का भी है और केशों का अन्तभाग श्मश्रुभाग ही कहलाता है। रघुवंश(3/33 पद्य की मल्लिनाथ व्याख्या) के अनुसार 'गौ' अर्थात लोम-केश जिसमें काट दिए जाते हैं, वह गोदान संस्कार है।

मनु के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को क्रमशः सोलहवें, बाईसवें और चौबीसवें वर्ष में केशान्तकर्म कराना चाहिए। आजकल इस संस्कार का आयोजन प्रायः नहींवत रह गया है।

उपर्युक्त विवरण से यह बात सर्वथा स्पष्ट हो जाती है कि हिन्दू परम्परा में वैवाहिक संस्कार से सम्बन्धित विधि-विधानों की एक लम्बी सूची है। इसका मुख्य कारण यह है कि कालक्रम के प्रभाव से धार्मिक-विचारधाराएँ, सामाजिक-प्रथाएँ एवं लौकिक-क्रियाएँ परिवर्तित होती रहती हैं। जैसा कि प्रारम्भ में धर्म शास्त्रों में केवल वैदिक-कर्मकाण्ड ही निहित थे, लौकिक-क्रियाओं और प्रथाओं का उनमें कोई स्थान नहीं था, किन्तु आगे चलकर कुछ परिस्थितियों ने लौकिक-विधि-विधानों और प्रथाओं को मान्यता देने के लिए बाध्य कर दिया, साथ ही उन पद्धतियों और प्रयोगों का भी इसमें समावेश कर लिया गया, जो प्राचीन धर्म शास्त्रों की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक तथा नवीन परम्पराओं को प्रस्तुत करने वाले हैं। दूसरा कारण यह है कि भारत के भिन्न-भिन्न भागों में विभिन्न पद्धतियों एवं प्रयोगों का अनुसरण किया जाता है। परिणामस्वरूप भिन्न-भिन्न प्रदेशों में वैवाहिक क्रियाएँ भी भिन्न-भिन्न हैं, अतः उसके विधि-विधान की संख्या में भी अन्तर है। जैन परम्परा की भाँति हिन्दू परम्परा के सम्बन्ध में भी एक बात अवश्य उल्लेखनीय है कि कन्या के द्वार पर तोरण बांधना, वर द्वारा तोरण का स्पर्श करना, सासुजी द्वारा पौंखण कार्य करना, बहन द्वारा लवण उतारना, वर के पाँव धोना इत्यादि बहु प्रचलित कृत्य-विधियों का वैदिक ग्रन्थों में निर्देश हुआ हो ऐसा पढ़ने में नहीं आया है।

विवाह संस्कार सम्बन्धी विधि-विधानों के बहुपक्षीय प्रयोजन

विवाह का तात्पर्य है-ऊपर उठाना, योग देना, ग्रहण करना, धारण करना आदि। विवाह कामभोग प्रविष्टि का प्रमाण-पत्र नहीं है, अपितु एक मानवीय व्यवस्था है। मूलतः विवाह मनुष्य के जीवन में सर्वाधिक क्रान्तिकारी घटना है और यह मनुष्य के जीवन में एक पूर्णतः नवीन अध्याय का प्रारम्भ कर दो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्यक्तियों के बीच एक सर्वथा नवीन सम्बन्ध स्थापित करती है, जिनके सुपरिणाम समाज को ऊँचाईयों की ओर ले जाने में प्रबल कारण बनते हैं। इसकी मुख्य वजह यह है कि इस संस्कार के कृत्य सोद्देश्य और किसी न किसी अर्थ के प्रतीक रूप में अनुष्ठित हुए हैं। उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है-

कन्यादान के तात्त्विक पहलू – कन्या के अभिभावकों को उसके उत्तरदायित्व से निवृत्त कर उन दायित्वों को वरपक्ष के अभिभावकों में स्थानान्तरित करना कन्यादान है। कन्यादान के पूर्व तक कन्या के भरण-पोषण, संरक्षण-संवर्द्धन, सुख-शान्ति, आनन्द- उल्लास आदि का ख्याल माता-पिता रखते हैं, तदुपरान्त यह दायित्त्व पति एवं उसके कुटुम्बियों को निभाना होता है। कन्यादान के समय कन्या के हाथों में हरिद्रा लगाते हैं, वह मंगल सूचक क्रिया है। लक्ष्मी का प्रतीक स्वर्ग है और स्वर्ग को पीले रंग का माना गया है। कन्या के हाथ पीतवर्णी इसलिए भी किए जाते हैं कि अब तक लाड़-प्यार से रही, अब उसे अपने हाथों को नव-निर्माण के अनेक उत्तरदायित्व संभालने को तैयार करना है। इसके द्वारा यह मौन-संदेश भी दिया जाता है कि उसे आगे सृजन-शक्ति के रूप में प्रकट होना है और इसके लिए इन कोमल हाथों को अधिक उत्तरदायी एवं कठोर बनाना है। इस कृत्य के माध्यम से ससुराल पक्षीय सदस्यों को भी यह शिक्षा दी जाती है कि वे कच्ची उम्र की अनुभवहीन एवं भावुक बालिका को स्नेह, सहयोग तथा सुख शान्ति पूर्वक रखें।

पाणिग्रहण के मार्मिक संदेश– कन्या द्वारा अपना हाथ वर के हाथ में सौंपना तथा वर द्वारा कन्या के हाथ को अपने हाथों में ग्रहण करना अथवा अपने हाथ को कन्या के हाथों में सुपुर्द करना पाणिग्रहण कहलाता है। इसका हार्द यह है कि पाणिग्रहण के पश्चात वर और वधू-दोनों एक-दूसरे के पूरक बनते हुए एक दूसरे विकास में सहयोगी बने एवं जीवन यात्रा के निर्वहन में आधार स्तंभ बनें। दोनों में परस्पर आग्रह बुद्धि या हठाग्रह वृत्ति का नामोनिशान नहीं रह सकेगा और इसी में दाम्पत्य जीवन का वास्तविक आनन्द निहित है। इस प्रसंग पर वर यह भी अनुभव करे कि कन्या ने अपना व्यक्तित्व, अपनी इच्छाएँ, आकांक्षाएँ एवं गतिविधियों को संचालित करने का सम्पूर्ण दायित्व अर्थात सम्पूर्ण जीवन उसे सौप दिया है और उसने भी समाज के सम्मुख इन दायित्वों के निर्वहन का संकल्प लिया है, इसीलिये उसने वधू का हाथ थाम

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लिया है, अब उसे पीछे नहीं हटना है। इसका एक प्रयोजन यह भी कहा जा सकता है कि कन्या का पिता अपनी कन्या को वर के हाथ में सौंपता है।[59]

ग्रन्थि बन्धन के मौलिक उद्देश्य– कन्या की ओढ़नी के एक किनारे को वर के दुपट्टे से बांधना ग्रन्थि बन्धन है। यहाँ दुपट्टे एवं ओढ़नी के छोर को बांधने का उद्देश्य दोनों के शरीर और मन का एक संयुक्त इकाई के रूप में बांधते हुए एक नई सत्ता का आविर्भाव करना है। यह कृत्य एक-दूसरे में पूर्ण रूपेण समाहित होने का संदेश देता है। ग्रन्थि बन्धन में पैसा, पुष्प, दूर्वा, हरिद्रा और अक्षत-ये पाँच वस्तुएं भी बांधते हैं। पैसा इसलिए रखा जाता है या पैसा रखने का अर्थ यह है कि धन पर किसी एक का अधिकार न रहे, उस पर दोनों का संयुक्त अधिकार रहे। खर्च करने के लिए दोनों ही समानाधिकारी रहेंगे।

दूर्वा का अर्थ है– यह कभी निर्जीव न होने वाली प्रेम भावना की सूचक। जिस प्रकार दूर्वा में जीवन तत्त्व नष्ट नहीं होता है, पानी में डालने पर सुखी दुर्वा भी हरी हो जाती है, उसी प्रकार दोनों के मन में एक-दूसरे के लिए अजस्र प्रेम और आत्मीयता बनी रहे, चन्द्र-चकोर की तरह दोनों एक-दूसरे पर अपने को न्यौछावर करते रहें, अपना कष्ट कम और साथी का कष्ट बढ़कर मानें, अपने सुख की अपेक्षा साथी के सुख का अधिक ध्यान रखें, अपना आन्तरिक-प्रेम एक- दूसरे पर उड़ेलते रहें।

हरिद्रा– हरिद्रा आरोग्य की सूचक है। यह विधान एक-दूसरे के शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य की निरोगता में सहयोगी बनने का प्रेरक है। यह भावना दोनों तक ही सीमित न रहे, अपितु परिवार एवं जन-जन के लिए भी विकसित करें। अक्षत इस बात का संकेत करता है कि आप दोनों एक-दूसरे के लिए ही नहीं बंधे हैं, वरन् समाज सेवा का व्रत एवं उत्तरदायित्त्व भी इस ग्रन्थि बंधन में महत्त्वपूर्ण लक्ष्य के रूप में विद्यमान है।

पुष्प– पुष्प हँसते-खिलते रहने का संदेश देता है। एक-दूसरे को हँसाएं-खिलाएं, एक-दूसरे को देखकर प्रसन्न हों। एक-दूसरे को सुगन्धित बनाने के लिए, यश फैलाने के लिए, सदैव तत्पर रहें। इस प्रकार ग्रन्थि बंधन में दूर्वा, पुष्प, हरिद्रा, अक्षत और पैसा-ये पाँच वस्तुएँ रखते हुए यह आशा की जाती है कि वे जिन लक्ष्यों के साथ आपस में बंधे हैं, उन्हें आजीवन निरन्तर स्मरण में रखें।[60]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हवन-आहुति के गूढ़ रहस्य– हवन, होम, आहुति-ये प्राय: समानार्थक शब्द हैं। हवन-अग्नि में सामग्री की आहुति देना, आवाहन करना। होम यज्ञाग्नि में घी की आहुति देना। आहुति-एक प्रकार का पुण्य कृत्य, हवनकुंड में हवन-सामग्री डालना आहुति कहलाता है। आहुति का आध्यात्मिक अर्थ है-कुसंस्कारों का होम करना, असत्य आचरण की तिलांजलि देना आदि। पं. श्रीराम शर्मा आचार्य ने चार प्रकार की आहुतियों का उल्लेख किया है- 1. प्रायश्चित्त होम 2. राष्ट्रभृत होम 3. जया होम और 4. लाजा होम।[61] जैन परम्परा में विवाह संस्कार के समय लाजा होम की आहुतियाँ दी जाती है।

1. प्रायश्चित्त-होम की आहुतियाँ देते समय दोनों के मन में यह भावना आनी चाहिए कि दाम्पत्य जीवन में बाधा पहुँचाने वाले जो भी कुसंस्कार अब तक मन में रहे हों, उन सब को स्वाहा किया जा रहा है। किसी से पति व्रत या पत्नी व्रत का उल्लंघन करने की कोई भूल हुई हो तो उसे अब एक स्वप्न जैसी बात समझकर विस्मृत किया जाए। इस प्रकार कोई अन्य नशेबाजी जैसा दुर्व्यसन रहा हो या स्वभाव में रूक्षता, कठोरता, स्वार्थपरता जैसी वृत्ति विद्यमान हो तो उसका त्याग किया जा रहा है। साथ ही भविष्य में इस प्रकार की भूल न करने का संकल्प भी किया जा रहा है।

2. राष्ट्रभृत होम से तात्पर्य है - परिवार, समाज एवं राष्ट्र के प्रति जो उत्तरदायित्व गृहस्थ के ऊपर है, उनका उत्साह, श्रद्धा एवं उदारता के साथ निर्वाह किया जाए। इस संकल्प को हृदयंगम करने के लिए राष्ट्र-भृत होम की आहुतियाँ दी जाती हैं।

3. जया होम का अर्थ है - अपने-अपने असंयम, लोभ, क्रोध एवं अहंकार जैसे दोषों को जीतना। इन दुष्प्रवृत्तियों के उच्छृंखल बने रहने से विवाह का आदर्श एवं उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है। पति-पत्नी आत्मजयी होकर ही एक-दूसरे के लिए उपयोगी बन सकते हैं अत: आत्मजयी बनने के लिए अग्निदेव को आहुतियाँ दी जाती हैं।

4. लाजा होम– लज्जा, यश, प्रतिष्ठा, सम्मान की अभिवृद्धि के लिए किया जाता है। इस आहुति द्वारा संकल्प किया जाता है कि एक-दूसरे को यशस्वी एवं विकसित बनाएंगे, लोक-लज्जा का ध्यान रखेंगे। लाजा का एक अर्थ धन-धान्य एवं वैभव भी है। इन आहुतियों में यह भी संकेत है कि दोनों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मिल-जुलकर पारिवारिक समृद्धि एवं व्यवस्था को सुव्यवस्थित बनाने के लिए पूरा-पूरा प्रयत्न करेंगे। इस तरह चारों प्रकार के होम विवाह के अवसर पर उन्हीं महत्त्वपूर्ण प्रयोजनों को लेकर किए जाते हैं।

इस सम्बन्ध में यह जानना भी अपेक्षित है कि प्रथम तीन होम वर-वधू द्वारा बैठे-बैठे ही किए जाते हैं, जिनमें वर के हाथों घी और कन्या के हाथों साकल्य(शाकल) की आहुतियाँ दी जाती हैं, जबकि लाजा-होम की सात भाँवर फिरते हुए, वधू द्वारा खड़े होकर दी जाती है। इस समय कन्या का भाई थाली में शमीपत्र तथा घृत मिश्रित भुने हुए धान की खील लेकर वर-वधू के पीछे खड़ा हो जाता है। वर-वधू परिक्रमा करते हुए नियत स्थान पर आते हैं, तब भाई एक मुट्ठी खील बहन के हाथ में देता है। यह क्रम परिक्रमाओं के साथ चलता रहता है। प्रत्येक बार तीन-तीन आहुतियाँ दी जाती हैं। यह क्रम तीन बार तक चलता है अर्थात 3 × 3 = 9 आहुतियाँ तीन बार में और एक आहुति चौथी परिक्रमा के समय दी जाती हैं, इस प्रकार कुल 10 आहुतियाँ लाजा-होम की होती हैं। यहाँ लाजा-होम में प्रयुक्त अन्न और शमीपत्र उर्वरता व ऐश्वर्य के प्रतीक हैं।

लाजा-होम का एक अर्थ यह है-इस होम में भाई के घर से अन्न आदि लाजाओं के रूप में बहन को मिलता है। वह सूचित करती हैं-बेशक मेरे व्यक्तिगत उपयोग के लिए पिता गृह से मुझे कुछ मिला है, पर उसे मैं छिपाकर अलग नहीं रखती, आपको सौपती हूँ अत: आपके मन में भी मेरे लिए अलगाव या छिपाव का भाव न आए।

फेरे (परिक्रमा) का मूल हार्द– यह सर्वसामान्य परम्परा रही है कि विवाह की मूल विधि अग्नि देवता के समक्ष एवं उसके चारों ओर परिक्रमा लगाकर निष्पन्न की जाती है। शास्त्राचार से चार प्रदक्षिणा एवं लोकाचार से सात प्रदक्षिणा (फेरे) लगाने का विधान है। इन्हें भाँवर फिरना कहते हैं। परिक्रमा लगाते हुए वर-वधू द्वारा यह संकल्प किया जाना चाहिए कि अग्नि देवता की साक्षी में यह शपथ ग्रहण कर रहे हैं कि हम लोग एक महान् धर्म बन्धन में बंधने हेतु कटिबद्ध बने हैं और यह प्रण करते हैं कि देव सान्निध्य में किए जा रहे इस संकल्प को प्राण-प्रण से निभाने का प्रयत्न करेंगे। इस प्रकार यह विधि गृहस्थ धर्म से बंधने की प्रेरणा प्रदान करती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शिलारोहण विधि का अमृत संदेश– यह विधि वैदिक परम्परा में प्रचलित है। इस क्रिया में वर-वधू को मन्त्र पूर्वक एक प्रस्तर खण्ड पर आरूढ़ किया जाता है। पत्थर स्थिरता एवं शक्ति का प्रतीक है। यहाँ पत्नी को अपने पतिव्रत में स्थिर होने के लिए कहा जाता है। इस क्रिया का दूसरा प्रयोजन यह भी माना गया है कि वर-वधू पत्थर पर पाँव रखते हुए यह प्रतिज्ञा करते हैं कि जिस प्रकार अंगद ने अपना पैर जमा दिया था, उसी तरह हम पत्थर की लकीर की तरह अपना पैर आगत उत्तरदायित्वों को निभाने के लिए जमाते हैं। यह धर्मकृत्य खेल-खिलौनों की तरह नहीं किया जा रहा, जिसे एक मखौल समझकर तोड़ा जाता रहे, वरन् यह प्रतिज्ञा और निष्ठा पत्थर की लकीर की तरह अमिट बनी रहेगी। इन्हें चट्टान की तरह अटूट एवं चिरस्थाई रखा जाएगा।

सप्तपदी का नैतिक महत्त्व– विवाह की अनेक विधियाँ हैं, उनमें सप्तपदी का एक अपना अलग ही वैशिष्ट्य है। वैधानिक दृष्टि से यह क्रिया अति साधारण है। इसमें पति-पत्नी को सात कदम साथ-साथ चलाया जाता है अर्थात सात बार वर-वधू साथ-साथ कदम-से-कदम मिलाकर आगे बढ़ते हैं। चावल की सात ढेरी या कलावा बंधे हुए सकोरे रख दिए जाते हैं। उन पर पैर लगाते हुए दोनों एक-एक कदम आगे बढ़ते जाते हैं। इस तरह सात बार में सात कदम बढ़ाए जाते हैं। ये सात कदम पहला कदम अन्न के लिए, दूसरा बल के लिए, तीसरा धन के लिए, चौथा सुख के लिए, पाँचवां प्रजा के लिए, छठवाँ ऋतुचर्या के लिए, सातवाँ मित्रता के लिए उठाया जाता है।[62]

इसका संकेत यह है कि विवाह होने के उपरान्त पति-पत्नी को सात कार्य करने होते हैं, उनमें दोनों का उचित और न्याय संगत योगदान रहे, इसकी रूपरेखा सप्तपदी में निर्धारित की जाती है। प्रथम कदम आहार शुद्धि के लिए होता है, जिसका अर्थ है-आहार स्वास्थ्यवर्द्धक हो। रसलोलुपता को कोई स्थान न मिले, आहार की सात्विकता का पूरा ध्यान रखा जाए।

दूसरा कदम शारीरिक और मानसिक बल के लिए है। उचित परिश्रम एवं नियमित आहार विहार से शरीर का बल स्थिर रहता है। अध्ययन एवं विचार विमर्श से मनोबल बढ़ता है। इन उपायों के बारे में सोचते रहें। तीसरा कदम धन के लिए है। अर्थ व्यवस्था का तरीका समुचित हो, उचित कार्यों में कंजूसी न की जाए और अपव्यय से उपेक्षित न रहें। चौथा कदम सुख के लिए है। यह प्रेरणा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देता है कि दोनों प्रसन्नचित्त रहें, गरीबी में भी अमीरी का आनन्द लें, सन्तोषी सदा सुखी की नीति अपनाएं। पाँचवां कदम प्रजापालन का है। घर के सभी सदस्य उपार्जन करने वाले की प्रजा होते हैं। सन्तान भी प्रजा है। सभी आश्रितों की समुचित देखभाल, सुरक्षा, उन्नति एवं सुख-शान्ति के लिए सदा सोचते रहें। छठवां कदम ऋतुचर्या का है। इसका यह संकेत है कि दाम्पत्य-जीवन में मर्यादाओं का सतर्कता से पालन किया जाए, असंयम की अभिवृद्धि न हो। सातवाँ कदम मित्रता को स्थिर रखने एवं बढ़ाने के लिए है। दोनों में परस्पर सहृदयता, सौजन्यता, आत्मीयता के भाव बढ़ते रहें, बनते रहे, इसका पूरा ख्याल रखा जाए। यदि प्रत्येक पति-पत्नी इन सात प्रकार के आदर्शों और सिद्धांतों को जीवन में हृदयंगम कर लें, तो दाम्पत्य जीवन की सफलता में कोई सन्देह ही नहीं रह सकता है।

आसन परिवर्तन का मुख्य कारण– विवाह-संस्कार में लग्न के समय चौथा फेरा या सातवाँ फेरा होने के बाद वर-वधू का आसन परिवर्तन करते हैं। अन्तिम फेरे के पूर्व तक वधू दाहिनी ओर बैठती है, किन्तु सप्तपदी होने तक की प्रतिज्ञाओं में आबद्ध हो जाने के उपरान्त वह आत्मीय बन जाती है, इसलिए उसे बायीं ओर बिठाया जाता है। बाएं से दाएं लिखने का क्रम है। बायां प्रथम और दाहिना द्वितीय माना जाता है। सात फेरे के बाद पत्नी को प्रमुखता प्राप्त हो जाती है। यह बात सीताराम, राधेश्याम, गौरीशंकर आदि नामों से भी स्पष्ट होती है कि पत्नी को प्रथम और पति को द्वितीय स्थान प्राप्त है। सारांशतः दाहिनी ओर से वधू का बायीं ओर आना उक्त अधिकार का हस्तान्तरण है।

ध्रुव दर्शन का अंतरंग संदेश– ध्रुव स्थिर तारा है। अन्य सभी तारे गतिशील दिखाई देते हैं, पर ध्रुव अपने निश्चित स्थान पर ही स्थिर दिखता है। ध्रुव दर्शन का अर्थ है-जिस प्रकार ध्रुव-तारा स्थिर है, उसी प्रकार पति-पत्नी अपने-अपने परम पवित्र कर्त्तव्यों पर दृढ़ रहें। किसी भी परिस्थिति में अपनी प्रतिज्ञा से विचलित न बनें। इस प्रकार ध्रुव चित्त को स्थिर रहने और अपने कर्त्तव्य पर सुदृढ़ रहने की प्रेरणा देता है।

गोत्रोच्चार की परम्परा क्यों? विवाह मण्डप में या किन्हीं मत में कन्यादान के पूर्व वर और वधू के गोत्रज नामों एवं कुलों की उच्च स्वर से सूचना दी जाती है। इस प्रथा का महत्त्व इसलिए है कि उपस्थित लोगों को यह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञात हो जाए कि वर और वधू उच्च कुल के हैं, जिनके पूर्वजों की परम्परा अनेक पीढ़ियों तक चली आ रही है। इससे सामाजिक जीवन में उनका स्थान भी सम्मान्य बनता है।

कंकण बन्धन के पीछे रही आम अवधारणा– यह एक प्राचीन प्रथा है। प्राच्यकाल में इसका महत्त्व अत्यधिक था। यह हाथ में बांधा जाता है। इस सम्बन्ध में यह अवधारणा रही है कि इसके हाथ में बंधे रहने से वैवाहिक आदि कार्यों में वर-वधू को किसी-किसी तरह की भूत बाधा या आपत्तियाँ नहीं आती हैं। इसे उपद्रव-निवारण का प्रतीक माना है, अतः इसे रक्षा सूत्र भी कहते हैं। इस युग में सजावट के सिवाय इसका कोई मूल्य नहीं रह गया है। कुछ प्रान्तों में आज भी इसे मंगल सूचक माना जाता है।

अभिसिंचन क्रिया का मुख्य हार्द– अभिसिंचन की क्रिया जल से होती है। सभी धर्मों में जल को औषध तत्त्वों और पवित्रता से संयुक्त माना है अतः इस विधि द्वारा वधू को शारीरिक दोषों से मुक्त तथा वैवाहिक जीवन के लिए पवित्र समझा जाता है।

हृदय स्पर्श के निहित तथ्य– यह क्रिया हिन्दू-परम्परा में प्रचलित है। इसमें वर कुछ शब्दों के साथ वधू के हृदय का स्पर्श करता है। इसका प्रयोजन अन्तर्मन से स्नेह-सम्बन्ध को बढ़ाना एवं जागृत करना है। हृदय भावों का केन्द्र है। इसके स्पर्श द्वारा वर प्रतीक रूप से वधू को स्नेह के लिए उत्प्रेरित करता है, ताकि वह हृदय से पति को स्वीकार करे और स्नेह के संसार में अपने आपको सराबोर कर दे।[63]

इस क्रिया की आवश्यकता का एक कारण यह भी समीचीन लगता है कि वह पत्नी के हृदय पर हाथ रखकर वहाँ किसी सन्देह को स्थान नहीं देने की भावना परिलक्षित करता है परन्तु वर्तमान शिष्टाचार के अनुसार ऐसा करना थोड़ा अनुचित जैसा लगता है, इसलिए आजकल पति पत्नी के सिर या कन्धे पर हाथ रखता है और यह विश्वास दिलाता है कि हम दोनों एक हृदय होकर रहेंगे और दाम्पत्य जीवन के उत्तरदायित्वों को पूरी ईमानदारी के साथ निभाएंगे।

सुमंगली (सिन्दूर भरना) क्रिया की महत्ता– आधुनिक वैवाहिक विधि-विधानों की यह सबसे महत्त्वपूर्ण क्रिया है। इसमें वर अपनी अंगूठी या चाँदी की शलाका से वधू की माँग में सिन्दूर लगाता है। इसे माँग भरना भी कहा जाता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। माँग भरना सौभाग्य या सुहाग का चिह्न माना गया है। वधू द्वारा वर से माँग भरवाने की क्रिया इस बात की घोषणा करती है कि हम दोनों ने स्वेच्छा पूर्वक एवं पूर्ण सहमति से विवाह किया है अतः आजीवन एक-दूसरे का साथ निभाने और पारिवारिक हित के लिए जो कुछ संभव है, वह सब कुछ करेंगे। अपनी आत्मा और परमात्मा के सामने सच्चे रहेंगे।

पौंखना विधि का गूढ़ार्थ– यह वैवाहिक विधि मारवाड़ में अधिक प्रचलित है। जब दूल्हा शादी करने के लिए दुल्हन के द्वार पर पहुँचता है, उस समय दूल्हे की सास धूसर, मंथान, मूसल, हल और चरखे की त्राक से वर को पौंखती है अर्थात इन वस्तुओं को लाल वस्त्र में लपेटकर क्रमशः तीन बार वर के मस्तक पर फिराती हुई उतारती है। इस क्रिया के समय प्रयुक्त होने वाली पाँच वस्तुओं के भिन्न-भिन्न उद्देश्य हैं जैसे– धूसर गाड़ी दिखाती हुई सास दामाद को यह प्रेरणा देती है कि तुम विवाह के बाद इस दुनियाँ में बैल की तरह जुते रहोगे, विवाह करने में कोई लाभ नहीं है, अब भी संभल जाओ, मगर दूल्हा यह समझता है कि सास जो वस्तुएँ दिखा रही है, इनसे हमारे घर में इन चीजों के लाभ प्राप्त होते रहेंगे। जैसे-धूसर दिखलाने से वर यह मानता है कि हमारे घर गाड़ी-बैल चलते रहेंगे अर्थात घर में समृद्धि बनी रहेगी।

मंथान बताती हुई सास यह संदेश देती है कि विवाह के बाद इस दुनियादारी के काम में दही व छाछ की तरह मथे जाओगे। मूसल दिखाने का मतलब यह है कि तुम अनाज की तरह कुटते रहोगे। हल दिखाने का यह तात्पर्य है कि तुम जमीन की तरह खेड़ाते रहोगे। चरखे की त्राक बताने का प्रयोजन यह है कि तुम मायाजाल से लिपटे रहोगे। इस प्रकार सास बड़ी होशियारी से दामाद को सचेत करती हैं, परन्तु वर मोहासक्त बना हुआ, मंथान का अर्थ समझता है कि हमारा घर दूध-दही से भरा रहेगा। मूसल देखकर यह जानता है-हमारे घर पर अनाज खूब कुटता रहेगा। हल द्वारा यह मालूम करता है-हमारे घर खेती-बाड़ी बहुत होगी और चरखे की त्राक देखकर यह सोचता है-हम इनकी कन्या के साथ स्नेह की डोर से सदैव बंधे रहेंगे अतः विवाह करना बेहतर है।[64] इस प्रकार अनेक विधि-विधान विशिष्ट प्रतीकात्मक अर्थों को लिए हुए हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वर के सात वचन

जैन परम्परा के अनुसार अग्निदेव की तीन प्रदक्षिणा (फेरे) पूर्ण करने के बाद वर-वधू सात-सात प्रतिज्ञाएँ स्वीकार करते हैं। वर द्वारा सात प्रतिज्ञाएँ लेते समय कन्या से यह स्वीकृति ग्रहण की जाती है यदि तुम इन वचनों का पालन करने के लिए संकल्पबद्ध हो, तो ही मैं तुमको अंगीकार करूंगा। वे वचन निम्न हैं-

1. मेरे कुटुम्बीजनों का यथायोग्य विनय और सेवा करना।
2. मेरी आज्ञा का उल्लंघन मत करना।
3. मेरे माता-पिता आदि को और मुझको कर्कश व निर्दय वचन मत बोलना।
4. मेरे मित्र आदि स्नेहीवर्ग तथा साधु वगैरह सत्पात्र के घर आने पर उनको भोजन कराने एवं आहार आदि देने में अपने मन को जरा भी कलुषित मत करना।
5. रात्रि में दूसरों के घर नहीं जाना।
6. जहाँ संकीर्ण स्थान में बहुत से लोग रहते हों, वहाँ कदापि गमन मत करना।
7. निन्दित आचरण वाले और पापियों के घर मत जाना।

कन्या के सात वचन

कन्या भी सात वचनों के लिए वर को प्रतिज्ञाबद्ध करती है। कन्या के सात वचन ये हैं-

1. अन्य स्त्रियों के साथ क्रीड़ा मत करना।
2. वेश्या के घर कभी मत जाना।
3. जुआ आदि लोक निंदनीय कार्य मत करना।
4. द्रव्य का योग्य रीति से उपार्जन कर अन्न, वस्त्र और आभूषण आदि से मेरी रक्षा करना।
5. मुझे धर्मस्थान में जाने के लिए निषेध मत करना।
6. मुझसे कभी भी कोई बात मत छिपाना।
7. मेरी गुप्त बात को किसी के समक्ष प्रकट मत करना।

इस प्रकार वर-कन्या के परस्पर सात-सात वचन अंगीकार कर लेने पर अग्नि के चारों और चौथा फेरा लगाया जाता है।[65]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विवाह संस्कार विधि का तुलनात्मक विवेचन

भारतीय परम्परा में 'विवाह' को अति आवश्यक संस्कार के रूप में स्वीकारा गया है। पारिवारिक विकास और सामाजिक उन्नति की दृष्टि से विवाह संस्कार एक अनिवार्य कृत्य है। यह संस्कार आज भी अक्षुण्ण है। जब हम 'विवाह संस्कार' का तुलनात्मक विवेचन करते हैं तो हमारे सामने जैन एवं वैदिक परम्परा की विवाह विधि का मौलिक रूप स्पष्ट हो जाता है जो इस प्रकार है-

नाम की दृष्टि से- जैन एवं हिन्दू दोनों धाराओं में इस संस्कार के नाम को लेकर सर्वथा समानता है।

क्रम की दृष्टि से- श्वेताम्बर आदि तीनों परम्पराओं में क्रम की अपेक्षा भिन्नता है। श्वेताम्बर परम्परा में इसे चौदहवाँ, दिगम्बर में सोलहवाँ और वैदिक मत में पन्द्रहवाँ संस्कार माना गया है।

अधिकारी की दृष्टि से- तीनों परम्पराएँ अपने-अपने साहित्य में निर्दिष्ट योग्य गुण वाले ब्राह्मण को इस संस्कार के कर्त्ता के रूप में स्वीकार करती हैं।

शुभ दिन की दृष्टि से- तीनों परम्पराओं में विवाह संस्कार के लिए शुभ लग्न आदि को स्वीकार किया गया है। श्वेताम्बर साहित्य में इस विषय का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है।

काल की दृष्टि से- यह संस्कार कब किया जाना चाहिए? श्वेताम्बर मत से कन्या का विवाह गर्भ से आठ वर्ष से लेकर ग्यारह वर्ष तक कर देना चाहिए। उसके बाद कन्या रजस्वला हो जाती है। रजस्वला को 'राका' कहा गया है। पुरूष का विवाह आठ वर्ष से लेकर अस्सी वर्ष के बीच कभी भी किया जा सकता है।

दिगम्बर मत में कन्या के लिए बारह वर्ष की आयु और पुरूष के लिए सोलह वर्ष की आयु विवाह के योग्य मानी गई है। वैदिक मत में पुरूष के लिए निश्चित आयु का कोई विधान नहीं किया गया है तथा कन्या के लिए सामान्यतया यौवनावस्था को उचित माना है, क्योंकि काम क्रीड़ा हेतु यही अवस्था योग्य होती है। जैनागमों में 'जोवणगमणुप्पत्ता'-ऐसा कहा है अर्थात वर-कन्या यौवन को प्राप्त हो जाएं, तब उनका विवाह करना चाहिए। प्रवचन सारोद्धार में लिखा है-'सोलह वर्ष की कन्या और पच्चीस वर्ष का पुरूष उनके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संयोग से उत्पन्न संतान बलवान होती है। इस कथन से सूचित होता है कि जैन साहित्य में बाल विवाह और वृद्ध विवाह का निषेध है। इस प्रकार तीनों परम्पराओं में काल सम्बन्धी मान्यता को लेकर विविधता है।

मन्त्र की दृष्टि से– जैन एवं हिन्दू-दोनों परम्पराओं की विवाह विधि में मन्त्रों की बहुलता है, किन्तु मन्त्र पाठ एवं मन्त्र पद्धति में अन्तर है। श्वेताम्बर परम्परा में निम्न क्रियाओं के सन्दर्भ में मन्त्रों का उल्लेख मिलता है– सगाई करने का मन्त्र, बरात के समय बोले जाने वाला ग्रह शान्ति मन्त्र, हस्त बन्धन मन्त्र, वेदी स्थापना मन्त्र, तोरण प्रतिष्ठा मन्त्र, अग्नि स्थापना मन्त्र, हवन मन्त्र, फेरे के चार मन्त्र, करमोचन मन्त्र आदि। दिगम्बर मतानुसार विवाह संस्कार में इन अवसरों पर मन्त्र बोले जाते हैं- कंकण बंधन मन्त्र, पूजा विधि के मन्त्र, कन्या प्रदान मन्त्र, हवन योग्य विविध मन्त्र, ग्रन्थि बंधन मन्त्र, हथलेवा मन्त्र, फेरे के मन्त्र, आशीर्वाद-मन्त्र आदि। वैदिक-परम्परा के मन्त्र भी संस्कृत भाषा में हैं किन्तु वैदिक परम्परा के अनुरूप होने के कारण उनकी तुलना करना असंभव है।

विधि की दृष्टि से– • श्वेताम्बर आचार्यों ने सगाई करने को कन्यादान कहा है, दिगम्बरों ने इसी अर्थ में इसको 'वाग्दान' शब्द से सम्बोधित किया है, जबकि वैदिक धारा में वाग्दान एवं कन्यादान-दोनों विधियों को भिन्न-भिन्न रूप में मान्य किया है।

• श्वेताम्बर मत में विवाह लग्न के समय चार फेरे देने का विधान है, दिगम्बर परम्परा में सात फेरे लगाने का निर्देश है वैदिक मत में अग्नि प्रदक्षिणा करने का उल्लेख तो स्पष्ट है किन्तु वह प्रदक्षिणा कितनी बार की जाती है? इसका वर्णन पढ़ने में नहीं आया है।

• जैन एवं हिन्दू दोनों परम्पराओं में अन्तिम फेरा या तीन फेरे शेष रहने के पूर्व वर और कन्या दोनों एक दूसरे के प्रति सात-सात प्रतिज्ञाएँ स्वीकार करते हैं।

• श्वेताम्बर परम्परा में विवाह के दिन षष्ठीमाता की पूजा की जाती है इसी के साथ शान्तिक-पौष्टिक कर्म द्वारा जिनप्रतिमा की पूजा भी सम्पन्न करते हैं, जबकि दिगम्बर-परम्परा में विनायक स्थापना एवं उसकी पूजा के साथ-साथ और भी पूजा विधान किए जाते हैं। वैदिक मतानुसार विनायक एवं कामदेव की स्थापना की जाती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

• सामान्यत: वर-कन्या का हस्त मिलाप करने हेतु उनके हाथों में लेप किया जाता है। वह लेप करने योग्य सामग्री तीनों परम्पराओं में भिन्न-भिन्न कही गई है।

• विवाह लग्न के समय हवन किए जाने की अवधारणा जैन एवं हिन्दू दोनों धाराओं में समान सी है।

इस प्रकार विवाह संस्कार का तुलनात्मक अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि इस संस्कार विधि में पूर्वोक्त कृत्यों का अस्तित्व आज किस रूप में है और कितने कृत्य नवीनीकरण के रूप में जुड़ गए हैं?

उपसंहार

पाणिग्रहण संस्कार दो आत्माओं का मंजुल मिलन है। भारतीय संस्कृति इस संस्कार के माध्यम से संयुक्त होने वाले दो शरीरधारियों के मिलन को दो आत्माओं का सम्बन्ध मानती है, यही इस संस्कार की अपनी विशिष्टता है। इसी सम्बन्ध को लेकर नारी को अर्द्धांगिनी कहा गया है। वैदिक विचारणा में किसी पुरूष को तब तक सम्पूर्ण नहीं माना जाता, जब तक कि उसके साथ उसकी पत्नी न हो, क्योंकि यज्ञादि कार्यों में दम्पति का होना अनिवार्य माना गया है। दूसरा तथ्य यह है कि जीवन की प्रत्येक स्थिति में दु:ख-सुख में साथ निभाने वाली पत्नी पति से एकाकार होती है। सुयोग्य पति-पत्नी की हर एक टीस, हर एक चुभन एक-दूसरे को प्रभावित करती है अत: एक के बिना दूसरा अपूर्ण होता है, अत: किसी की भी उपेक्षा करना अन्याय है।

यदि हम पूर्वोक्त वर्णन के आधार पर इस संस्कार की उपादेयता के सम्बन्ध में विचार करें, तो कई दृष्टियों से इस संस्कार की उपयोगिता परिलक्षित होती है।

सामान्यतया विवाह सुसभ्य समाज के विकास का सूचक है। यदि किसी भी समाज को स्वच्छंद यौन सम्बन्धों से उत्पन्न होने वाली विकृतियों से बचाना हो और नैतिक मूल्यों की स्थापना करनी हों, तो विवाह एक सुदृढ़ नींव के समान है। विवाह-संस्था स्त्री-पुरूष की वासनात्मक पशु वृत्ति एवं कामोत्पादक हीन वृत्ति को सीमित कर सामाजिक सुव्यवस्था प्रदान करती है। इस तरह वह व्यक्ति को अध:पतन की ओर जाने से रोकती है। यह एक मानवीय संस्था है, जिसका उद्देश्य दाम्पत्य जीवन में संयत मार्ग का अनुसरण करना है। वस्तुत:

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस संस्कार के माध्यम से कामुक वृत्ति को रोका जा सकता है, चंचल मन को नियन्त्रित किया जा सकता है, सामाजिक अपराध वृत्तियों पर रोकथाम की जा सकती है तथा एक-दूसरे के प्रति समझौता और आत्म समर्पण की भावना को विकसित किया जा सकता है।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में इस संस्कार की उपादेयता को देखें तो बलात्कार, अपहरण, लूटमार आदि बढ़ रही अपराधजनक एवं हिंसाजनक कुप्रवृत्तियों को रोका जा सकता है तथा मानसिक निर्मलता, चारित्रिक पवित्रता एवं पारिवारिक शुद्धता की स्थापना की जा सकती है।

सन्दर्भ-सूची

1. *षोडशसंस्कार, डॉ. बोधकुमार झा., पृ. 41*
2. *धर्मशास्त्र का इतिहास, भा.-1, पृ. 268*
3. *'सद्वेद्यस्य चारित्रमोहस्य चोदयाद् विवहनं कन्यावरणं 'विवाह' इत्याख्यायते।*
   तत्त्वार्थराजवार्तिक, 7/28 की टीका पृ. 554
4. *'युक्तितो वरणविधानमग्निदेव द्विजसाक्षिकं च पाणिग्रहणं विवाहः'।*
   नीतिवाक्य, 3
5. *संस्कार अंक, जनवरी 2006 पर आधारित, पृ. 115-116*
6. *विवाह, डॉ. सुदीप जैन,*
7. *सागारधर्मामृत, गा. 59*
8. *हिन्दूसंस्कार, पृ. 185*
9. *मनुस्मृति, 4/1-2*
10. *दक्षस्मृति, 1/12*
11. *हिन्दूसंस्कार, पृ. 198*
12. *लाइफ ऑव लिकर्गस, बान्स क्लासिकल लायब्रेरी, भा.-1, पृ.-81, उद्धृत - हिन्दूसंस्कार, पृ. 199*
13. *(क) भगवती, अंगसुत्ताणि, 11/11/158*
    (ख) प्रश्नव्याकरण, अ.-2, सू.-13
    (ग) राजप्रश्नीय, मधुकरमुनि, सू.-280
14. *षोडशसंस्कार, डॉ. बोधकुमार झा. , पृ. 48*
15. *विवाह, पं. बलभद्र जैन, पृ. 9*
16. *षोडशसंस्कार, पृ. 43*
17. *वही, पृ. 44*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

18. णम्मयासुंदरीकहा, गा. 30 उद्धृत-विवाह, प्रो. प्रेमसुमन जैन, पृ. 2
19. वही
20. सागारधर्मामृत, गा. 10
21. आचारदिनकर, पृ. 31
22. महाभारत आदिपर्व, 130/10
23. विवाह, डॉ. प्रेमसुमन जैन, पृ. 2
24. आचारदिनकर, पृ. 31
25. वही, पृ. 32
26. वही, पृ. 32
27. वही, पृ. 32
28. (क) आश्वलायनगृह्यसूत्र, 1/6
    (ख) बौधायनधर्मसूत्र, 1/11
    (ग) मनुस्मृति, 3/21
29. मनुस्मृति, 3/27
30. वही, 3/29
31. हिन्दूसंस्कार, पृ. 215
32. आचारदिनकर, पृ. 32
33. वही, पृ. 32
34. धर्मशास्त्र का इतिहास, भा. 1, पृ. 297-98
35. हरिवंशपुराणः एक सांस्कृतिक विवेचन, अ. 2, पृ. 54-64
36. हिन्दूसंस्कार, पृ. 258
37. आचारदिनकर, पृ. 32-33
38. जैनसंस्कारविधि, पृ. 14
39. आचारदिनकर, पृ. 31
40. हरिवंशपुराण एक सांस्कृतिक विवेचन, अ.-2, पृ. 44
41. धर्मशास्त्र का इतिहास, भा.-1, पृ. 273
42. आचारदिनकर, पृ. 72
43. जैनसंस्कारविधि, पृ. 17-18
44. आचारदिनकर, पृ. 33
45. जैनसंस्कारविधि, पृ. 18
46. हिन्दूसंस्कार, पृ. 267
47. आचारदिनकर, पृ. 34

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

48. हिन्दूसंस्कार, पृ. 267
49. आचारदिनकर, पृ. 35
50. वही, पृ. 36
51. वही, पृ. 37
52. वही, पृ. 39
53. जैनसंस्कारविधि, पृ. 19
54. वही, पृ. 21-22
55. वही, पृ. 40
56. आदिपुराण, पर्व 38, पृ. 251
57. वही, पृ. 41-45
58. धर्मशास्त्र का इतिहास, भा.-1, पृ. 303-306
59. षोडशसंस्कारविवेचन, श्रीराम शर्मा आचार्य पृ. 10.6
60. वही, पृ. 10.6
61. वही, पृ. 10.7
62. मनुस्मृति, 9/70
63. षोडशसंस्कारविवेचन, पृ. 10.11
64. श्राद्धसंस्कारकुमुदेन्दुः, पृ. 197
65. श्राद्धसंस्कारकुमुदेन्दु, पृ. 171-172

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अध्याय - 16

व्रतारोपण संस्कार विधि का सांकेतिक स्वरूप

भारतीय संस्कृति अध्यात्म संस्कृति के रूप में विश्व विख्यात है। यहाँ व्रत, नियम आदि का विशिष्ट महत्व रहा है। व्रत शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न स्थितियों एवं परम्पराओं में विभिन्न रूपों में होता है। प्रस्तुत अध्याय में व्रत का अर्थ है- विरति, संयम, वैराग्य भाव उत्पन्न करने वाला नियम विशेष, प्रतिज्ञा विशेष। आरोपण का अर्थ है-स्थापित करना, आरूढ़ करना, स्वीकार करवाना अर्थात व्रतग्राही साधक को अपनी इच्छानुसार किसी नियम में आबद्ध करना अथवा संकल्पित नियम में स्थापित करना व्रतारोपण है तथा परम्परागत रूप से प्रचलित विधि-विधान पूर्वक उसे सम्पन्न करना व्रतारोपण संस्कार है।

यह अनुभूत सत्य है कि महानता की मंजिल पर मनुष्य एकाएक नहीं पहुँच जाता, उसके लिए एक-एक करके सीढ़ियाँ चढ़नी पड़ती है। श्रेष्ठ प्रवृत्तियों को आचरण एवं स्वभाव रूप बनाने के लिए व्रतशील होकर चलना पड़ता है अतः छोटा सा व्रत भी जीवन विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।

जैन एवं वैदिक-दोनों परम्पराओं में व्रताचरण से प्रतिज्ञाबद्ध होने के लिए वीतरागी पुरूष अथवा कुछ देव शक्तियों को साक्षी करके व्रत शील बनने की घोषणा की जाती है। उन्हें अपने प्रेरक, निरीक्षक और नियंत्रक के रूप में स्वीकार किया जाता है। जैन धर्म में इसे देववन्दन विधि कहते हैं।

जैन धर्म की श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में व्रतारोपण संस्कार के अन्तर्गत गृहस्थ श्रावक-श्राविका से सम्बन्धित निम्नोक्त विधि-विधानों का अन्तर्भाव होता है और ये वर्तमान में प्रचलित भी हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं–

1. सम्यक्त्व व्रतारोपण संस्कार विधि 2. बारह व्रतारोपण संस्कार विधि 3. सामायिक व्रतारोपण संस्कार विधि 4. पौषध व्रतारोपण संस्कार विधि 5. उपधान तप विधि 6. उपासक प्रतिमा वहन विधि

श्वेताम्बर स्थानकवासी परम्परा एवं दिगम्बर परम्परा में उपधान तप का प्रचलन नहीं है। श्वेताम्बर मान्य अन्य सभी विधि-विधान व्रतारोपण की कोटि में स्वीकार किए गए हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वैदिक परम्परा में व्रतारोपण संस्कार के उल्लेख प्राप्त नहीं होते हैं। उपनयन का अपरनाम व्रतादेश माना गया है। इस संस्कार से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को द्विजत्व की प्राप्ति होती है यानी द्वितीय जन्म होता है। विधिवत यज्ञोपवीत धारण करना इस संस्कार का मुख्य अंग है। यह संस्कार हो जाने पर गुरु बालक के कन्धों तथा हृदय का स्पर्श करते हुए कहता है– "मैं वैदिक एवं लौकिक शास्त्रों का ज्ञान करवाने वाले वेद व्रत और विद्या व्रत को तुम्हारे हृदय में स्थापित कर रहा हूँ। तुम्हारा चित्त, मन या अन्त:करण मेरे अन्त:करण का ज्ञान मार्ग में अनुसरण करता रहे अर्थात जिस प्रकार मैं तुम्हें उपदेश करता रहूँ, उसे तुम्हारा चित्त ग्रहण करता चले। शास्त्र उपदेशों को तुम एकाग्र मन से समाहित होकर सुनो और ग्रहण करो।"

यह उपदेश व्रताचरण या व्रतारोपण का मूल बीज रूप ही है। इसे व्रत धारण विधि कह सकते हैं। जैन परम्परा के अनुसार भी इस संस्कार में व्रतादेश विधि सम्पन्न की जाती है।

प्राचीनकाल में व्रत धारण या व्रताचरण की शिक्षाएँ केवल वाणी से ही नहीं दी जाती थी, प्रत्युत गुरुजन तत्परता पूर्वक शिष्यों से तदनुरूप आचरण भी करवाते थे।

सनातन परम्परा में व्रताचरण रूप पौषध, उपधान, प्रतिमा आदि का भी सूचन नहीं मिलता है। यदि मुनि जीवन की दृष्टि से देखें, तो वानप्रस्थाश्रम के परिप्रेक्ष्य में संन्यास धर्म का विवेचन विस्तार के साथ प्राप्त होता है।

बौद्ध परम्परा में त्रिशरण ग्रहण के रूप में सम्यकत्वव्रत, अष्टशील के रूप में बारहव्रत एवं पौषधव्रत, समत्ववृत्ति के रूप में सामायिक व्रत की अवधारणा स्पष्ट रूप से उपलब्ध होती है। ज्ञातव्य है कि अष्टशील को पंच सामान्यशील एवं तीन उपोषथ शील भी कहा गया है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि जैन, वैदिक एवं बौद्ध परम्परा में व्रतारोपण संस्कार का महत्त्व न्यूनाधिक रूप से अवश्य रहा हुआ है।

जैन एवं बौद्ध सहवर्ती परम्परा होने के कारण व्रतारोपण की दृष्टि से दोनों में अधिक समरूपता है।

इस संस्कार का सविस्तृत विवेचन खण्ड-3 में करेंगे।

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अध्याय - 17

अन्त्य संस्कार विधि का शास्त्रीय स्वरूप

जन्म और मृत्यु इस विश्व के दो अटल सत्य हैं। मृत्यु, जीवन का अन्त मानी जाती है। इसी कारण मानव जीवन एवं संस्करण सम्बन्धी संस्कारों का समापन भी मृत्यु के साथ ही होता है। संसार से मनुष्य की अन्तिम विदाई को अन्त्येष्टि संस्कार कहा जाता है। यह मानव का अन्तिम संस्कार है। मृत व्यक्ति की दाह क्रिया से लेकर तेरहवें दिन तक की समस्त क्रियाएँ इसी संस्कार के अन्तर्गत आती हैं। प्रारम्भिक संस्कार जहाँ ऐहिक जीवन को पवित्र और सुखी बनाने के निमित्त किए जाते हैं, वहीं यह अन्तिम संस्कार परलोक सुधारने के लिए किया जाता है। अन्त्येष्टि-संस्कार की विविध विशेषताओं में से एक विशिष्टता यह है कि दुःख एवं सुख के दो किनारों से बह रही जीवन की यह नदी इस संस्कार के माध्यम से अवरूद्ध हो जाती है। मनुष्य की जीवन-लीला यहीं समाप्त होती है। भारतीय संस्कृति में इस संस्कार द्वारा शरीर की तीन गतियाँ देखी जाती है- 1. जलकर राख बन जाना 2. मिट्टी के स्वरूप में परिवर्तित हो जाना या 3. विष्ठा बनकर रह जाना।

यदि शरीर को जला दिया जाए, तो वह राख बन जाता है, जो भारतीय परम्परा को विशेष सम्मत है। यदि मिट्टी खोदकर इस्लाम धर्म के अनुकूल शरीर को गाड़ दिया जाए, तो वह मिट्टी बन जाता है। यदि सम्बन्धियों या साधनों का अभाव हो, तो शरीर को जलीय या स्थलीय भाग में प्रक्षेपित करते हैं और वह गिद्ध, कौए आदि का आहार बनकर विकृत विष्ठा रूप हो जाता है। ये तीनों स्वरूप पूर्ववर्ती काल में मौजूद थे। आज भी तीसरे प्रकार को छोड़कर शेष दो प्रकार प्रचलन में हैं। भारतीय संस्कृति दाह-क्रिया को महत्त्व देती है। इसका कारण यह माना जा सकता है कि परिजन अपने प्रिय व्यक्ति की देह अधिक समय तक मृत अवस्था में देख नहीं सकते हैं या देखकर दुःखी होते हैं अतः

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पंचतत्त्व से रचित शरीर को अग्नि के माध्यम से तुरन्त पंचतत्त्व में विलीन कर देते हैं। उनकी यह सोच वास्तविकता को प्रकट करती है एवं पंचतत्त्व को शाश्वत स्वीकार करने के लिए उत्प्रेरित करती है।

जैन एवं वैदिक-दोनों परम्पराओं में यह संस्कार मान्य है, किन्तु जैन धर्म की ही दिगम्बर परम्परा इस क्रिया को पृथक् संस्कार के रूप में स्वीकार नहीं करती है। तीनों परम्पराओं में मृतदेह के संस्कार हेतु अग्निक्रिया को स्वीकार किया गया है अर्थात इस सम्बन्ध में तीनों का मतैक्य है।

अन्त्य संस्कार का शाब्दिक अर्थ

इस संस्कार को पितृमेध, अन्त्यकर्म, दाह संस्कार, श्मशानकर्म अर्थ, अन्त्येष्टि-क्रिया आदि भी कहते हैं। अन्त्य संस्कार का सीधा सा अर्थ है-अन्तिम समय में किया जाने वाला संस्कार। प्रत्येक जीवन की अन्तिम स्थिति देहविलय ही हो सकती है। वैदिक परम्परा ने इस शब्द को इसी अर्थ में स्वीकृत किया है, जबकि श्वेताम्बर ग्रन्थों में इसका व्यापक अर्थ किया गया है।

जैन परम्परा के विधि-विधानपरक ग्रन्थों में विधिमार्गप्रपा, आचारदिनकर आदि में इस संस्कार के अन्तर्गत दो प्रकार की क्रियाओं का समावेश किया है- 1. मरण से पूर्व की साधना विधि और 2. मृत्यु के बाद के क्रिया विधान।

यद्यपि दिगम्बर मत में मृत्यु के बाद किए जाने वाले विधि- विधानों का कोई विस्तृत विवेचन नहीं है, तथापि भगवती आराधना में गृहस्थ-मुनि द्वारा मृत्यु के पूर्व की जाने वाली साधना विधि का उल्लेख अवश्य है। इसमें मुनि के मृत देह की प्रतिस्थापना का स्पष्ट सूचन है। इस अन्तिम आराधना को अनशन विधि कहते हैं। जैन परम्परा में अनशन या अन्त्य शब्द से मृत्यु से पूर्व की साधनाएँ और मरण के बाद की क्रियाएँ-दोनों अर्थों को ग्रहण किया गया है। जैन ग्रन्थों में मृत्यु से पूर्व की साधना को समाधिमरण, संथारा ग्रहण आदि भी कहा गया है, अतः दृढ़ता से कहा जा सकता है कि जैन विचारणा में अन्त्य संस्कार का तात्पर्य न केवल मृतक के शव सम्बन्धी क्रियाओं से है, अपितु मृत्यु के सन्निकट होने पर अन्तिम समय में की जाने वाली विशिष्ट प्रकार की साधनाओं से भी है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आध्यात्मिक दृष्टि से अन्त्य संस्कार की आवश्यकता

मृत्यु को भी एक संस्कार की संज्ञा देने के पीछे क्या प्रयोजन रहा होगा? यह अवश्य विचारणीय है।

यदि हम जैन धर्म की दृष्टि से विचार करें, तो व्यक्ति को आत्मोन्मुखी एवं साधनाभिमुखी बनाने हेतु यह संस्कार किया जाता है। इस संस्कार के माध्यम से व्यक्ति द्वारा जन्म-जन्मान्तरों में किए गए दुष्कृतों की आलोचना की जाती है, उन पाप कार्यों को न करने की प्रतिज्ञाएँ दिलवाई जाती हैं, किसी भी प्राणी के साथ रहे हुए राग-द्वेष, मोह-ममत्व आदि भावों का त्याग करवाया जाता है, किसी के साथ वैर विरोध या मन मुटाव हुआ हो, तो उससे क्षमायाचना करवाई जाती है। साथ ही उसे विविध प्रकार के तपोनुष्ठान में प्रवृत्त किया जाता है।

जैन दर्शन व्यक्ति के जन्म-मरण, सुख-दुःख आदि में उसके अध्यवसायों को निमित्तभूत मानता है। शास्त्र वचन है-'परिणामे बन्ध परिणामे मोक्ष' अशुभ अध्यवसायों द्वारा पाप कर्मों का बन्धन होता है, जिसके फलस्वरूप आत्मा दुःख आदि स्थितियों से गुजरती है तथा शुभ अध्यवसायों द्वारा जन्म-मरण से मुक्त होकर अव्याबाध सुखरूप मोक्ष अवस्था को प्राप्त करती है। जैन विचारकों की एक अवधारणा यह भी है कि मृत्यु को सुधारने पर ही जन्म सार्थक बनता है। एक जन्म के सार्थक होने पर अनेकशः जन्म सार्थक हो जाते हैं। मृत्यु को सुधारना या मृत्यु को सार्थक करना यह व्यक्ति के स्वयं के अध्यवसायों पर आधारित है। इस दृष्टिकोण को लक्ष्य में रखते हुए इस संस्कार के माध्यम से जीवन की क्षणभंगुरता, शरीर की अनित्यता एवं रिश्तों की मोहजन्यता का आभास करवाया जाता है। व्यक्ति एवं वस्तुओं के प्रति अनासक्ति का भाव जगाया जाता है। 'मित्ती मे सव्वभूएसु' 'एगो मे सासओ अप्पा' 'अरिहंतो महदेवो' इत्यादि वैराग्यमूलक वाक्यों द्वारा जीवन का वास्तविक बोध करवाया जाता है, ताकि अन्त समय में उसके परिणाम सही रहें, विशुद्ध रहें, आत्मस्थ रहें।

इस प्रकार यह सुस्पष्ट है कि जैन परम्परा में इस संस्कार की आवश्यकता का मूलभूत प्रयोजन अन्तिम क्रिया के साथ-साथ व्यक्ति को मोक्ष उपलब्धि एवं निर्वाण प्राप्ति करवाना रहा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वैदिक परम्परा में यह संस्कार उसके भावी जीवन के सुख या कल्याण की कामना को लेकर किया जाता है, क्योंकि हिन्दू परम्परा इहलोक की अपेक्षा परलोक को अधिक महत्त्व देती है। सनातन परम्परा में इस संस्कार की आवश्यकता को लेकर अनेक कारण माने गए हैं। सर्वप्रथम मृत्यु के भय से मुक्त होने के लिए इस संस्कार का उद्भव हुआ, क्योंकि आदिम मानव के लिए मृत्यु जीवन का प्राकृतिक अन्त न होकर एक असाधारण घटना थी। दूसरा कारण हिन्दू अवधारणा पर आधारित है कि मृत व्यक्ति की आत्मा मोहासक्ति के कारण घर के आस-पास ही घूमती रहती है तथा सम्बन्धियों से पृथक् कर दिए जाने के कारण वह परिवार को क्षति भी पहुँचा सकती हैं, इसके निवारणार्थ इस संस्कार का उद्गम हुआ। पूर्वकाल में मृतात्मा को किसी प्रकार का कष्ट न उठाना पड़े, तदहेतु आवश्यक पदार्थ भी अन्त्य क्रिया के साथ दे दिए जाते थे। आवश्यक वस्तुओं में अनुस्तरणी या एक वृद्ध गाय या एक बकरा दिया जाता था। पूर्ववर्तीकाल में ये वस्तुएँ मृतक के साथ ही अग्नि में जला दी जाती थीं। इस समय वे ब्राह्मणों को दी जाती हैं और यह विश्वास किया जाता है कि वे किसी रहस्यपूर्ण माध्यम द्वारा उक्त वस्तुएँ यमलोक पहुँचा देते हैं।[1]

स्पष्टार्थ है कि हिन्दू परम्परा में इस संस्कार की आवश्यकता के पीछे मृत्यु भय को दूर करना, मृतात्मा से परिवार की सुरक्षा करना, मृतात्मा द्वारा हो सकने वाले उपद्रवों को दूर करना आदि अनेक कारण अन्तर्निहित हैं। साथ ही मृतक का मार्ग प्रशस्त बने, उसे किसी प्रकार की तकलीफ न हो ये प्रयोजन भी अनिवार्य रहे हैं। इससे यह भी निश्चित हो जाता है कि वैदिक मत में यह संस्कार भौतिक सुख-सुविधाओं से सम्बद्ध रहा है, जबकि जैन परम्परा में इस संस्कार का सम्बन्ध आध्यात्मिक विकास से जुड़ा हुआ है।

अन्त्य संस्कार करवाने का अधिकारी कौन?

जैन परम्परा में मृत्यु से पूर्व की आराधना हेतु निर्ग्रन्थ मुनि को और देह की अन्त्येष्टि क्रिया एवं मरणोत्तरकालीन क्रियाओं हेतु जैन ब्राह्मण, गृहस्थ श्रावकवर्ग और पारिवारिक पुत्र आदि को इस संस्कार का अधिकारी माना गया है।[2] वैदिक परम्परा में इस संस्कार से सम्बन्धित क्रियाओं के लिए ब्राह्मण एवं स्वजन पुत्र आदि वर्ग को अधिकार के रूप में नियुक्त किया गया है।[3]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्त्य संस्कार के लिए मुहूर्त्त विचार

यह सर्वविदित है कि प्रत्येक देहधारी को मृत्यु का ग्रास निश्चित रूप से बनना होता है। मृत्यु के संकट को टालने में कोई भी समर्थ नहीं है। जो आत्माएँ मृत्युंजयी हो चुकी हैं, जन्म-मरण की परम्परा का विच्छेद कर चुकी हैं उन्हें छोड़िए, शेष सभी के लिए मृत्यु को प्राप्त करना निश्चित है, किन्तु वह मृत्यु कब आ जाए, आयुष्य की डोर कब टूट जाए, तद्भव शरीर में रहने की अवधि कब समाप्त हो जाए यह अनिश्चित है। इस दृष्टि से अन्त्य-संस्कार हेतु शुभ मुहूर्त्त आदि की परिकल्पना करना भी अनुचित है। यह संस्कार मृत्यु आगमन की तरह अनिश्चित दिन में किया जाता है, किन्तु जैन ग्रन्थों में इतना उल्लेख अवश्य मिलता है कि मरणोत्तरकालीन प्रेत सम्बन्धी क्रियाकलाप अमुक-अमुक नक्षत्र आदि में ही करना चाहिए। इसमें यह भी निर्देश है कि अमुक नक्षत्रों के योग में तृण, काष्ठ आदि एकत्रित नहीं करना चाहिए। यहाँ मृतात्मा के पुतले किस दिन, किन नक्षत्र आदि में किए जाने चाहिए, इसका भी उल्लेख है। आचारदिनकर में यह भी बताया गया है कि अन्तिम आराधना के दिन से लेकर शोक दूर करने तक के क्रियाकलापों में मुहूर्त्तादि नहीं देखना चाहिए, क्योंकि ये आवश्यक कर्त्तव्य रूप हैं। इस कथन से मुहूर्त्तादि न देखने का प्रयोजन स्वत: स्पष्ट हो जाता है।

प्रेत क्रिया सम्बन्धी विचार

प्रेत क्रिया के लिए निम्न नक्षत्र, वार आदि अशुभ कहे गए हैं-मृगशिरा, चित्रा, धनिष्ठा, कृतिका, पूर्वाफाल्गुनी, विशाखा, उत्तराषाढ़ा, पूर्वाभाद्रपद, पुनर्वसु, भरणी, मघा, पूर्वाषाढ़ा, रोहिणी, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढ़ा, आर्द्रा, मूल, अनुराधा आदि नक्षत्र तथा मंगल, गुरु, शनि-इन वारों में प्रेत क्रिया नहीं करनी चाहिए।[4] प्रेत क्रिया के लिए रेवती, श्रवण, आश्लेषा, अश्विनी, पुष्य हस्त, स्वाति, मृगशिरा-ये नक्षत्र तथा सोम, गुरु, शनि-ये वार उत्तम माने गए हैं।

मृतदेह की दाहक्रिया हेतु धनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वाभाद्रपद, उत्तराभाद्रपद और रेवती-इन नक्षत्रों में तृण-काष्ठ आदि को एकत्रित करने का निषेध किया गया है।[5]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुतला निर्माण सम्बन्धी विधि

विधिमार्गप्रपा एवं आचारदिनकर में निर्देश है कि रोहिणी, विशाखा, पुनर्वसु, उत्तराषाढ़ा, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराभाद्रपद-इन छः नक्षत्रों में किसी का मरण हो जाए, तो मृतक की प्रतिकृति के दर्भमय दो पुतले बनाना चाहिए। ज्येष्ठा, आर्द्रा, स्वाति, शतभिषा, भरणी, आश्लेषा-इन छः नक्षत्रों में किसी की मृत्यु हो जाए, तो एक भी पुतला नहीं बनाना चाहिए। शेष पन्द्रह नक्षत्रों में किसी का कालधर्म हो जाए, तो एक पुतला निर्मित करना चाहिए।[6]

उक्त वर्णन से यह भी सुस्पष्ट है कि जैन परम्परा में अन्तिम आराधना एवं अन्त्यसंस्कार के लिए शुभ नक्षत्र आदि को आवश्यक नहीं माना है, केवल प्रेत क्रिया एवं तृण आदि संग्रह के लिए शुभ वार आदि का होना अनिवार्य बताया है तथा पुतला सम्बन्धी विधान हेतु कुछ नक्षत्रों का निरूपण किया है।

सूतक काल कब और क्यों?

सामान्यतया बालक-बालिका के जन्म से होने वाली अशुद्धि को सूतक कहते हैं यही सुआ कहा जाता है। परिवार में व्यक्ति के मरण के पश्चात् उत्पन्न हुई अशुद्धि को मरण सूतक कहते हैं। मरण सूतक को पातक भी कहा जाता है।

जैन संस्कृति में जन्मसूतक एवं मरण सूतक का विवेक भोजन शुद्धि को लेकर रहा हुआ है, किन्तु वर्तमान में कुछ लोग इस बात पर बिल्कुल भी श्रद्धा नहीं रखते हैं उनकी मिथ्या विचारणा के निवारण हेतु डॉ. श्रेयांसकुमार जैन ने लौकिक रूप से मान्य विधान की प्रस्तुति इस प्रकार की है-

भगवतीआराधना की विजयोदया टीका के अभिमतानुसार जिसके घर पर जनना शौच अथवा मरणा शौच है उस मालिक द्वारा प्रदत्त वसति दायक दोष से दुष्ट है। अशौच वाले व्यक्ति को वसति प्रदान करने का भी निषेध किया गया है।[7]

प्रायश्चित्तसंग्रह के अनुसार तीन दिन का बालक, युद्ध में मरण को प्राप्त, अग्नि आदि के द्वारा मरण को प्राप्त, जिनदीक्षित, अनशन मरण प्राप्त व्यक्तियों का सूतक नही लगता है।[8] यहाँ अग्नि द्वारा मरण प्राप्त व्यक्ति का यह अर्थ है, जो किसी अग्निकाण्ड में फंस गया हो या बिजली गिरने से अचानक मृत्यु हुई हो, उसका मरण सूतक नहीं लगेगा, किन्तु जिसने अग्नि में जलकर आत्मघात किया हो, उसका मरण सूतक अवश्य लगता है। इसी क्रम

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की पुष्टि करते हुए जयसेन प्रतिष्ठापाठ में लिखा गया है-जिस वंश वाला यजमान बिम्ब प्रतिष्ठा करवा रहा है, उसके वंश, कुल एवं गोत्र में उस दिन से अशौच नहीं माना जाता।[9] यहाँ जयसेन स्वामी का यह आशय रहा होगा कि नान्दी विधान के अनन्तर यजमान के अन्तर में राग-द्वेष का शमन हो जाता है, जिस कारण मानसिक अशौच उत्पन्न नहीं होता है। भरत चक्रवर्ती पुत्रोत्पत्ति होने पर भी आदिनाथ प्रभु के दर्शनार्थ जाते हैं और इसका यह समाधान दिया गया है कि तिरेसठ शलाका पुरुषों को सूतक एवं मरण सूतक का दोष नहीं लगता है।

उक्त व्यक्तियों से भिन्न जो गृहस्थ हैं, उन्हें सूतक आदि का दोष अवश्य लगता है। आचार्य वट्टेकर ने दायक के दोषों का कथन करते हुए कहा है-जो व्यक्ति मृतक को श्मशान में जलाकर आया है वह आहार दान हेतु निषिद्ध है। पं. आशाधर ने भी इस बात का समर्थन किया है।[10] मोक्षपाहुड की टीका में कहा गया है कि दरिद्री और सूतक वाली स्त्री के घर का आहार विशेष रूप से ग्रहण न करें। श्रावकों के लिए भी कहा गया है कि अणुव्रती श्रावकों को भोजन की शुद्धि बनाये रखने के लिए सूतक गृह का भोजन त्याग करना चाहिए।[11] इस प्रकार सूतक काल की अशुद्धि शास्त्र प्रमाणों से सिद्ध है।

सूतक के समय अशुद्धि मानने का मुख्य कारण यह है कि जब बालक का जन्म होता है तब माता की योनि से नाल भी बाहर आती है, उसमें अनंत जीवों का वास रहता है, उसे भूमि में गड़वाने से अनंत जीवों की हिंसा का दोष लगता है। इस पाप के कारण भी विशेष अशौच होता है। इसी प्रकार मृतक शरीर को अग्निदाह कराने से उस शरीराश्रित अनंत जीवों की हिंसा का दोष लगता है। ये दोनों क्रियाएं श्रावक को आवश्यक रूप से करनी पड़ती है इससे मन मलिन होता है और उससे अशौच की उत्पत्ति होती है।[12]

यह उल्लेख्य है कि अशौच समय के साथ ही दूर होता है अत: सभी को सूतक दोष का निवारण करना ही चाहिए।

लोक व्यवहार में प्रचलित अशौचकाल की तालिका निम्न प्रकार दृष्टव्य है[13]-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अवसर	जन्म	मरण	गर्भपात	अशुद्धि
3 पीढ़ी	10 दिन	12 दिन	3 मास के बाद जितने दिन का गर्भपात हो	3 दिन
4 पीढ़ी	10 दिन	10 दिन		
5 पीढ़ी	6 दिन	6 दिन		उतने दिन का दोष
6 पीढ़ी	4 दिन	4 दिन		
7 पीढ़ी	3 दिन	3 दिन		
8 पीढ़ी	8 प्रहर	4 प्रहर	यदि घर का सदस्य परदेश में मरण को प्राप्त हो	घर वालों की सूचना मिलने के बाद पीढ़ी के अनुसार
9 पीढ़ी	2 प्रहर	2 प्रहर		
पुत्री, दास, दासी		3 दिन		
अपने घर में गाय, भैंस	1 दिन	1 दिन	अपघात मृत्यु	6 माह
अनाचार	स्त्री अशुचि	अशुचि	सदा	सदा

श्वेताम्बर साहित्य में मृतक सम्बन्धी सूतक काल की मर्यादाएँ इस प्रकार बताई गईं हैं -

- ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्यों में पुरुष की मृत्यु होने पर दस दिन और स्त्री की मृत्यु होने पर ग्यारह दिन का सूतक लगता है।
- यदि किसी निकट सम्बन्धी की मृत्यु या जन्म अन्य देश में हुआ हो तो धार्मिक-कार्यों के लिए सूतक का दोष नहीं लगता है। यहाँ देश का तात्पर्य क्षेत्र विशेष– मालवा, मेवाड़, मारवाड़ आदि ही लेना चाहिए।
- किसी का गर्भपात होने पर तीन दिन का सूतक होता है।
- किसी अन्य गोत्र में मृत्यु या जन्म हुआ हो और विवाहित पुत्री ने सूतक के घर भोजन किया हो, तो तीन दिन का सूतक लगता है।
- अन्न नहीं खाने वाले बालक की मृत्यु होने पर तीन दिन का सूतक होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

• आठ वर्ष से कुछ कम आयु वाले बालक का मरण होने पर तीन दिन का सूतक होता है

सूतक काल पूर्ण होने पर प्रभु भक्ति निमित्त महोत्सव आदि और साधर्मिक वात्सल्य आदि करना चाहिए, ऐसा श्वेताम्बर आचार्य वर्धमानसूरि का अभिमत है।[14]

दिगम्बर मान्यतानुसार मृतक सूतक का काल इस प्रकार है-

• मृत्यु का सूतक पातक तीन पीढ़ी तक 12 दिन का, चौथी पीढ़ी में 6 दिन का, पाँचवीं-छठवीं पीढ़ी तक 4 दिन का, सातवीं में 3 दिन का और आठवीं में एक दिन-रात का माना जाता है।

• तीन दिन के बालक की मृत्यु होने पर एक दिन का और आठ वर्ष के बालक की मृत्यु होने पर तीन दिन का सूतक माना जाता है।

• वर्तमान में सामान्यतया बारह दिन का सूतक रखते हैं, लेकिन दाह क्रिया के तीसरे दिन मन्दिर दर्शनार्थ जाते हैं और शान्तिपाठ करते हैं।[15]

यह मान्यता श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओ में समान है कि मृतक की देह क्रिया के अनन्तर दूसरे या तीसरे दिन सामान्य लोकाचार पूर्वक उठावना करके मन्दिर दर्शन के लिए जाते हैं और गुरु महाराज हों, तो उनके मुख से अथवा किसी धर्मिष्ठ व्यक्ति के मुखारविन्द से शान्तिस्तव का पाठ सुनते हैं। यह परम्परा कब, कैसे विकसित हुई? इसका स्पष्ट प्रमाण तो उपलब्ध नहीं है। साथ ही 18वीं शती पर्यन्त के ग्रन्थों में भी यह स्वरूप देखा जाता है। इससे सुनिश्चित होता है कि यह परम्परा अर्वाचीन है, किन्तु धार्मिक दृष्टि से उचित प्रतीत होती है।

अन्तिम आराधना की पारम्परिक विधि

मृत्यु के सन्निकट आने पर श्रावक को अनशन व्रत की आराधना करनी चाहिए। वह अनशन विधि इस प्रकार है-

आराधना स्थल– यह आराधना तीर्थंकर परमात्माओं के कल्याणक स्थानों में, जीव-जंतु रहित पवित्र भूमि में, जंगल में या अपने घर में करनी चाहिए।[16]

यदि ऐसा ज्ञात हो जाए कि मृत्यु अत्यन्त निकट है अथवा अवश्यंभावी है, तो संलेखना के लिए शुभ तिथि-वार-नक्षत्र आदि नहीं देखना चाहिए,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्यथा शुभ दिन देखकर आराधना प्रारंभ करनी चाहिए।

देववन्दन– अन्तिम आराधना के दिन सर्व संघ को आमन्त्रित करें। फिर ग्लान व्यक्ति को जिनप्रतिमा का दर्शन करवाएं। फिर सम्यक्त्वव्रतारोपण विधि की तरह नन्दी क्रिया करें। उसमें चतुर्विध संघ के साथ गुरु अनशनग्राही को देववन्दन करवाएं। शान्तिनाथ, शान्तिदेवता, क्षेत्रदेवता, भुवनदेवता, समस्त वैयावृत्य कर देवी-देवताओं की आराधना के निमित्त एक-एक नमस्कार मन्त्र का कायोत्सर्ग करवाएं और उसे पूर्णकर उनकी स्तुति बोलें। उसके बाद शक्रस्तव एवं अजितशान्तिस्तव बोलें। फिर आराधना देवता के निमित्त चार 'लोगस्ससूत्र' का कायोत्सर्ग करवाकर प्रकट में पुनः लोगस्ससूत्र बोलें, तथा आराधना देवी की स्तुति कहें[17]-

यस्याः सान्निध्यतो भव्या, वांछितार्थप्रसाधकाः ।
श्री मदाराधना देवी, विघ्नव्रातापहास्तुषः ।।

वासदान– तदनन्तर आचार्य वासचूर्ण को अभिमन्त्रित करें। फिर उत्तम आराधना के लिए आराधक के मस्तक पर उसका निक्षेप करें।

आलोचनादान– उसके बाद बाल्यकाल से लेकर समस्त प्रकार के पापों की उससे आलोचना करवाए एवं अकरणीय पाप कृत्यों का त्याग करवाए तथा जन्म-जन्मान्तरों में किए गए दुष्कृत्यों का मिथ्या दुष्कृत दिलवाएं।

क्षमायाचना– तत्पश्चात अनशनग्राही श्रावक को नमस्कारमंत्र के स्मरण पूर्वक चतुर्विध संघ से क्षमायाचना करवाएं, 'आयरिय उवज्झाय' 'खामेमि सव्व जीवे' की गाथा बुलवाएं, क्योंकि क्षमायाचना के बिना आराधना सफल नहीं होती है। उसके बाद आराधक गुरुजनों को वस्त्र आदि का दान करें। श्रीसंघ का पूजा-सत्कार करें। फिर पुत्रादि स्वजनों को स्नात्र महोत्सव, ध्वजारोपण आदि कृत्य करने का निर्देश दें। सात क्षेत्रों में यथाशक्ति द्रव्य का विनियोग करवाएं।

सम्यक्त्व ग्रहण– फिर पूर्वोक्त विधि पूर्वक तीन बार सम्यक्त्व पाठ को ग्रहण करें। इस पाठ द्वारा सम्यक्त्व व्रत में स्थिर बन जाए।

बारहव्रत ग्रहण– पुनः पूर्व निर्दिष्ट विधि के साथ पाँच अणुव्रत या बारहव्रत ग्रहण करें। व्रत आलापक में 'जाव नियमं पज्जुवासामि' के स्थान पर 'जावज्जीवाए' शब्द का उच्चारण करें।

चतुःशरण ग्रहण– उसके बाद आराधक को अरिहंत, सिद्ध, साधु एवं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

केवलि प्ररूपित धर्म-इन चार की शरण स्वीकार करवाए, दुष्कृत की गर्हा और सुकृत की अनुमोदना करवाए। अठारह पाप स्थान सेवित न करने का त्रिकरण-त्रियोग पूर्वक परित्याग करवाए।[18]

अनशन ग्रहण– तत्पश्चात संलेखनाग्राही के आयु का क्षय जानकर सागार या निरागार भवचरिम का प्रत्याख्यान करवाए। सागार भवचरिम में पानी का आगार रखा जाता है, जबकि निरागार भवचरिम में चारों प्रकार के आहार का त्याग करवाया जाता है।[19]

सर्वप्रथम सागार अनशन ही ग्रहण करवाना चाहिए तथा यह अनशन भी संघ, कुटुम्बी एवं राजा आदि की अनुमति लेकर ग्रहण करवाना चाहिए। अनशन प्रत्याख्यान करने के पूर्व ग्लान (आराधक)शक्रस्तव और तीन बार नमस्कारमन्त्र का उच्चारण करे। उसके बाद गुरु 'सागारी भवचरिम प्रत्याख्यान' का पाठ उच्चरित करे और ग्लान अर्थ पूर्वक उस पाठ का अवधारण करें। सागारी- अनशन ग्रहण का पाठ निम्न है-

"भवचरिमं पच्चक्खामि तिविहंपि आहारं असणं खाइमं साइमं अनत्थणाभोगेणं सहसागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।"

आयु मुंक्षय होने का अन्तर्मुहूर्त्त शेष रहे, उस समय निरागार-भवचरिम का प्रत्याख्यान करवाना चाहिए। निरागार अनशन ग्रहण का पाठ यह है-

"भवचरिमं निरागारं पच्चक्खामि सव्वं असणं, सव्वं पाणं, सव्वं खाइमं, सव्वं साइमं अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं अईयं निंदामि, पडिपुन्नं संवरेमि, अणागयं पच्चक्खामि, अरिहंत सक्खियं, सिद्धसक्खियं, साहुसक्खियं, देवसक्खियं, अप्पसक्खियं वोसिरामि।"

उसके बाद निम्न गाथा का उच्चारण करवाए-

जइ में हुज्ज पमाओ, इमस्स देहस्सिमाइ वेलाए।
आहार उवहि देहं, तिविहं तिविहेण वोसिरियं।।

उसके पश्चात गुरु *'नित्थारपारगा होहि'* ऐसा बोलते हुए संघ सहित वासचूर्ण अक्षत आदि का ग्लान के सन्मुख प्रक्षेपण करें। फिर अनशनधारी शुभ भावनाओं द्वारा आत्मा की शान्ति निमित्त *'अट्ठावयंमि उसहो'* इत्यादि तीर्थ स्तुति पढ़ें। *'चवणंजम्मभूमि'* इत्यादि स्तव बोलें। गुरु निरन्तर तीन लोक में रहे हुए जिन चैत्यों का व्याख्यान करे, अनित्य आदि बारह भावनाओं का उपदेश

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करे, अनशन का फल बताए। उपस्थित साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ प्रभु भक्ति एवं गीत-नृत्य आदि उत्सव करें। ग्लान श्रावक जीने या मरने की इच्छा का त्याग कर समाधि पूर्वक रहे। आयु पूर्ण होते समय पंचपरमेष्ठी का स्मरण करते हुए नश्वर देह का त्याग करे।

अन्तिम संस्कार की प्रचलित विधि

श्वेताम्बर मतानुसार अनशनधारी के मृत देह का विसर्जन निम्न विधि पूर्वक करें–[20]

• सर्वप्रथम मृत्यु प्राप्त ग्लान को कुश की शय्या पर स्थापित करें। • फिर श्रावक ब्राह्मण वर्ग का हो, तो सभी ब्राह्मण शिखा छोड़कर सम्पूर्ण सिर, दाढ़ी, मूंछ का मुंडन करवाएं। किन्हीं मत में क्षत्रिय एवं वैश्य के लिए भी यही विधान कहा गया है। शूद्र को मुंडन करवाने का निषेध है। • आचारदिनकर के अनुसार ज्ञातव्य है कि शव की संस्कार क्रिया अपने अपने वर्ण वाले ज्ञातिजनों को ही करना चाहिए, अन्यवर्णी ज्ञातिजनों से उसका स्पर्श भी नहीं करवाना चाहिए। • पूर्वोक्त मुंडन आदि कृत्य हो जाने पर मृतदेह का तेल आदि से मर्दन करें। • फिर सुगंधित जल द्वारा स्नान करवाएं। • गंध व कुंकुम आदि से मृतदेह का विलेपन करें तथा माला पहनाएं। • अपने कुल के योग्य वस्त्र एवं आभूषण से विभूषित करें।

• उसके बाद नवीन काष्ठ या कुश का संथारा(पालकी) बनाएं। • उस संथारा पर उत्तम जाति का वस्त्र बिछाएं। • फिर शव को गृहस्थ के धर्मोपकरण सहित शय्या पर स्थापित करें। • यदि मृत्यु नक्षत्र में मरण हुआ हो, तो पूर्वनिर्दिष्ट नक्षत्रों के अनुसार गृहस्थवेश की प्रतिकृति स्वरूप कुश के दो या एक पुतला बनाएं। • तदनन्तर विविध प्रकार के वस्त्र, रत्न, माला आदि द्वारा प्रासाद जैसी भव्य आकृति(पालकी) निर्मित करें, फिर मृतदेह को शय्या सहित उसमें स्थापित करें।

• उसके बाद मृतक के चार स्वजनवर्ग, अपने परिजनों के साथ पालकी को कंधों पर उठाकर श्मशानभूमि में लाएं। शव का मस्तक उत्तरदिशा की ओर रखते हुए चिता पर स्थापित करें, फिर पुत्र आदि अग्नि संस्कार करें।

• यदि उस बालक की मृत्यु हुई हो, जिसने अभी तक अन्न नहीं खाया है, तो उस मृत बालक का अग्नि संस्कार न करके, भूमि संस्कार (भूमि में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गाड़ना) करना चाहिए। • उसके बाद शमशान भूमि में प्रेतात्माओं को दान दें। • फिर शरीर शुद्धि करके अन्य मार्ग से अपने गृह की ओर लौटें। • तीसरे दिन पुत्र आदि परिजन आदि चिताभस्म को नदी में प्रवाहित करें। उसकी अस्थियों को तीर्थ स्थल में विसर्जित करें। • अगले दिन स्नान करके शोक को दूर करें उसी दिन जिनालय में जाकर चैत्यवंदन करें, जिनदर्शन करें। फिर उपाश्रय में गुरु को वंदन करें, गुरु से धर्मदेशना सुनें। • फिर सभी अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त हो जाएं।

वैदिक– वैदिक साहित्य में गृहस्थ की अन्त्य संस्कार विधि निम्न प्रकार से उल्लिखित है-

सर्वप्रथम यह ध्यातव्य है कि पूर्ववर्ती वैदिक साहित्य में मृत्यु के समय एवं मृत्यु के बाद की क्रियाओं का ही उल्लेख है, मृत्यु के पूर्व सम्पन्न की जाने वाली क्रियाओं का निर्देश नहींवत् हुआ है। सामान्यतया "एक हिन्दू जब यह अनुभव करता है कि उसकी मृत्यु समीप आ गई है तो वह अपने सम्बन्धियों और मित्रों को निमन्त्रित करता है और उनसे मैत्रीभाव पूर्वक बातचीत करता है तथा अपने भावी-कल्याण के लिए वह ब्राह्मणों और निर्धनों को दान देता है।[21]" हिन्दुओं में मृत्यु के समय गौ का दान देना महत्त्वपूर्ण माना गया है।

आश्वलायन के अनुसार जब मृत्यु का समय निकट आ जाता है, तो रोगी का शरीर स्वच्छ बालूदार भूमि पर रखा दिया जाता है। इसके पश्चात् तीन अग्नियों या एक अग्नि को रख जाता है। उस गार्हपत्य अग्नि के समीप अर्थी तैयार की जाती है।[22] इस पर रूग्ण व्यक्ति को दक्षिण दिशा की ओर मुख रखते हुए लेटा दिया जाता है। फिर उसके कानों के समीप वेद मन्त्रों का पाठ किया जाता है। आजकल मृत व्यक्ति के कानों में भगवद् गीता एवं रामायण के श्लोकों का पाठ किया जाता है। इस कृत्य को एक दृष्टि से अन्तिम आराधना की संज्ञा दे सकते हैं।

मृत्यु सम्बन्धी विधियाँ

होम - हिन्दू समाज यज्ञ प्रधान है। किसी व्यक्ति की मृत्यु होने पर यज्ञ किया जाता था, ऐसा उल्लेख कुछ ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से प्राप्त होता है।

अर्थी– गृह्यसूत्रों के अनुसार होम क्रिया के उपरान्त उदुम्बर की लकड़ी की एक अर्थी बनाई जाती है। उसके ऊपर मृगचर्म का एक टुकडा बिछाते हैं,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

फिर शव के मस्तक को दक्षिण की ओर रखते हुए उस पर लिटा देते हैं। आजकल बाँस की अर्थी बनाई जाती है। मृगचर्म बिछाने की परम्परा विलुप्त हो चुकी है। शव को बिना रंग के अखंड एवं नए वस्त्र पहनाए जाते हैं।[23]

शव उठाना– कतिपय आचार्यों के अनुसार शव वयोवृद्ध दासों द्वारा ले जाया जाना चाहिए तथा कुछ के मतानुसार दो बैलों द्वारा ढोई जाने वाली गाड़ी पर लादकर ले जाना चाहिए।[24]

स्मृतियों के अनुसार मृतक के सम्बन्धियों के अतिरिक्त अन्य किसी व्यक्ति को यह कार्य नहीं करना चाहिए। किसी विजातीय व्यक्ति को उसे स्पर्श करने से अशौच हो जाता है, जिसका निवारण प्रायश्चित से ही संभव माना है। इस बात का समर्थन श्वेताम्बर आचार्यों ने भी किया है।

शवयात्रा– शवयात्रा का नेतृत्व साधारणत: मृतक का ज्येष्ठ पुत्र या शोकार्त का प्रमुख सम्बन्धी करता है। गृह्यसूत्रों के अनुसार दो वर्ष से अधिक आयु वाले सभी सम्बन्धी श्मशान यात्रा में जाते हैं। शवयात्रा में सम्मिलित होने वाले आयु क्रम के अनुसार चलते हैं। मार्ग में यम सूक्तों का पाठ किया जाता है। वर्तमान में 'राम नाम सत्य है' आदि वाक्यों को देहराया जाता है।[25]

अनुस्तरणी– प्राचीनकाल में शवयात्रा एवं शव की अन्त्येष्टि के निमित्त एक विशेष प्रकार की गाय चुनी जाती थी। सूत्रकारों के अनुसार गाय की बलि दी जाती थी। यदि बलि के समय कोई घटना घट जाती, तो पशु मुक्त कर दिया जाता था। गाय को आमन्त्रित करने, मुक्त करने आदि की भी एक विशेष विधि होती थी। आजकल गाय का दान किया जाता है।[26]

श्मशान विधि– श्मशान भूमि में विधिवत चुना हुआ स्थान शुद्ध किया जाता है। भूत-प्रेतों के निवारण की क्रिया की जाती है, प्रमाणोपेत गड्ढा खोदा जाता है तथा प्रमाणोपेत ही ईंधन, चिता आदि की क्रियाएँ करते हैं। कुछ के मतानुसार शव की कुक्षि तोड़कर, आंतड़ियों को घृत से भर देना चाहिए। इसके मूल में शव को शुद्ध करने और दाह को अधिक सुविधाजनक बनाने की भावना निहित थी। आजकल मृतक के केशों व नखों का कृन्तन और शव का प्रक्षालन शुद्धि के लिए पर्याप्त समझा जाता है। फिर शव चिता पर रखा जाता है। निज वर्णों के अनुसार शव के हाथ में स्वर्णपिण्ड, धनुष या मणि दी जाती है।[27]

चिता पर लेटना– पूर्ववर्ती वैदिक साहित्य में विधवा द्वारा मृतक पति के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साथ चिता पर लेटे जाने के उल्लेख मिलते हैं।

दाह विधि– उपर्युक्त सभी क्रियाएँ सम्पन्न होने के बाद दाह क्रिया प्रारम्भ की जाती है। उस समय अग्नि में आहुतियाँ दी जाती है। उनकी धारणानुसार वे आहुतियाँ शव को स्वर्ग पहुँचाती हैं। इस अवसर पर प्रार्थनाएँ, सम्बोधन आदि कईं अन्य विधान भी किए जाते हैं।

पुनर्गमन– शव की दाह क्रिया सम्पूर्ण हो जाने के बाद शवयात्रा में साथ जाने वाले लोग इधर-उधर न देखते हुए व नीचे दृष्टि रखते हुए घर की ओर लौट आएं। उस समय शोकार्त्त होकर अश्रुपात भी न करें।

मरणोत्तरकालीन विधियाँ

यह क्रिया स्नान विधि पूर्वक की जाती है। उदककर्म-मृतक की अन्त्येष्टि क्रिया के अनन्तर मृतक को जल देने की क्रिया की जाती है। स्नान के तुरन्त बाद कौओं के लिए उबाले हुए चावल और मटर के कुछ दाने भूमि पर बिखेर दिए जाते हैं। इसके पीछे यह धारणा है कि मृतक व्यक्ति पक्षियों के रूप में प्रकट होता है किन्तु यह अवधारणा उचित नहीं लगती है।

अशौच– मृत्यु के सूतक का काल मृतक की जाति, आयु और लिंग भेद से भिन्न-भिन्न बताया गया है। ब्राह्मण व क्षत्रियों के लिए सूतक की सामान्य अवधि दस दिन तथा वैश्य व शूद्रों के लिए क्रमशः पन्द्रह दिन और एक मास निर्धारित की गई है।[21] वैकल्पिक दृष्टि से तीन या दस दिन की अवधि कही गई है। वेदज्ञाता ब्राह्मण के लिए तीन दिन की अवधि मानी है तथा यज्ञीय कर्म करने वाले ब्रह्मचारी, कारीगर, शिल्पी, राजा, वैद्य दासी-ये तत्काल शुद्ध हो जाते हैं। उक्त अपवाद समाज की सुविधा पर आधारित है। आजकल अशौच की अवधि ब्राह्मण के लिए दस दिन, क्षत्रिय के लिए बारह दिन, वैश्य के लिए पन्द्रह दिन और शूद्र के लिए एक मास है।[28] अशौच की यह अवधि प्रौढ़ व्यक्तियों की मृत्यु के सम्बन्ध में है। दो वर्ष से कम आयु के शिशु की मृत्यु से केवल माता-पिता को एक या तीन रात्रि के लिए सूतक लगता है, कुल के अन्य सदस्यों को सूतक नहीं लगता है। इसी प्रकार पिता, माता, मित्र, श्वसुर, भानजा आदि की मृत्यु होने पर कितने दिन का सूतक रहता है तथा सूतक वालों के लिए क्या करने योग्य है और क्या नहीं करने योग्य है? इन सभी पक्षों का हिन्दू ग्रन्थों में स्पष्ट विवेचन है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अस्थि संचयन– आश्वलायन के अनुसार अस्थि संचयन का काल मृत्यु से तेरहवाँ या पन्द्रहवाँ दिन है।[29] बौधायन ने दाह से तीसरे, पाँचवें या सातवें दिन का निर्देश किया है।[30] अस्थियों को एकत्रित करने एवं उनका विसर्जन करने के सम्बन्ध में बहुत-सी विधियों का उल्लेख हुआ है। आजकल दाह के दिन ही अस्थियों को संगृहीत कर गंगा जल में प्रवाहित कर देते हैं। हिन्दुओं की धारणा है-'जिस व्यक्ति की अस्थियाँ गंगा जल में प्रवाहित करते हैं, वह ब्रह्मलोक से वापस नहीं लौटता और वह हजारों वर्षों तक स्वर्ग में निवास करता है।''

शान्तिकर्म– यह विधि दुष्ट प्रभावों के निवारण और साधारण जीवन में लौटने व आवश्यक प्रवृत्तियों को प्रारम्भ करने के निमित्त की जाती है। यह विधान किस दिन, कहाँ किया जाना चाहिए? इस अवधारणा को लेकर कईं मत प्रचलित हैं। गृह्यसूत्र ने अन्त्येष्टि संस्कार से दसवाँ दिन और आश्वलायन ने पन्द्रहवाँ दिन उपयुक्त माना गया है।[31] कुछ श्मशानभूमि पर, कुछ नगर के बाहर तो कुछ शोकार्त्त की सुविधानुसार शान्तिकर्म करने का वर्णन करते हैं।

पिण्डदान– हिन्दू परम्परा में यह विधान अत्यन्त महत्त्व के साथ किया जाता है। अन्त्येष्टि विषयक पद्धतियों में यह क्रिया विशिष्ट स्थान रखती है। इस क्रिया के अन्तर्गत दाह के पश्चात् बारहवें दिन तक प्रत्येक दिन विशेष प्रयोजन के निमित्त, विशेष प्रकार का पिण्डदान किया जाता है, जैसे कि पहले दिन मृतक की क्षुधा व तृषा को तृप्त करने और उसके भावी शरीर के निर्माण के लिए एक भात का पिण्ड, पानी का घड़ा एवं अन्य खाद्य-पदार्थ दिए जाते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक दिन भिन्न-भिन्न प्रयोजन को लेकर अलग- अलग प्रकार का पिण्डदान किया जाता है। दसवें दिन सम्बन्धियों के केश, दाढ़ी, मूंछ व नख काटे जाते हैं। ग्यारहवें दिन अन्य-अन्य तरह की कईं विधियाँ सम्पन्न की जाती हैं। इस दिन की प्रधान क्रिया वृषोत्सर्ग अर्थात् एक सांड और एक गाय को खुला छोड़ना है।[32]

सपिण्डीकरण– हिन्दुओं में ऐसा विश्वास है कि मृतक व्यक्ति की आत्मा तुरन्त और सीधी पितृलोक नहीं पहुँच जाती है। कुछ काल तक वह प्रेत के रूप में रहती है। इस अवधि में उसे विशेष पिण्ड दिए जाते हैं। फिर नियत समय के बाद सपिण्डीकरण द्वारा पितृलोक में पहुँच जाती है। इस प्रकार प्रेतात्मा को पितरों से संयुक्त करने की क्रिया सपिण्डीकरण कहलाती है। इसमें विहित

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तिथियों के दिन श्राद्ध दिए जाते हैं तथा यह क्रिया तीन पक्षों के अन्त में बारहवें दिन या वर्ष समाप्त होने पर होती है।

शव क्रिया के विभिन्न प्रकार– हिन्दू परम्परा में दाह क्रिया के अतिरिक्त शव त्यागने के अन्य प्रकार भी कहे गए हैं। शिशु, गर्भिणी, नवप्रसूता, रजस्वला, परिव्राजक, संन्यासी, वानप्रस्थ, प्रवासी, अकाल मृत्यु प्राप्त पतित आदि व्यक्तियों के लिए शव त्यागने की अलग-अलग विधियाँ बताई गईं हैं। उनमें शिशु के लिए भूमि निखात, संन्यासियों के लिए जंगल में छोड़ आना या गड्ढे में लिटाकर ढ़क देना, अकाल मृत्यु वालों के लिए जल-निखात या वन में छोड़ आना इत्यादि प्रथाएँ प्रचलित थीं। आज प्राय: अग्नि संस्कार की प्रवृत्ति ही मौजूद है। इस प्रकार शव की व्यवस्था के विभिन्न प्रकार मिलते हैं।

वैदिक परम्परा के उक्त क्रियाकाण्डों से यह अवगत होता है कि हिन्दूधर्म में मृत व्यक्ति की भौतिक सुख-सुविधाओं पर विशेष ध्यान दिया गया है। उसके आध्यात्मिक लाभ या मोक्ष प्राप्ति मरण के लिए की जाने वाली प्रार्थनाएँ बहुत कम हैं। सभी संस्कार प्राय: विश्वासमूलक एवं धारणा प्रधान हैं। पारमार्थिक भावनाओं का वहाँ कोई विशेष स्थान नहीं है। व्यक्तिगत, पारिवारिक एवं सामाजिक स्वच्छता और स्वास्थ्य का पूरा प्रावधान है। संक्षेपत: मृतक की सुख-सुविधाओं एवं पारलौकिक जीवन की मंगल कामनाओं को लेकर ही अधिकतर विधि-विधान प्रचलित हुए हैं।

अन्त्य संस्कार सम्बन्धी विधि-विधानों के प्रयोजन

मानव शरीर इस धरती की सबसे बड़ी विभूति है एवं दुनियाँ की सर्वोपरि कलाकृति है। मानव-मस्तिष्क में उठने वाले विचारों और अन्त:करण में उठने वाले भावों की क्षमता इतनी अधिक है कि उनके आधार पर वह देवोपम आनन्द का अनुभव कर सकता है। अपने को प्रकाशवान् बनाते हुए उस प्रकाश से अन्य अनेकों को प्रकाशयुक्त कर सकता है। प्रत्येक मानव में आनन्द का स्रोत भरा पड़ा है। यदि वह राग-द्वेष-अंहकार आदि विकृतियों और गलत भ्रान्तियों से विलग रहे, तो प्रतिपल आह्लाद का अविरल स्रोत हर किसी के लिए बहा सकता है। यह सामर्थ्य केवल मनुष्य-जाति में ही है। यों तो यह जगत् जड़ है, उसमें सब कुछ ऊबड़-खाबड़ और अस्त-व्यस्त है, पर प्रेम, पुण्य और परमार्थ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के दिव्य तत्त्वों का इसमें समावेश हो जाए, तो सब कुछ अभिनन्दनीय बन सकता है। यह ताकत मानव मन एवं मानव शरीर में ही है। यही वजह हैं कि मानव के मृत शरीर को भी संस्कार का रूप दिया गया।

दूसरी विशेषता यह है कि भारतीय-संस्कृति जितने हर्ष से सुख को स्वीकार करती है, उतने ही वेग से दुःख को भी स्वीकार करती है। वह सुख में दुःख व दुःख में सुख को ढूंढ लेती है। यही कारण है कि अन्त्येष्टि संस्कार, जिसे अन्य संस्कृति संसार के अशुभतम दिनों में से एक मानती है, वहाँ भारतीय संस्कृति इसे एक संस्कार के रूप में मानती ही नहीं, करती भी है।

जब यह संस्कार स्वयं महत्त्वपूर्ण है, तब संस्कार के प्रयोजन से किए जाने वाले विधि-विधान अवश्य ही अद्भुत गहराईयों को लिए हुए होने चाहिए। कुछ विधियों के महत्त्व एवं प्रयोजन इस प्रकार मननीय हैं-

अग्नि का संस्कार ही क्यों ? हिन्दू धर्म की सामान्य मान्यता है कि अग्नि की सहायता से जीव सद्गति की ओर प्रयाण करता है। वस्तु स्थिति भी यही है कि अग्नि का स्वभाव ऊर्ध्वगामिता है। उसकी लौ हमेशा ऊपर को ही उठती है। अग्नि को धार्मिक एवं पुण्यमय क्रियाओं के लिए भी उच्च व श्रेष्ठतर माना गया है। दूसरा कारण यह है कि ज्ञान, प्रकाश, तेज, संयम, पुरुषार्थ जैसे गुणों को अग्नि का प्रतिनिधि माना गया है अतः इसका आश्रय लेने वाले उसी तरह ऊपर की ओर उठते हैं, जिस तरह अग्नि में जलाए हुए शरीर के कण-कण वायुभूत होकर आकाश में उड़ते चले जाते हैं। तीसरा कारण सिद्धान्ततः यह है कि हिन्दू-धर्म जीवन की निरन्तरता में विश्वास करता है, इसलिए मृत्यु को वह एक अर्द्धविराम मात्र मानता है, अवसान नहीं। इसे दूसरे जन्म में प्रवेश का द्वार मानता है, जीवन की समाप्ति नहीं। हाँ, उसे स्थूल शरीर की समाप्ति मानता है और मृत्यु के बाद वह स्थूल शरीर को अशुद्धि मानता है, उसे छूने में अपवित्रता का संसर्ग मानता है। अतः पंचतत्त्व से निर्मित शरीर को पंचतत्त्व में विलीन कर देना चाहिए, उनमें अग्नि पावक है, पवित्र करती है, अतः अग्नि को सौंपने से शरीर के तत्त्व अधिक शुद्ध रूप में वितरित होंगे इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु भी दाह-क्रिया की जाती है।

धार्मिक मान्यता के आधार पर अग्नि संस्कार से जीव के सूक्ष्म शरीर पर चढ़े हुए इन्द्रियलिप्सा, वासना, मोह, द्वेष, आलस्य जैसे कुसंस्कार जल जाते

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं और जीव अग्नि में तपाए हुए स्वर्ण की तरह निर्मल हो ऊर्ध्वगामी बनता है। शिक्षा और निष्कर्ष की दृष्टि से देखा जाए, तो यह प्रेरणा मिलती है कि धर्म एवं कर्म रूपी अग्नि के सहारे हर व्यक्ति ऊपर उठ सकता है।[33]

अन्त्येष्टि के अवसर पर होम(यज्ञ) क्यों ? हिन्दू धर्म यज्ञ-आहुतियों की प्रधानता वाला धर्म है। इस परम्परा के प्राय: कृत्य यज्ञ पूर्वक ही किए जाते हैं। अन्त्येष्टि के अवसर पर क्रियान्वित यज्ञ का एक कारण यह मान सकते हैं कि भारतीय- आर्य अग्नि को पृथ्वी पर स्थित देवदूत तथा देवताओं को दी हुई आहुतियों को उन तक पहुँचाने वाला समझते हैं। वे भौतिक वस्तुएँ, जिनसे हव्य बनता है, वे स्थूल रूप में स्वर्गस्थ देवताओं तक नहीं पहुँच सकती हैं अत: अग्नि की आवश्यकता महसूस हुई। साथ ही मनुष्य की मृत्यु होने पर उसे स्वर्ग भेज देने की कल्पना जागृत हुई और वह अग्नि तथा होम द्वारा ही संभव थी, अत: यज्ञ के मूल में यह धारणा सबलतम प्रतीत होती है, जो धर्म भाव से भी ओत-प्रोत है और यज्ञीय-आहुति के रूप में शव को स्वर्ग पहुँचाती है। यज्ञ का दूसरा कारण यह माना गया है कि जिस प्रकार मेवा, मिष्ठान्न, घृत, औषधि आदि कीमती एवं आवश्यक वस्तुओं को वायु शुद्धि के लिए वायु-भूत बनाकर सर्व-साधारण को निरोग एवं परिपुष्ट बनाने के लिए बिखेर दिया जाता है, उसी प्रकार मानव-वैभव की समस्त विभूतियों को विश्वमंगल के लिए बिखेरते रह जाए-यही तात्विक यज्ञ है।

तीसरी मान्यता यह है कि शव संस्कार के समय मन्त्रोच्चार पूर्वक आहुतियाँ ड़ाली जाती हैं, जो अपवित्र मृत शरीर को पवित्र बनाती है। साथ ही होम में केवल वह वस्तु होमी जाती है, जो पवित्र हो। अस्थि, माँस का शरीर बेशक अपवित्र है, परन्तु जब उसमें मन्त्रशक्ति, विचारशीलता का समन्वय किया जाता है, तो वह पवित्रता से ओत-प्रोत हो जाता है। चौथा मन्तव्य यह है कि चिता एक प्रकार से यज्ञ-वेदी ही है, इसलिए उसमें वे ही लकड़िया काम में आती हैं, जो आमतौर से यज्ञ कार्यों में प्रयुक्त होती हैं। इससे भी अन्त्येष्टि के प्रसंग पर यज्ञ किया जाना सार्थक सिद्ध होता है।

कपाल क्रिया के मूलभूत उद्देश्य– मस्तिष्क जीवन का वास्तविक केन्द्र संस्थान है। उसमें जैसे विचार या भाव उठते हैं, उसी के अनुकूल जीवन की दिशा निर्धारित होती है और उत्थान-पतन का संयोग वैसा ही बन जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मस्तिष्क को सीमाबद्ध न रखें, वह संकुचित न रहे, अपितु व्यापकता, विशालता, विराटता का रूप धारण करे-इस तथ्य का प्रतिपादन करने के लिए कपाल-क्रिया का कर्मकाण्ड करते हैं। सिर की खोपड़ी फोड़कर उसके भीतर भरे विचार संस्थान को यह अवसर देते हैं और जनमानस को यह प्रेरित करते हैं कि वह एक छोटी-सी परिधि के भीतर ही सोचता न रहे, वरन् विश्व मानव की विभिन्न समस्याओं को ध्यान में रखते हुए अपना कर्त्तव्य पथ निर्धारित करे। मृत और जीवित सभी के लिए मानसिक संकीर्णता हानिकारक है तथा सोचने का दायरा विस्तृत हो यही इस क्रिया का लक्ष्य है। यह क्रिया अन्त्येष्टि की समाप्ति पर की जाती है।[35]

अस्थि विसर्जन की परम्परा क्यों? अन्त्येष्टि के बाद अवशेष अस्थियों को एकत्रित करके उन्हें किसी पुण्य तीर्थ में विसर्जित करने की परिपाटी है। इसका उद्देश्य है जीवन का कण-कण सार्थक हो, जीवन में धर्म परमाणुओं का संचार हो क्योंकि इस मानव जीवन का चरम लक्ष्य आत्म स्वरूप को प्रकट करना है। उसकी सम्प्राप्ति धर्म साधना के बिना असंभव है, अत: जीवन की सार्थकता को बनाए एवं बढ़ाए रखने के निमित्त शरीर के अवशेष पुण्य क्षेत्र में डाले जाते हैं।

चिता-भस्म उठाना आवश्यक क्यों? दाह क्रिया के तीसरे दिन चिता-भस्म एवं अस्थियाँ उठा ली जाती हैं। चिता-भस्म को उठाने एवं किसी अन्य स्थल पर विसर्जित करने का ध्येय यह है कि पारिवारिक सदस्यों और सम्बन्धियों का उस व्यक्ति के प्रति रहा हुआ मोह भाव समाप्त हो जाए, क्योंकि पुनः-पुनः भस्म-कण को देखने से भी मोहोदय हो सकता है अत: शारीरिक आसक्ति से निवृत्त होना भी इस क्रिया का उद्देश्य रहा है।

पिण्डदान जरूरी क्यों? हिन्दू धर्म की मान्यताओं के अनुसार मरने के बाद भी दिवंगत आत्मा का घर के प्रति मोह-ममता का भाव बना रहता है। यह ममता उसकी भावी प्रगति के लिए बाधक है, अत: पिण्डदान क्रिया का उद्देश्य दिवंगत जीव को अपने भविष्य की तैयारी में लगने के लिए और वर्तमान कुटुम्ब से मोह-ममता छोड़ने के लिए प्रेरणा देना है, क्योकि बन्धन टूटने पर ही मुक्ति होती है। पिण्डदान द्वारा मृतात्मा को आवश्यक सामग्री प्रदान कर इस परिवार से छुटकारा दिलाया जाता है और भावी जीवन के सुखमय निर्माण एवं निर्वाह के लिए एक मार्ग प्रशस्त किया जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अशौच क्रिया के मुख्य हेतु– यह वैज्ञानिक तथ्य है कि मृतक के शरीर से अशुद्ध कीटाणु निकलते हैं, इसलिए मृत्यु के उपरान्त घर की पूरी सफाई करना आवश्यक होती है। दीवारों की पुताई, जमीन की धुलाई, वस्त्र-सफाई आदि का ऐसा क्रम होता है कि कोई छूत का अंश शेष न रह जाए। यह कार्य तेरहवें दिन में किया यह कार्य परम्परानुसार दसवें, बारहवें या तेरहवें दिन में किया जाता है। सामान्यत: शोक निवारण की क्रिया दूसरे या तीसरे करते है इसे उठामना या उठावना कहते हैं। उठामना का शुद्ध संस्कृत रूप है-उत्थापना अर्थात् शोक को दूर कर परिवारजनों को देव दर्शन एवं व्यापार आदि की सामान्य प्रवृत्तियो से योजित करना उठामना कहलाता है।

शोक निवारण की अवधि बारह दिन क्यों? सामान्यतया शोक-निवारण की क्रिया तेरहवें दिन की जाती है। यह शोक-मोह की विदाई का विधिवत आयोजन है। मृत्यु के कारण परिवार में शोक-वियोग का वातावरण रहता है, बाहर के लोग भी संवेदना या सहानुभूति प्रकट करने आते रहते हैं। इस क्रम को बारह दिनों में समाप्त कर देना चाहिए। यह अवधि मनोविज्ञान के सिद्धान्त पर आधारित है। किसी घनत्वाकर्षण से दूर हटना हठात् संभव नहीं है। इसके लिए शनैः शनैः मन को समझाना होता है और वह मन बारह दिन की अवधि में तटस्थ रहने हेतु काफी कुछ तैयार हो जाता है। दूसरा कारण यह लोकाचार प्रवृत्ति है, अत: शोक मनाने के लिए बारह दिन की अवधि पर्याप्त है। इस प्रकार यह विधान शोक सन्ताप एवं मोह, माया आदि को दूर करने के हेतु से किया जाता है।

इसी तरह पंचबलि विधान, पितृआह्वान, तर्पण आदि के उद्देश्य एवं प्रयोजन भी विचारणीय हैं।

मृत्युभोज-एक रूढ़िवादी परम्परा

सनातन धर्म की प्राचीन परिपाटी में मरणोत्तर संस्कार के अवसर पर 'वृषभोत्सर्ग' किया जाता था। एक बछड़ा पितर के नाम पर साँड बनाकर छोड़ते थे, जो गौओं के झुण्ड में रहकर उनकी हिंसक पशुओं से रक्षा करे और सन्तानोत्पत्ति द्वारा गौ कुल का संवर्धन करता रहे। पितर की स्मृति में ऐसी पुण्य परम्परा का आरम्भ करना, जिससे समाज का हित होता हो, वृषभोत्सर्ग का मूल उद्देश्य था।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आजकल लोग लम्बे-चौड़े मृतक भोज करते हैं। यह अवांछनीय प्रथा है, जो सर्वथा अबुद्धिमत्तापूर्ण है। विवाह-शादियों में होने वाले प्रीतिभोजों की तरह लम्बे-चौड़े मृतक भोज करना कहाँ तक उचित है? उस प्रसंग की कल्पना कर ऐसा प्रतीत होता है, मानों किसी का मर जाना लोगों के लिए खुशी का कारण बना है, जिसके लिए दावत उड़ाई जा रही है। जिन लोगों को दावतें खिलाई जाती हैं, वे समाज-सेवक हों यह जरूरी नहीं है। यह भोज तभी पुण्यफलदायक हो सकता है जब यह खर्च लोक मंगल के लिए, ब्रह्मपरायण व्यक्तियों के लिए किया जाए। साधारण लोगों एवं सम्बन्धीजनों को खिलाना एक प्रकार का पारस्परिक व्यवहार है। इससे मृतात्मा को क्या लाभ मिल सकता है? इसी प्रकार मृतक के निमित्त गाँव में या सम्बन्धियों में कपड़ा, थाली आदि देना भी उपहासास्पद है। सूक्ष्म शरीर इन वस्तुओं का भला क्या उपयोग करेगा? फिर किसी अन्य योनि में जन्म लेने के पश्चात उन वस्तुओं से उसका क्या प्रयोजन हो सकता है? वस्तुतः इनका प्रयोजन समाज के अशक्त व्यक्तियों को सहयोग प्रदान करना होना चाहिए।

यहाँ यह भी स्मरणीय है कि दान तभी पुण्यफल उत्पन्न कर सकता है, जब वह उत्तम प्रयोजन के लिए उत्कृष्ट व्यक्तियों को दिया जाए। जो धन जिस कार्य में खर्च होता है, उसी के अनुरूप पुण्य उत्पन्न होता है। जब दान का पैसा सत्कार्य में लगा ही नहीं, तो पुण्यफल किस बात का मिलेगा? आज पितरों के नाम पर धन की बर्बादी होती जा रही है। विवेक का तकाजा यह है कि दान के नाम पर धन का दुरूपयोग न हो, वरन् भावनात्मक लोक मंगल का प्रयोजन पूरा हो। मृतात्मा के पुण्य निमित्त सफल आयोजन सम्पन्न करें। स्वर्गीय आत्मा की स्मृति में कोई शुभ कार्य का आरम्भ करें, जिससे समाज का हित होता हो और उस हित का पुण्य चिरकाल तक पितर को मिलता रह सकता हो।

जिनालय का जीर्णोद्धार करवाना, धर्मशाला बनवाना, शिक्षण व्यवस्था में योगदान देना, पाठशाला, पुस्तकालय आदि खुलवाना ये पुण्यमय कार्य हैं। मृत्युभोज के स्थान पर यदि ये कार्य किए जाएं तो निःसन्देह पुण्यफल चाहने वालों को सुन्दर परिणाम हासिल होने के साथ-साथ धन का सद्व्यय भी हो सकेगा।[36]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्त्य संस्कार विधि का तुलनात्मक अध्ययन

जैन एवं हिन्दू अवधारणा में अन्त्येष्टि संस्कार का महत्त्व सदाकाल से रहा है, अतएव विधि-विधानों का भी प्राबल्य है। इस संस्कार की तुलनात्मक दृष्टि से विचारणा की जाए, तो बहुत-सी स्पष्टताएँ उभर आती हैं।

नाम की अपेक्षा– श्वेताम्बर एवं वैदिक दोनों धर्मों में इस संस्कार के नाम को लेकर आंशिक भिन्नता है। श्वेताम्बर में 'अन्त्य' एवं वैदिक में 'अन्त्येष्टि' कहा गया है। इन दोनों वर्गों में अर्थ विषयक भिन्नता भी परिलक्षित होती है। श्वेताम्बर मत में अन्तिम संस्कार से तात्पर्य अन्तिम आराधना यानी मृत्यु के पूर्व की आध्यात्मिक आराधना, यह अर्थ भी लिया गया है, जबकि वैदिक मत में मृत्युकालीन एवं मरणोत्तरकालीन-इन दो कृत्यों का ही समावेश किया गया है।

क्रम की अपेक्षा– इस संस्कार का क्रम दोनों में समान है। दोनों परम्पराओं ने इसे सोलहवें संस्कार के रूप में मान्य किया है। दिगम्बर ग्रन्थों में इस संस्कार का अलग से कोई विवेचन नहीं है, अन्तिम आराधना का उल्लेख अवश्य है, जो श्वेताम्बर परम्परा की दृष्टि से अन्त्य संस्कार का ही एक अंग है।

काल की अपेक्षा– इस संस्कार के लिए निश्चित अवधि का होना असंभव है, तथापि अन्त्य संस्कार से सम्बन्धित कुछैक क्रियाकलापों को नियत नक्षत्र-वार आदि में करने का उल्लेख किया गया है। यह विधान श्वेताम्बर ग्रन्थों में ही परिलक्षित होता है।

मन्त्र की अपेक्षा– श्वेताम्बर परम्परा में इस संस्कार के निमित्त किसी मन्त्र का उल्लेख नहीं है, जबकि वैदिक परम्परा में यज्ञ आदि के अवसर पर मन्त्रोच्चारण के निर्देश हैं।

अधिकारी की अपेक्षा– श्वेताम्बर ग्रन्थों में अन्त्य संस्कार के सन्दर्भ में जो अर्थ घटित किया है उस अपेक्षा से निर्ग्रन्थमुनि, जैन ब्राह्मण, स्वजन वर्ग एवं श्रावकवर्ग इसके अधिकारी बताये गए हैं। वैदिक ग्रन्थों में इस संस्कार का अधिकार ब्राह्मण एवं स्वजनादि वर्ग को दिया गया है।

सूतक काल की अपेक्षा– श्वेताम्बर, दिगम्बर एवं वैदिक-तीनों परम्पराओं में व्यक्ति एवं वर्ग की अपेक्षा सूतक का काल भिन्न-भिन्न बताया गया है।

विधि की अपेक्षा– यदि अन्त्य संस्कार विधि को आधार मानकर तुलना करें, तो स्पष्ट होता है कि कुछ विधि-विधान दोनों परम्पराओं में समान रूप से

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वीकारे गए हैं, किन्तु उन कृत्यों को सम्पादित करने की विधियाँ भिन्न-भिन्न हैं जैसे-अर्थी बनाना, शव उठाना, शवयात्रा गमन, चिता की भस्म एवं अस्थियों का विसर्जन करना, शोक निवारण करना, स्नान कराना, मृतक को सजाना आदि। इन कृत्यों को किस दिन किया जाए। इस विषय में भिन्नता है।

कुछ विधान जैसे-पुतला बनाना, उपकरण रखना, शरीर शुद्धि करके घर लौटना, तीसरे दिन जिनदर्शन करना, गुरु महाराज का उपदेश सुनना आदि श्वेताम्बर परम्परा में ही प्रचलित हैं। कुछ क्रियाएँ जैसे– होम करना, अनुस्तरणी-क्रिया, विधवा का चिता पर लेटना, प्रेत निवारण, उदककर्म, शान्तिकर्म, पिण्डदान, सपिण्डीकरण आदि वैदिक परम्परा के ही अंगभूत हैं, श्वेताम्बर में इन विधियों का कोई अस्तित्व नहीं है।

इसके अतिरिक्त सबसे महत् अन्तर शव क्रिया को लेकर परिलक्षित होता है। श्वेताम्बर मतानुसार गृहस्थ श्रावक के लिए अग्नि संस्कार का ही प्रावधान है। हाँ, जैन मुनियों के लिए जंगल में जाकर परिष्ठापित करने (छोड़ देने) की बात अवश्य कही गई है। जैन शास्त्रों में इस क्रिया के स्पष्ट प्रमाण भी मिलते हैं। वहाँ इस क्रिया को 'महापरिष्ठापनिकाविधि' के नाम से निर्दिष्ट किया है। प्राचीनकाल में यह परिपाटी मौजूद भी थी। 14वीं शती के अनन्तर जैन मुनियों के लिए अग्नि संस्कार की प्रथा शुरू हुई है। सुस्पष्ट है कि श्वेताम्बर परम्परा में गृहस्थ के लिए अग्नि संस्कार ही आवश्यक बताया है। मुनियों के लिए अग्नि संस्कार एवं परिष्ठापन- दोनों विधान विहित हैं। केवल आचारदिनकर में दो वर्ष की आयु से कम बालक के लिए भूमि संस्कार करने का निर्देश है, जबकि वैदिक परम्परा में भूमि निखात, जल निखात, अग्नि संस्कार, गड्ढा निखात, जंगल में छोड़ देना आदि विविध प्रणालियाँ प्रचलित रही हैं।

उपसंहार

यदि हम अन्त्येष्टि संस्कार का समीक्षात्मक दृष्टि से आकलन करें, तो यह सुनिश्चित होता है कि अन्त्य संस्कार आध्यात्मिक आरोहण की प्रेरणा प्रदान करता है। भले ही वैदिक परम्परा के विधि-विधान भौतिकता एवं मृतक की सांसारिक सुख-सुविधाओं से सम्बन्ध रखते हों, परन्तु इस संस्कार की प्रेरणा में शाश्वत तत्त्व निहित हैं। इस संस्कार के माध्यम से यह उद्बोध दिया जाता है कि जीवन का अन्तिम अतिथि मृत्यु है। वह समस्त विश्व का नियन्ता है, अतः प्रसन्नचित्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से मृत्यु को स्वीकार करें। विश्व के समस्त सम्बन्ध अनित्य हैं। आत्मा सदैव अजर और अमर है, इसीलिए किसी के लिए शोक करना व्यर्थ है। प्रियजन के विरह से उत्पन्न होने वाला शोक मोहजन्य है, शोक का त्याग करना चाहिए।

इस संस्कार की प्रारम्भिक क्रियाओं द्वारा यह शिक्षा दी जाती है कि यह शरीर नाशवान है, इससे आत्मा का हित साधन करना यही वास्तविक बुद्धिमानी है। समय अमूल्य है, इसका उपयोग मृत्यु के पूर्वकाल तक ही संभव है। मृत्यु प्राप्त व्यक्ति के द्वारा भी यह प्रेरणा मिलती है कि समस्त सम्बन्ध काल्पनिक है। यह विनाशशील शरीर नित्य अविनाशी आत्मा से धारण किया गया है। पति-पत्नी, पिता-पुत्र इत्यादि का सम्बन्ध थोड़े समय के लिए है। किसी के अभाव में किसी का कार्य अवरूद्ध नहीं होता। संचय, वासना, अनीति, तृष्णा, द्वेष, अहंकार - ये सब निरर्थक हैं। परमार्थ, संयम, सेवा, ज्ञान, धर्म आदि ही शुभ कृत्य हैं। दूसरों की मृत्यु देखकर अपनी मृत्यु के लिए भी सजग बन जाएं। शरीर को नश्वर समझकर आत्मोत्थान में शीघ्रातिशीघ्र प्रवृत्त हो जाएं। इस प्रकार अन्त्येष्टि संस्कार के माध्यम से बहुत-सी लाभदायी प्रेरणाएँ सम्प्राप्त होती हैं।

अध्याहारतः यह संस्कार हमें असली बोध देता है। शरीर का धर्म क्या है? संसार का स्वरूप क्या है? पारिवारिक सम्बन्धों का आधार क्या है? कौन किसके लिए जीता है? सभी कोई स्वार्थपूर्ति हेतु एक-दूसरे से बंधे हुए हैं, इत्यादि आध्यात्मिक विचारों को प्रकट करता है, शरीर एवं परिवार के स्वार्थी सम्बन्धों से ऊपर उठने को उत्प्रेरित करता है तथा अन्ततोगत्वा चरम लक्ष्य(मोक्ष) की प्राप्ति करवाने में भी निमित्तभूत बन सकता है, अतएव इसे संस्कार की उपादेयता भी कहा जा सकता है।

सन्दर्भ-सूची

1. *हिन्दूसंस्कार, पृ. 300-301*
2. *आचारदिनकर, पृ. 68-72*
3. *हिन्दूसंस्कार, पृ. 312-13*
4. *आचारदिनकर, पृ. 72*
5. *वही, पृ. 72*
6. *जैनसंस्कारविधि, अनु.-पं. मनसुखलाल नेमचंद, पृ. 222*
7. *भगवती आराधना (विजयोदया टीका), 230/444/20*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

8. प्रायश्चित्तसंग्रह, श्लो. 353
9. जयसेन प्रतिष्ठापाठ, श्लो. 258
10. अनगारधर्मामृत, 5/34
11. मोक्षपाहुड, गा. 48 की टीका
12. जिनभाषित, मार्च-2006, पृ.16
13. वही, पृ. 16
14. आचारदिनकर, पृ. 72
15. जैनसंस्कारविधि, पृ. 96
16. वही, पृ. 68
17. विधिमार्गप्रपा, पृ. 76
18. विधिमार्गप्रपा, पृ. 77-76
19. (क) आचारदिनकर, पृ. 71-72
    (ख) विधिमार्गप्रपा, पृ. 77
20. आचारदिनकर, पृ. 72
21. हिन्दूसंस्कार, पृ. 311
22. आश्वलायनगृह्यसूत्र, 4/1
23. हिन्दूसंस्कार, पृ. 313
24. आश्वलायनगृह्यसूत्र, 4
25. पारस्करगृह्यसूत्र, 3/10/8
26. हिन्दूसंस्कार, पृ. 316
27. बौधायनधर्मसूत्र, 1/8/3-5
28. पारस्करगृह्यसूत्र, 3/10/38
29. पारस्करस्मृति, 3/1-2
30. आश्वलायनगृह्यसूत्र, 4/5
31. बौधायनधर्मसूत्र, 1/14/1
32. आश्वलायनगृह्यसूत्र, 4/5
33. हिन्दूसंस्कार, पृ. 335-36
34. षोडशसंस्कारविवेचन, पृ. 12-7
35. वही, पृ. 12-10
36. वही, पृ. 13-9, 13-11

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सहायक ग्रन्थ सूची

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
1	अथर्ववेद (सायणभाष्यसहित)	संपा. एस.पी.पंडित	बर्लिन, मुंबई	1856
2	अभिधानराजेन्द्रकोश (भा. 1-7)	आचार्य राजेन्द्रसूरि	अभिधानराजेन्द्र कोश संस्था, अहमदाबाद	1986
3	आचारदिनकर(भा. 1-2)	आचार्य वर्धमानसूरि	निर्णयसागर मुद्रालय, मुंबई	1922
4	आचारदिनकर(भा. 1-2)	आचार्य वर्धमानसूरि	जसवंतलाल गिरधरलालशाह दोशीवाडानी पोल, अहमदाबाद	1981
5	आदिपुराण (भा. 1-2)	जिनसेनाचार्य, अनु.डॉ.पन्नालाल जैन	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, इन्स्ट्रीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली	18-2000
6	आश्वलायनगृह्य सूत्रम्	आश्वलायन प्रणीत	सिविलुइस साहेब वाप्टिष्ठ मिशन प्रेस	1869
7	उत्तरपुराण (भा. 1-2)	अनु.डॉ.पन्नालाल जैन	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली	2000
8	औपपातिकसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1992
9	कल्पसूत्र	विनयसागरजी	प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर	1984
10	खादिरगृह्यसूत्रम्	संपा. महादेव शास्त्री	गवर्नमेन्ट ब्रांच प्रेस, मैसूर	1913
11	गोभिलगृह्यसूत्रम्	गोभिल प्रणीत श्री चन्द्रकांत तर्कालंकारकृत भाष्य सहितम्	वाप्टिष्ठ मिशन प्रेस	1869
12	गौतमधर्मसूत्र	एल.श्री निवासाचार्य	गर्वमेन्ट ब्रांच प्रेस, मैसूर	1917
13	जिनरत्नकोश (भा.-1)	हरिदामोदर वेलकर	भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना	1946

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
14	जैनेन्द्रसिद्धांतकोश (भा. 1-4)	जिनेन्द्रवर्णी	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली	1970
15	जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (1-5)	दलसुख मालवणिया	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी	1993
16	जैन संस्कार विधि	नाथूलाल जैन शास्त्री	वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति, गोम्मटगिरि, इन्दौर	2000
17	जैन संस्कार विधि	पं. मनसुखलाल नेमचंद्र	निर्णयसागर प्रेस, मुंबई	1907
18	तत्त्वार्थराजवार्तिक (भा. 1-2)	प्रो.महेन्द्रकुमार जैन	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली	1993
19	धर्मशास्त्र का इतिहास (भा. 1-4)	डॉ.पांडुरंगवामन काणे	उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, महात्मा गाँधी मार्ग, लखनऊ	1992
20	धर्मामृत अनगार	पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली	1977
21	धर्मामृत सागार	पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री	भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली	1944
22	पारस्करगृह्यसूत्रम् (भाष्य चतुष्टय सह)	कर्क उपाध्याय, जयरामाचार्य,	मेडिकल हालाख्य यन्त्रालये, काशी	1952
23	पारस्करगृह्यसूत्र (भाष्य सहित)	हरिहर गदाधरकृत	चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस	1926
24	प्रश्नव्याकरणसूत्र (अंगसुत्ताणि)	आचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं	1989
25	बीस स्मृतियाँ(भा. 1-2)	पं.रामशर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब वेदनगर, बरेली	1993
26	बोधायनगृह्यसूत्र	बोधायन प्रणीत	गवर्मेन्ट ब्रांच प्रेस, मैसूर	1904
27	बोधायनधर्मसूत्रम् (विवरण वृत्ति सहित)	महर्षि बोधायन रचित वृत्ति-गोविन्दस्वामीकृत	विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली–94	1999
28	भगवतीसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1994

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
29	भगवतीसूत्र(अंगसुत्ताणि)	आ.महाप्रज्ञ	जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं	1983
30	मनुस्मृति(बीसस्मृतियाँ)	पं.रामशर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब वेदनगर, बरेली	1993
31	यजुर्वेद संहिता	अनु.आर.टी.एच. ग्रिफिथ	लाजरस, बनारस	1899
32	यज्ञोपवीत संस्कार	क्षुल्लक ज्ञानसागर	श्री गोपाल दि.जैन सिद्धांत विद्यालय मोरेना(ग्वालियर)	
33	यज्ञों एवं संस्कारों पर एक दृष्टिकोण	रा.राजमन	स्टार पब्लिकेशंस प्रा.लि. 4/5 बी आसफ अली रोड, नई दिल्ली	1991
34	याज्ञवल्क्यस्मृति	पं.श्रीरामशर्मा	संस्कृति संस्थान ख्वाजा कुतुब, वेदनगर, बरेली	1993
35	राजप्रश्नीयसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1991
36	विवाह	प्रो.प्रेमसुमन जैन	श्रीकुन्दकुन्द भारतीन्यास, 18बी नई दिल्ली	1999
37	विधिमार्गप्रपा	आचार्य जिनप्रभसूरि	प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर	2000
38	विधिमार्गप्रपा	अनु.सौम्यगुणाश्री	महावीरस्वामी जैन देरासर, पायधुनी, मुंबई	2005
39	वीरमित्रोदय संस्कार (भा. 1-2)	म. मित्रामिश्र	चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो, बनारस	1898
40	शुक्लयजुर्वेदिनामुपयन संस्कार	श्री रामदत्त विरचित	खेमराज श्री कृष्णदास वेंकटेश्वर, छापाखाना बम्बई	1816
41	षोडशसंस्कार (एक वैज्ञानिक विवेचन)	डॉ. बोधकुमार झा	हंसा प्रकाशन, 57 नाटाणी भवन चांदपोल बाजार, जयपुर	1997

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
42	षोडश संस्कार विधि	पं.भीमसेन शर्मा	मैनेजर ब्रह्मप्रेस, इटावा	1926
43	षोडश संस्कार विवेचन	पं. श्री रामशर्मा	अखण्डज्योति संस्थान, मथुरा	1995
44	सनातन षोडश संस्कार विधि	कृष्णानंद शास्त्री	भारतीय संस्कृत भवन, माई हीरा गेट, जालन्धर शहर	1999
45	संस्कार रत्नमाला	गोपीनाथभट्टी	चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो, बनारस	1898
46	संस्कार मयूखः	नीलकण्ठभट्ट प्रणीत संपा.पं.नरहरिशास्त्री	कृष्णदास अकादमी, पो.बा.नं. 1118, वाराणसी	1985
47	संस्कार अंक	कल्याण	गीताप्रेस, गोरखपुर	2006
48	संस्कृत हिन्दी कोश	वामनशिवरामऑप्टे	भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी	1999
49	श्राद्धसंस्कार कुमुदेन्दुः (पूर्वार्द्ध)	अमृतलाल अमरचंद	बंसीलाल कोचर, स्टेशन के सामने, हिंगटघाट	1954
50	श्रावकाचारसंग्रह	पं.हीरालाल जैन शास्त्री	जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर	1988
51	हरिवंशपुराण	अनु.डॉ.पन्नालाल जैन	भारतीय ज्ञानपीठ नईदिल्ली	1999
52	हरिवंशपुराण एक सांस्कृतिक अध्ययन	डॉ.राममूर्ति चौधरी	सुलभ प्रकाशन, 17 अशोक मार्ग, लखनऊ	1989
53	हिन्दूसंस्कार	डॉ.राजवली पाण्डेय	चौखम्भा विद्या भवन, पो.बा.नं.-1069, वाराणसी	1995
54	ज्ञाताधर्मकथा(अंगसुत्ताणि)	आ.महाप्रज्ञ	जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं	वि.सं. 2049
55	ज्ञाताधर्मकथासूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1981

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सज्जनमणि ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित साहित्य का संक्षिप्त सूची पत्र

क्र.	नाम	ले./संपा./अनु.	मूल्य
1.	सज्जन जिन वन्दन विधि	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
2.	सज्जन सद्ज्ञान प्रवेशिका	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
3.	सज्जन पूजामृत (पूजा संग्रह)	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
4.	सज्जन वंदनामृत (नवपद आराधना विधि)	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
5.	सज्जन अर्चनामृत (बीसस्थानक तप विधि)	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
6.	सज्जन आराधनामृत (नव्वाणु यात्रा विधि)	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
7.	सज्जन ज्ञान विधि	साध्वी प्रियदर्शनाश्री	सदुपयोग
		साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
8.	पंच प्रतिक्रमण सूत्र	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
9.	तप से सज्जन बने विचक्षण	साध्वी मणिप्रभाश्री	सदुपयोग
	(चातुर्मासिक पर्व एवं तप आराधना विधि)	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
10.	मणिमंथन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
11.	सज्जन सद्ज्ञान सुधा	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
12.	चौबीस तीर्थंकर चरित्र (अप्राप्य)	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
13.	सज्जन गीत गुंजन (अप्राप्य)	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
14.	दर्पण विशेषांक	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
15.	विधिमार्गप्रपा (सानुवाद)	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
16.	जैन विधि-विधानों के तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन का शोध प्रबन्ध सार	साध्वी सौम्यगुणाश्री	50.00
17.	जैन विधि विधान सम्बन्धी साहित्य का बृहद् इतिहास	साध्वी सौम्यगुणाश्री	200.00
18.	जैन गृहस्थ के सोलह संस्कारों का तुलनात्मक अध्ययन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
19.	जैन गृहस्थ के व्रतारोपण सम्बन्धी संस्कारों का प्रासंगिक अनुशीलन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
20.	जैन मुनि के व्रतारोपण सम्बन्धी विधि-विधानों की त्रैकालिक उपयोगिता, नव्ययुग के संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
21.	जैन मुनि की आचार संहिता का सर्वाङ्गीण अध्ययन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

22.	जैन मुनि की आहार संहिता का समीक्षात्मक अध्ययन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
23.	पदारोहण सम्बन्धी विधियों की मौलिकता, आधुनिक परिप्रेक्ष्य में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
24.	आगम अध्ययन की मौलिक विधि का शास्त्रीय अनुशीलन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
25.	तप साधना विधि का प्रासंगिक अनुशीलन, आगमों से अब तक	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
26.	प्रायश्चित्त विधि का शास्त्रीय पर्यवेक्षण व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
27.	षडावश्यक की उपादेयता, भौतिक एवं आध्यात्मिक संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
28.	प्रतिक्रमण, एक रहस्यमयी योग साधना	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
29.	पूजा विधि के रहस्यों की मूल्यवत्ता, मनोविज्ञान एवं अध्यात्म के संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
30.	प्रतिष्ठा विधि का मौलिक विवेचन आधुनिक संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	200.00
31.	मुद्रा योग एक अनुसंधान संस्कृति के आलोक में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	50.00
32.	नाट्य मुद्राओं का मनोवैज्ञानिक अनुशीलन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
33.	जैन मुद्रा योग की वैज्ञानिक एवं आधुनिक समीक्षा	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
34.	हिन्दू मुद्राओं की उपयोगिता, चिकित्सा एवं साधना के संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
35.	बौद्ध परम्परा में प्रचलित मुद्राओं का रहस्यात्मक परिशीलन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
36.	यौगिक मुद्राएँ, मानसिक शान्ति का एक सफल प्रयोग	साध्वी सौम्यगुणाश्री	50.00
37.	आधुनिक चिकित्सा में मुद्रा प्रयोग क्यों, कब और कैसे?	साध्वी सौम्यगुणाश्री	50.00
38.	सज्जन तप प्रवेशिका	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
39.	शंका नवि चित्त धरिए	साध्वी सौम्यगुणाश्री	50.00

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विधि संशोधिका का अणु परिचय

डॉ. साध्वी सौम्यगुणा श्रीजी (D.Lit.)

नाम	:	नारंगी उर्फ निशा
माता-पिता	:	विमलादेवी केसरीचंद छाजेड
जन्म	:	श्रावण वदि अष्टमी, सन् 1971 गढ़ सिवाना
दीक्षा	:	वैशाख सुदी छट्ठ, सन् 1983, गढ़ सिवाना
दीक्षा नाम	:	सौम्यगुणा श्री
गुरुवर्य्या	:	प्रवर्त्तिनी महोदया प. पू. सज्जन श्रीजी म. सा.
अध्ययन	:	जैन दर्शन में आचार्य, विधिमार्गप्रपा ग्रन्थ पर Ph.D. कल्पसूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र, नंदीसूत्र आदि आगम कंठस्थ, हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, गुजराती, राजस्थानी भाषाओं का सम्यक् ज्ञान।
रचित, अनुवादित एवं सम्पादित साहित्य	:	तीर्थंकर चरित्र, सद्ज्ञानसुधा, मणिमंथन, अनुवाद-विधिमार्गप्रपा, पर्युषण प्रवचन, तत्वज्ञान प्रवेशिका, सज्जन गीत गुंजन (भाग : १-२)
विचरण	:	राजस्थान, गुजरात, बंगाल, बिहार, मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश, कर्नाटक, तमिलनाडु, थलीप्रदेश, आंध्रप्रदेश, छत्तीसगढ़, झारखण्ड, महाराष्ट्र, मालवा, मेवाड़।
विशिष्टता	:	सौम्य स्वभावी, मितभाषी, कोकिल कंठी, सरस्वती की कृपापात्री, स्वाध्याय निमग्ना, गुरु निश्रारत।
तपाराधना	:	श्रेणीतप, मासक्षमण, चत्तारि अट्ठ दस दोय, ग्यारह, अट्ठाई बीसस्थानक, नवपद ओली, वर्धमान ओली, पखवासा, डेढ़ मासी, दो मासी आदि अनेक तप।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सज्जन चिंतन की सुनहरी बुंदें

- भारतीय संस्कृति में संस्कारों का महत्त्व क्या है ?
- संस्कार और संस्कृति में क्या संबंध है ?
- मानव विकास मे षोड़श संस्कारो की क्या भूमिका है ?
- आगम युग में संस्कारों का उल्लेख मिलता है या नहीं ?
- जैन परम्परा में सोलह संस्कारों का मौलिक स्वरूप क्या है ?
- गर्भाधान आदि संस्कारों में समाहित वैज्ञानिक रहस्य ?
- आध्यात्मिक उत्थान में संस्कार विधान किस प्रकार सहयोगी है ?
- वर्तमान जीवनशैली में संस्कार विधान प्रयोजनभूत है या नहीं ?
- मृत्यु का समावेश संस्कारों में क्यों ?

SAJJANMANI GRANTHMALA
Website : www.jainsajjanmani.com,E-mail : vidhiprabha@gmail.com

ISBN 978-81-910801-6-2 (II)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi